मैंने श्री राजनाथजी शर्मा लिखित साहित्यिक निबन्ध शीर्षक पुस्तक बड़ी रुचि के साथ पढ़ी। पुस्तक पाँच भागों में विभाजित है और उनमें एक क्रम और व्यवस्था के साथ हिन्दी साहित्य की प्रमुख समस्याओं जैसे लिपि परिवर्तन आदि और वादों का विवेचन हुआ है। लेखक ने अनावश्यक ब्यौरे में अपने को बचाकर आवश्यक बातों को ही लिया है और उनका वर्णन ढाँचा मात्र नहीं है वरन् विचार और विवेचन से मांसल है। पुस्तक में मूल तथ्यों को एक सुबोध और सरस शैली में समझाया गया है। आशा है कि विद्यार्थीगण इसकी सामग्री से पूरा-पूरा लाभ उठाकर अपने को साहित्य की गति-विधि से परिचित बना सकेंगे। यद्यपि लेखक ने इन निबन्धों में उपलब्ध ज्ञान का ही समावेश करने का प्रयत्न किया है तथापि किन्हीं विषयों पर उसके स्वयं के भी विचार हैं जो संयत और संतुलित हैं।

—**गुलाबराय** एम. ए.

साहित्यिक निबन्ध

[उच्चकोटि के ४१ निबन्ध]

लेखक—

श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पीटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण–१९५४
मूल्य ७॥)

मुद्रक—
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजफ्फरखाँ, आगरा।

जीवन सहचरी

राज को

जो विभिन्न कठिनाइयों और कष्टों में भी मुझे
आत्मिक बल और मानसिक दृढ़ता
देती रही है ।

आशीर्वचन

मेरे प्रिय शिष्य श्री राजनाथ जी शर्मा हिंदी साहित्य के एक उदीयमान लेखक हैं। उनके द्वारा लिखी हुई विद्यार्थियों के उपयोग की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साहित्यिक-निबन्ध', जिसमें उनके उच्चकोटि के ४१ निबन्धों का संग्रह है, अभी प्रकाशित हुआ है। मैंने इस पुस्तक का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है। इसमें संगृहीत सभी निबन्ध विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होते हैं। इन निबन्धों में मौलिक चिंतन के अतिरिक्त उच्चकोटि के विद्वान लेखकों के विचारों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है। ये निबन्ध लेखक की विस्तृत अध्ययन-शीलता तथा मनन-शीलता के पूर्ण परिचायक हैं। इनकी शैली सर्वत्र ही सरल, सुबोध, तथा स्पष्ट है। लेखक के सूक्ष्म विश्लेषण की शक्ति की झलक इसमें सर्वत्र ही दिखलाई देती है। मुझे आशा और विश्वास है कि ये निबन्ध हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे।

जगन्नाथ तिवारी
अध्यक्ष
हिन्दी-संस्कृत विभाग

आगरा कॉलेज
आगरा

को साधारण परीक्षाओं के योग्य सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत निबन्ध शुद्ध रूप से निबन्ध-लेखन के साथ ही साहित्यिक इतिहास, साहित्यालोचन, हिंदी भाषा आदि से सम्बन्धित विषयों के लिये भी विद्यार्थियों के सहायक हो सकते हैं, इस बात का लेखक को पूर्ण विश्वास है।

अब वर्तमान काल की 'धन्यवाद' वाली प्रथा का भी पालन कर लिया जाय। लेखक ने इन निबन्धों को लिखने में विभिन्न आलोचनात्मक ग्रन्थों, हिंदी साहित्य के इतिहासों, अनेक पत्र-पत्रिकाओं आदि से पूर्ण सहायता ली है। जिनकी सूची अत्यन्त लम्बी है। इनमें से लेखक विशेष रूप से 'आलोचना' (त्रैमासिक) का विशेष आभारी है। जिन लेखकों के ग्रन्थों एवं निबन्धों से सहायता ली गई है उनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। लेखक उन सबका हृदय से आभारी है क्योंकि उनके पथ-प्रदर्शन के बिना इस कार्य का पूरा होना सर्वथा असम्भव था। साथ ही लेखक आदरणीय डा० रामविलास शर्मा एवं डा० रांगेय राघव का अत्यन्त कृतज्ञ है जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें एवं उचित परामर्श देकर उसके पथ को प्रशस्त बनाया है। इसके अतिरिक्त लेखक अपने मित्र राजेन्द्र यादव एवं रामवाशिष्ठ का विशेष रूप से आभारी है जिन्होंने विषयों के चुनाव एवं विवेचन में अपना हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। परंतु इनका आभार मानना इनकी आत्मीयता का अपमान करना है क्योंकि ये मेरे अपने हैं। इनके अतिरिक्त समय-असमय पुस्तकें देने की सुविधा के लिए लेखक नागरी प्रचारिणी सभा के सर्वश्री तोताराम एवं मोतीलाल का भी आभारी है।

गुरुवर श्रद्धेय पण्डित जगन्नाथ तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग, आगरा कालेज, आगरा का लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ को देखकर आशीर्वचन लिखने का कष्ट किया है। उनका यही आशीर्वाद लेखक के भावी मार्ग को प्रशस्त करने में दैवी वरदान सिद्ध होगा—इसका लेखक को पूर्ण विश्वास है।

अन्त में लेखक अपने पाठकों से यही आशा करता है कि वे अपने अमूल्य सुझाव देकर उसकी त्रुटियों को प्रकाश में लाएँ। नवीन सुझावों का स्वागत कर द्वितीय संस्करण में उनका उपयोग किया जायगा।

नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा। — राजनाथ

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिन्दी भाषा और लिपि

हिन्दी साहित्य के विविधवाद

साहित्यालोचन

विविध

हिन्दी साहित्य का इतिहास

१—आदिकाल या वीरगाथा काल

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सर्वसम्मत चारों कालों में से आदिकाल या वीरगाथाकाल सदैव से विवाद-ग्रस्त विषय रहा है। सर्व प्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल की रचनाओं में वीर रस की प्रधानता देखकर इसे वीरगाथा काल की संज्ञा से अभिहित किया। आपके अनुसार इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश भाषा की केवल चार साहित्यिक पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—१ विजयपाल रासो, २-हम्मीर रासो, ३-कीर्त्तिलता, ४-कीर्त्ति पताका। देशभाषा काव्य की आठ साहित्यिक पुस्तकें हैं—१—खुमान रासो, २—बीसलदेव रासो, ३—पृथ्वीराज रासो, ४—जयचन्द-प्रकाश, ५—जयमयंक-जस-चन्द्रिका, ६—परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), ७—खुसरो की पहेलियाँ, ८—विद्यापति पदावली। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"इन्हीं बारहों पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा-काल ही रखा जा सकता है।" आपके अनुसार इस कालकी सीमा परिधि सम्वत् १०५० से १३७५ तक मानी गई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस काल को वीरगाथा काल न मानकर 'आदिकाल' की संज्ञा देते हैं। उनके मतानुसार—"इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परन्तु इस काल में सिद्ध साहित्य और जैन साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसलिए इसे केवल वीरगाथा काल नहीं माना जा सकता। द्विवेदीजी अपने उक्त नामकरण के विषय में स्वयं पूर्णतः आश्वस्त नहीं हैं। वे इसीलिए इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं-"वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।""यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।"

आचार्य शुक्ल ने प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर ही हिंदी साहित्य का काल-विभाजन किया है। किसी भी साहित्य के इतिहास को 'आदिकाल' मात्र कह देने से उस काल विशेष की प्रवृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसी तथ्य को सम्मुख रख आचार्य शुक्ल ने ग्यारहवीं शताब्दीके मध्य से ही हिंदी साहित्य का प्रारम्भ माना है और उसमें अपभ्रंश के ग्रन्थों का पृथक उल्लेख कर केवल देशभाषा के ग्रन्थों के आधार पर प्रमुख प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए इसका नाम वीरगाथा काल रखा है।

कुछ विद्वान हिंदी साहित्य की परम्परा को खींचकर आठवीं शताब्दी तक ले जाते है। इसका आधार पुष्य नामक एक कवि का उल्लेख है जो सम्वत् ७७० के लगभग साहित्य रच रहा था। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इसी आधार पर हिंदी साहित्य के प्रारम्भिक काल को सम्वत् ७५० से १२०० तक मानकर इसके दो खण्ड कर दिए हैं—सन्धिकाल और चारण काल। राहुल जी ने भी इस काल का समय तो यही माना है परन्तु नाम 'सिद्ध सामन्त युग' रखा है। उनके मतानुसार आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये जाते हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। डाक्टर रामकुमार वर्मा और राहुलजी के नाम करण में विशेष अन्तर नहीं है। डाक्टर वर्मा का संधिकाल और चारणकाल क्रमशः राहुलजी के सिद्ध काव्य और सामंत काव्य का ही दूसरा नाम है। आचार्य शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित है—"आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृङ्गार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृङ्गार आदि के फुटकर दोहे राज सभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा रासो के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।"

उपर्युक्त विवाद के मूल में कुछ विद्वानों की वह भावना कार्य कर रही है जिसके कारण वे हिंदी साहित्य की प्राचीनता को अधिकाधिक पीछे ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ इतिहासकार गुरु गोरखनाथ (९ वीं शताब्दी) को तथा कुछ पुष्य कवि (८ वीं शताब्दी) को हिंदी का

आदि कवि मानने का आग्रह कर रहे हैं। इसी प्रवृत्ति से सिद्ध-साहित्य को भी हिंदी साहित्य के अन्तर्गत मानकर उसका इतिहास चौथी शताब्दी तक भी ले जाने का प्रयास हो रहा है। अपभ्रंश के जैन साहित्य के प्रति भी यही आग्रह है। परन्तु सिद्ध-साहित्य के समान अपभ्रंश का जैन-साहित्य भी धार्मिक साहित्य है। उसे भी हिंदी साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर आदिकाल के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ-साहित्य, जैन साहित्य तथा चारण साहित्य का उल्लेख किया जाता है तथा इस काल की भाषा को अपभ्रंश, अपभ्रंश का अन्तिम रूप, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का मिश्रित रूप तथा पुरानी हिंदी आदि अनेक कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण साहित्य को एक ही काल में सम्मिलित करना न तो उचित ही है और न सम्भव। निश्चय ही अपभ्रंश और हिंदी के बीच का कोई संक्रमण काल होना चाहिए और उस संक्रमण काल के पूर्व का साहित्य हिंदी साहित्य के इतिहास के बाहर समझा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इसी कारण अपभ्रंश काल को आदिकाल से पृथक मानकर उसका संक्षिप्त उल्लेख करते हुए केवल देशभाषा काव्य को ही प्रमुखता दी है। अपभ्रंश साहित्य से हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ है। इसी कारण मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य शुक्ल आदि सभी विद्वानों ने अपभ्रंश काव्य का उल्लेख किया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहते हैं। "यदि साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से विचार किया जाय तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्य रूपों की परंपरा प्रायः हिंदी में ही सुरक्षित है।"[1] अस्तु,

काल के नामकरण के उपरान्त इस काल की प्राप्य साहित्यिक सामग्री का विश्लेषण सर्वप्रथम अपेक्षित है क्योंकि, तद्विषयक आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं और सामग्री का खण्डन हो चुका है। आचार्य शुक्ल ने, जैसा कि हम पहले बता आए हैं, कुल १२ ग्रन्थों के आधार पर ही इस कालका विवेचन किया है। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी रचना संक्रमण काल में हुई थी और जिन्हें साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। अब्दुर्रहमान का 'संदेश रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। राहुल जी स्वयंभू कवि की रामायण को 'हिंदी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य' मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने कुछ जैन ग्रन्थों को भी इसी काल के अन्तर्गत माना है। परंतु शुक्लजी उनमें से बहुत सी पुस्तकों को विवेचन योग्य नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में उनमें से कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ जैन धर्म के उपदेशों से सम्बन्ध रखती हैं। परंतु नवीनतम

शोधों से ज्ञात हुआ है कि शुक्लजी द्वारा वर्णित उक्त बारह ग्रन्थों में से कई पीछे की रचनाएँ हैं, कई के मूल रूप का ही निश्चय नहीं है और कई नोटिस मात्र हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि जैन धर्म भावना से प्रेरित कई रचनाएँ इतनी सरस हैं कि वे हम्मीररासो और विजयपालरासो के समान इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती है। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश, यदि उनमें सरसता है तो, काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझे जाने चाहिए। इसलिए स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे जैन कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इन्हें धार्मिक मानकर इनकी अवहेलना की है। यदि धार्मिक दृष्टिकोण को हम काव्य के लिए बाधक समझलें तो द्विवेदीजी के कथनानुसार हमें रामचरितमानस, पद्मावत सहित संपूर्ण भक्ति साहित्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।

आदिकाल में राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते समय उसमें धार्मिक पुट भी दिया है। चंद ने इसी कारण अपने ग्रन्थ में दशावतार चरित का वर्णन किया है। कीर्त्तिलता के कवि से भी इसका मोह नहीं छूट सका। उस युग में जन-साहित्य की अपेक्षा धार्मिक-साहित्य का संरक्षण अधिक सावधानी से किया गया था इससे उसकी मात्रा अधिक है। प्रायः इन धर्म ग्रन्थों के आवरण में सुंदर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्य रूपों और काव्य विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। अतः आदि काल की सामग्री में इन पुस्तकों की गणना अवश्य होनी चाहिए।

अब शुक्लजी द्वारा विवेचित बारह रचनाओं की प्रामाणिकता की विवेचना कर लेना भी अत्यन्त आवश्यक हो उठा है क्योंकि इनमें से अनेक अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। दलपति विजय के 'खुमान रासो' में प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने अनुमान कर लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।" इधर अगरचंद नाहटा ने दलपति को परवर्ती कवि सिद्ध कर दिया है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि "हिंदी के विद्वानों ने इसका (दलपति) मेवाड़ के राव खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सम्वत् १७३० और १७६० के मध्य में है।" इस प्रकार खुमान रासो अठारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ प्रमाणित होता है। नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के विषय में भी इसी प्रकार का सन्देह प्रकट किया गया है। मेनारियाजी ने नाल्ह

को १६ वीं शताब्दी का नरपति कवि माना है। शुक्लजी को भी यह ग्रन्थ अधिक ग्रहणीय नहीं प्रतीत हुआ था। शार्ङ्गधर के 'हम्मीर रासो' को भी उनकी कृति नहीं माना जाता। 'प्राकृत-पैंगलम्' के शुक्लजी को कई ऐसे पद मिले जिन्हें उन्होंने 'हम्मीर रासो' के पद मान लिया। क्यों और कैसे माना इसका उन्होंने कोई कारण नहीं बताया। परंतु राहुलजी ने उन्हीं पदों को 'जज्जल' कवि प्रणीत माना है। कुछ पदों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है। द्विवेदीजी इस ग्रन्थ को नोटिस मात्र मानते हैं।

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट कृत 'जयचंद प्रकाश' और 'जय मयंक-जस-चंद्रिका' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ा री ख्यात' में मिलता है। अतः ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी मूल रूप में अप्राप्य है। चंद का पृथ्वीराज रासो भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है। इससे प्रमाणित होता है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया था उनमें से कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या प्राचीन रचनाओं के विकृत रूप मात्र हैं। इन पुस्तकों को ग़लती से प्राचीन मान लिया गया है। मेनारियाजी का मत है कि—"ये रासो ग्रंथ जिनको वीरगाथा नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा कालकी कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण,भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजाति मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रंथ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।"

समष्टिरूप से इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। १—जैन संग्रहालयों में सुरक्षित, जैनधर्म से प्रभावित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ। इनमें हेमचंद्र का व्याकरण, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिंतामणि, राजशेखर के प्रबंध कोश में संग्रहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का सदेश रासक और लक्ष्मीधर के प्राकृत-पैंगलम् में उद्धृत लोक भाषा के छंद आदि गिने जाते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन्हें प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं। २—लोक परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूलरूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ। इनमें पृथ्वीराज रासो और, परमाल रासो आदि रचनाएँ हैं जिनके मूल रूप अत्यंत परिवर्तित और विकृत हो गए हैं। इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। लोकभाषा में लिखी गई वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंध काव्य के

रूप में और वीर गीतों के रूप में जिनके उदाहरण क्रमशः पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो है।

हमारे आलोच्य काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित थीं। (१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रह कर, (२) सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदायों का आश्रय पाकर और मठों और विहारों आदि के पुस्तकालयों में संग्रहीत होकर, (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। देश भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रहीं जो धार्मिक नहीं थीं। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर सुरक्षित रह गईं। इसके अतिरिक्त सिद्धों और योगियों के साहित्य का परिचय परवर्ती काव्यों में केवल उल्लेख के रूप में प्राप्त होता है। इसके दो रूप है—१—सूफी, कवियों की कथाओं में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में, २—सगुण और निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में और खंडनों और प्रत्याख्यानों के रूप में। इसी कारण आदि कालीन साहित्य विशेष सुरक्षित दशा में उपलब्ध नहीं है। "जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ ग्रन्थों की भाषा इतनी परिवर्तित हो गई है कि उनके विषय में कुछ भी कहना अनुचित मालूम पड़ता है।" (हजारी प्रसाद द्विवेदी)

यहाँ तक हम आदि काल के नामकरण, सीमा-परिधि एवं ग्रन्थों का विवेचन कर चुके। अब तत्कालीन परिस्थितियों एवं विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है। तत्कालीन परिस्थितियाँ उस काल की रचनाओं की संदिग्धता के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। मूल मध्य देश में चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की एक भी प्रामाणिक रचना नहीं प्राप्त हो सकी है। राजपूताने के 'ढोला मारू दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। मूल मध्यदेश में प्रामाणिक रचनाओं के अभाव का क्या कारण रहा है, इस पर विचार करना है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल भारतवर्ष के इतिहास में वह काल था जब उत्तर भारत पर निरन्तर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। इनका वेग पश्चिमी भारत को ही विशेष रूप से सहना पड़ा जो उस समय भारतीय सभ्यता का केन्द्र था। दिल्ली, कन्नौज, अन्हलवाड़ और अजमेर जैसी प्रसिद्ध राजधानियाँ इसी क्षेत्र में अवस्थित थीं। यहाँ की भाषा ही शिष्ट भाषा समझी जाती थी। अतः वही काव्य की भाषा थी। सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत भारत की, विशेष कर उत्तर भारत की, केन्द्रीय राजशक्ति छिन्न भिन्न

हो चुकी थी। खण्ड राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे। इधर पारस्परिक युद्धों और उधर मुसलमानों के आक्रमणों ने देश के इस भाग में अराजक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ऐसे वातावरण में लोक भाषा में प्रणीत हिंदी साहित्य का जन्म हुआ। धार्मिक समुदायों को छोड़ कर जनसाधारण एवं राजाओं का ध्यान इसी आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष में डूब गया। इस युद्ध के वातावरण में कवियों का ध्यान अन्य प्रकार की कविताओं से हटकर वीरगाथाओं की ओर गया। इस घोर अशान्ति के युग में वीर रस पूर्ण रचनाओं के होने की ही सम्भावना अधिक थी। इसलिए इस काल में साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति असम्भव थी। इसके अतिरिक्त रजवाड़ों के शक्तिहीन एवं नष्ट भ्रष्ट हो के कारण साहित्य का संरक्षण भी नहीं हो सका। दूसरे, मुसलमान आक्रांताओं ने अनेक प्रसिद्ध पुस्तकालयों को जलाकर लोकसाहित्य का जो अहित किया उससे भी हमें तत्कालीन बहुमूल्य साहित्य से हाथ धोना पड़ा।

राजनीतिक संघर्ष के इस काल में सामाजिक परिस्थिति भी अत्यंत शोचनीय हो गई थी। गृह कलह ने थोथे शौर्य की भावना उत्पन्न कर पारस्परिक अकारण युद्धों और स्वयम्वरों में उसका प्रदर्शन कराया। "साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के बीज बोए जिनका कटु फल देश तथा जाति को चिरकाल तक भोगना पड़ा।" (श्यामसुन्दरदास) ऐसे हलचल के युग में लोक भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। वह लोक मुख में ही युगानुरूप अपने स्वरूप में परिवर्तन करता हुआ जीवित रहा। बौद्ध और जैन रचनाएँ तो धर्म का सहारा पाकर सुरक्षित रह गईं परन्तु लोक भाषा की रचनाएँ बनती गईं और परवर्ती काल में परिवर्द्धित और विस्तृत होती गईं। उनका मूल रूप लुप्त हो गया।

उपर्युक्त परिस्थियों से उद्भूत एवं विकसित इस आदिकालीन साहित्य की अपनी विशेषताएं हैं जिनमें प्रधान रूप से चार प्रमुख हैं। १—प्रथम विशेषता आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव है। इस काल के कवि की वाणी अपने-अपने आश्रयदाता के अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन में कभी कुंठित नहीं हुई। देश की स्थिति और भविष्य के प्रति वह पूर्णरूप से अन्धा था। इसलिए उस काल में व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव रहा। २—दूसरी विशेषता युद्धों के सजीव एवं सुन्दर वर्णनों की है। इनका युद्ध वर्णन अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। कर्कश पदावली में युद्ध के वीर रस पूर्ण भावों से ओत-प्रोत हिन्दी के आदियुग की यह कविता हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

उनकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झनकार स्पष्ट सुन पड़ती है। हिन्दी के परवर्ती साहित्य में फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं हुए। ३—तीसरी विशेषता वीर रस के साथ शृंगार का सम्मिश्रण है। तत्कालीन युद्धों के मूल में, कवियों ने सदैव किसी रमणी की कल्पना कर अपने आश्रयदाता के शौर्य का वर्णन किया है। अतः युद्ध वर्णन के साथ-साथ उनका रूप वर्णन भी आवश्यक था। इसीलिए शृङ्गार और वीर रस का मिश्रण हुआ। इसके अतिरिक्त शान्ति के समय में वीरों के विलास प्रदर्शन में भी शृङ्गार का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। ४—चौथी विशेषता ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का बाहुल्य होना है। अपने आश्रय दाताओं की प्रशंसा करने में इन कवियों ने इतिहास की अधिकाँशतः अवहेलना की है। उन्होंने उनका शौर्य प्रदर्शित करने के लिए ऐसे ऐतिहासिक पुरुषों से उनका युद्ध कराया है जो समकालीन नहीं थे। इससे अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप हो गया। भाषा की दृष्टि से आदिकाल में चार भाषाओं की रचनाएं मिलतीं हैं—अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली। अपभ्रंश का सब से प्राचीन रूप ताँत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं के रूप में प्राप्त होता है। जैनाचार्य मेरुतुंग, सोमप्रभु सूरि आदि के भी कुछ ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे हुए मिलते हैं जो बौद्ध ग्रन्थों से उच्चकोटि के हैं। नाथपंथियों ने अपने मत के प्रचार के लिए राजपूताना तथा पंजाब की प्रचलित भाषा में ग्रन्थ लिखे। इनकी भाषा में अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का मिश्रण है। विद्यापति ने भी अपभ्रंश में दो ग्रन्थों का निर्माण किया। यह अपभ्रंश उस समय की कवियों की भाषा थी। इन कवियों ने काव्य परम्परानुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं साथ ही विभक्तियाँ, कारक चिह्न और क्रियाओं के रूप भी कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। सिद्धों के ग्रन्थों में देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश का रूप मिलता है। उसमें कुछ पूर्वी प्रयोग भी हैं। पुरानी हिंदी की व्यापक काव्य भाषा का ढांचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली का था। भाषा की दृष्टि से जैन साहित्य में नागर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है। इसमें चरित्र रास, चतुष्पदी, ढाल, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग अधिक मिलता है।

दूसरी महत्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। इसके ग्रंथों का उल्लेख, जो प्रायः सभी 'रासो' हैं, पहले हो चुका है। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य बड़ा अव्यवस्थित है। उसका शुद्ध रूप नहीं मिलता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारों की भरमार है। दस प्रतिशत अरबी फारसी के प्रयुक्त शब्दों पर डिंगल

की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारों की प्रचुरता भाषा की कृत्रिमता की द्योतक है।

तीसरी भाषा मैथिली है। मैथिली बिहार की बोली होने पर भी हिन्दी की विभाषा मानी जाती हैं। इसी कारण भाषा में लिखी गई विद्यापति की पदावली हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि मान ली गई है। मैथिली और अवधी पड़ोसी बोलियाँ हैं। उनके प्रारम्भिक स्वरूप में कोई भेद न था। चौथी भाषा, खड़ीबोली, अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलती है। तत्कालीन जनभाषा के वास्तविक रूप का दर्शन खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में मिलता है। यह दिल्ली और मेरठ की भाषा थी। इसमें खड़ी बोली के पूर्व रूप के दर्शन होते है। भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है परन्तु क्रियायें हिदी की ही है।

छन्दों के क्षेत्र में जिस प्रकार श्लोक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का प्रतीक था उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का प्रतीक है। तुक का मिलान अपभ्रंश की विशेषता है। दोहे में प्रथम बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। विशेषतः मुक्तक काव्य में इसका विशेष प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के काव्य अनेक सन्धियों (सर्गों) में विभक्त है। एक सन्धि में अनेक कड़क होते हैं। पद्धटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में घत्ता या अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इसका विच्छेद किया जाता है। चौपाई और दोहों द्वारा कड़कों की रचना सिद्ध साहित्य की देन है। आरम्भ में चौपाई कथानक छन्द था। अनेक दोहों को लिखकर चौपाई द्वारा कथा की योजना ढोला-मारू के दोहों में मिलती है। धीरे धीरे अपभ्रंश में अनेक नवे-नवे छन्दों का प्रयोग होने लगा। चन्द बरदाई छप्पय के प्रयोग में सिद्धहस्त है। दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी उसने सुंदर प्रयोग किया है। उसने 'साटक' या शार्दूल विक्रीड़ित और गाहा (गाथा) छंदों में भी कुछ रचना की है।

रसों में वीर रस का प्राधान्य है। वीर के साथ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग शृङ्गार और वियोग शृङ्गार अपनाए गए है। युद्ध वर्णन में अद्भुत, रौद्र और बीभत्स रसों का चित्रण है। नारियों के विलाप में करुण रस है। इस प्रकार शांत और हास्य रसों को छोड़ कर शेष सभी रसों का परिपाक इस काव्य में मिलता है।

इस काल में प्रधानता पद्य की ही थी। गद्य के दर्शन गोरखनाथ की कुछ पुस्तकों, तत्कालीन राजाओं के पत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि में होते हैं। गद्य का यह रूप अत्यन्त अव्यवस्थित है। आदिकाल भाषा का संक्रांति काल

था। अपभ्रंश से विकसित होकर हिंदी अपना रूप सुधार रही थी। व्याकरण और पिंगल शास्त्र का भी बंधन नहीं था। भाषा में मनमानी चल रही थी। छन्दों में एक प्रकार का बंधन हीन मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अन्त्यानुप्रास का ही प्रतिबंध है और न संस्कृत के वर्ण वृत्तों की सी कठोरता।

इस काल की अधिकाँश सामग्री संदिग्ध है। ग्रंथों की प्रतियाँ अप्राप्य हैं। इस काल के लोक भाषा के ग्रन्थ या तो मौखिक रूप में मिलते हैं या केवल उनके निर्देश मात्र ही प्राप्त हुए हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। प्राप्य ग्रन्थ भी मूल रूप में नहीं मिलते। उनमें प्रक्षिप्त अंशों का बाहुल्य हो गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"इन ग्रंथों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग-निर्देश किया। यदि ये साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से नहीं तो भाषा विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं।" अभी इस काल के साहित्य की काफी छानबीन की जा रही है। परन्तु परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका कारण यह है कि पुरानी हिंदी का शोध कार्य प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश में हुआ है परन्तु उसका साहित्य अधिकतर राजपूताने का मिलता है। इसलिये इस शोध कार्य का केन्द्र राजपूताना होना चाहिए। राजपूताना के राजकीय पुस्तकालयों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भरे पड़े हैं जिनसे इस काल पर काफी प्रकाश पड़ सकता है।

विभिन्न विश्व-विद्यालयों में इस विषय का अनुसन्धान कई रूपों में हुआ है। डाक्टर रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा उनका हिंदी पर प्रभाव' शीर्षक प्रबन्ध प्रथम प्रयास है। दिल्ली विश्व-विद्यालय से डाक्टर हरिवंश का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध इस दिशा में दूसरा कदम है। 'सिद्ध साहित्य' पर डाक्टर धर्मवीर भारती का प्रबंध भी महत्वपूर्ण है। लखनऊ विश्वविद्यालय से डाक्टर उमेशचन्द्र त्रिपाठी ने 'वीर गाथा काल में ऐतिहासिक तथ्य' नामक प्रबन्ध लिखकर संदिग्ध ग्रन्थों पर अच्छा प्रकाश डाला है। वहीं से 'पृथ्वीराज रासो' पर भी अनुसन्धान कार्य हुआ है। गोरखनाथ पर डाक्टर रांगेय राघव ने प्रबन्ध लिख कर भारतीय मध्य युग के सन्धिकाल को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अभी तक विद्वानों का इस काल विषयक शोधकार्य जारी है।

२—भक्तिकाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्तिकाल का समय सम्वत १३७५ से १७०० तक मानते हैं। साहित्य के किसी भी काल के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उस काल में निर्मित साहित्य की पूर्व परम्पराओं, तत्कालीन परिस्थितियों, प्रचलित प्रमुख धाराओं और उस काल के साहित्य का परवर्ती काल के साहित्य पर प्रभाव आदि बातों का विवेचन किया जाय। अनेक विद्वान हिंदी साहित्य के भक्तिकाल को उसका स्वर्णयुग मानते हैं। इसलिए उसका महत्व निर्विवाद और अक्षुण्ण है। इस काल के साहित्य में भक्तों -निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों, रहस्यवादियों, यथार्थवादियों, आदर्शवादियों, प्रगतिवादियों आदि सभी विचारधारा के समर्थकों को अपने-अपने मतलब की सामग्री यथेष्ट रूप में मिल जाती है। इसी कारण सभी इस युग की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। यही इस युग का सबसे बड़ा आकर्षण है। अतः इसके विवेचन के लिए सर्व प्रथम तत्कालीन परिस्थितियों एवं पूर्व परम्पराओं का विवेचन आवश्यक है।

तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है। भक्तिकाल के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकीं थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के उपरान्त वीर गाथा कालीन भावना लुप्त हो गई और विधर्मियों के अत्याचार बढ़ने लगे। कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। काव्य को राजदरबार से हट कर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ और आश्रयदाताओं के गुणगान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान के कीर्त्तिगान से ध्वनित हो उठा। भारत की आध्यात्मक कविता की धारा, जो कुछ समय से दबी हुई थी, शाँत वातावरण पाकर पुनः उभर आई। भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्य चकित हो ग्रियर्सन ने लिखा था कि—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। इस युग में 'धर्म' ज्ञान का ही नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त प्राचीन धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।" यूरोपिय विद्वान् प्रत्येक नई और अच्छी बात का सम्बन्ध सदैव से यूरोप से जोड़ते चले आए हैं। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए ग्रियर्सन ने भी भक्ति की इस नवीन (!) धारा को

ईसाइयत की देन माना। इस धारणा के मूल में उनका भारतीय परम्परा और संस्कृति का अपूर्ण अध्ययन, पक्षपात और भ्रांत धारणा ही कार्य कर रही थी। इस कथन का अब सर्वथा खण्डन कर भारतीय विद्वानों ने भक्ति का सम्बन्ध एक ऐसी परम्परा से सिद्ध कर दिया है जो शताब्दियों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी।

भक्तिकाल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिंदुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिंदू निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार है क्योंकि जब उत्तर भारत में धार्मिक अत्याचार होरहे थे उस समय निरापद एवं शांत दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अत्यन्त क्षीण था। यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्रों वर्षों से मेघखण्ड एकत्रित हो रहे थे। दक्षिण में वैष्णव भक्ति पनप रही थी। आलवार भक्त इसके पुरस्कर्त्ता कहे जाते हैं। आगे चलकर उन्हीं लोगों की परम्परा में श्री रामानुजाचार्य हुए थे जिन्हें भक्ति भावना को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है। उधर उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का प्रसार किया जारहा था। यहाँ की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी। साधारण जनता स्मृति मतावलम्बी थी। नाथ पंथियों का शैव मत भी पर्याप्त प्रभावशाली था। परंतु इस नवीन भक्तिधारा एवं पूर्ववर्ती भक्तिधारा में अन्तर था। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में भी परिवर्तन हो चुका था। पूर्व विश्वास के अनुसार भगवान साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि—"भगवान के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एकांतिक भक्ति ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है। मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकांतिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है।"

प्रसिद्ध विद्वान डा० रांगेय राघव भक्ति की उक्त परम्परा का संक्षेप में निरूपण करते हुए बताते हैं कि न तो भक्ति का उद्भव राजनीतिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था और न किसी विदेशी प्रभाव के कारण। हिंदी साहित्य के भक्तिकाल से पहले से यह धारा चली आ रही थी। आपके शब्दों

में—"भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिंदू उस समय नहीं थे, उस समय थे—निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अडयार और आलवारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में सम्बल पाता रहा, फिर भागवत सम्प्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानान्तर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-सम्प्रदाय उच्च वर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचार का ही परिणाम थी। इसका विकास स्वाभाविक था। परन्तु वीरगाथा काल या आदिकाल में इस विकास की धारा अत्यन्त क्षीण, अस्पष्ट और लुप्त प्रायः रही। साहित्य के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष लगाव नहीं था। भक्तिकाल में आकर यह इतने प्रबल वेग से क्यों प्रवाहित हो उठी? इसका उत्तर तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है। भक्ति के इस विकास में विभिन्न परिस्थितियों का प्रधान भाग रहा है।

सामाजिक क्षेत्र में दो संस्कृतियों एवं विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष हो रहा था। हिन्दू संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीन परम्परा का दम्भ लिए अपने अस्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न कर रही थी और नवीन धार्मिक उन्माद से ओतप्रोत मुस्लिम संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी। इससे हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर घृणाभाव बढ़ रहा था। रक्षा की भावना ने हिंदुओं के सामाजिक बंधन दृढ़ कर दिए। इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई। प्रतिभाशाली कवियों को यह संकीर्णता अखरी। उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करना चाहा। इसी के लिए कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया। इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। बौद्धधर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हुआ था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ सङ्कीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, उसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर कर समताकी दृष्टि दी। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ। सन्तों के इस प्रयत्न में

सूफियों ने भी पूर्ण योग दिया। उन दोनों ने मिलकर हिंदू मुस्लिम संस्कृति एवं धार्मिक भावना में समन्वय लाने का प्रयत्न किया। इनके इस नवीन एवं सराहनीय प्रयास के कारण हिंदू मुस्लिम विचारधाराओं के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसीप्रणाली उत्पन्न हुई जिस पर अनेक प्राचीन एवं नवीन धार्मिक मत-मतान्तरों, वादों और विचारधाराओं का प्रभाव था। हिंदी साहित्य के इस जागरण काल के कबीर अग्रदूत थे।

धार्मिक क्षेत्र में हिंदू धर्म एवं संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। मूर्ति पूजकों और मूर्ति भंजकों के संघर्ष में मूर्ति भंजक विजयी हो रहे थे। हिंदू निराश होकर निराकार की उपासना में लगे परन्तु इस उपासना में उन्हें पूर्ण तन्मयता न मिल सकी और न रक्षा ही हुई। अन्त में रामानन्द ने लोक-रक्षक राम की प्रतिष्ठा की, जिसके दो रूप हुए—कबीर के निराकार राम एवं तुलसी के साकार राम। परन्तु भक्ति के मूल में हिन्दुओं की इस निराशावस्था का हाथ कम ही रहा। इसने भक्ति के विकसित रूप में थोड़ा सा परिवर्तन मात्र किया था। वैसे इस क्षेत्र में दक्षिण की भक्ति-भावना का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। दक्षिणी दार्शनिक विद्वान वहाँ के शान्तपूर्ण वातावरण में रह कर आध्यात्मिक तत्वों के चिंतन में रत रहे। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य- मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य प्रभृति दार्शनिकों ने परमात्मा की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। रामानुजाचार्य इन्हीं भावनाओं को लेकर उत्तर भारत में प्रचारार्थ आए। उनके इष्ट राम थे। रामानुज के शिष्य रामानन्द ने काशी में राम भक्ति का प्रचार कर भक्ति को जन साधारण के लिए सुलभ बना दिया। दूसरी ओर चैतन्य महाप्रभु ने बङ्गाल में तथा वल्लभ स्वामी ने ब्रज में कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहणकर कृष्ण भक्ति और राम भक्ति की अक्षय धारा प्रवाहित की जो आज तक चली आ रही है। दक्षिण भारत की इस धारा को सगुण भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त है।

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्रभाव के परिणाम स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हुई। हिंदी साहित्य के आदिकाल में समाज पर सिद्धों और नाथपंथियों का बहुत प्रभाव था। दोनों ही सम्प्रदायों के मुखिया और अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अयाक्षज्ञ प्राणी थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातों द्वारा जनता पर अपना प्रभाव जमाते थे। साथ ही जाति-पाँति तथा वेदाध्ययन आदि को व्यर्थ बताकर हिन्दू समाज

के उपेक्षित अङ्ग—अछूत वर्ग—के मन में उच्चवर्ग के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना भर रहे थे। परन्तु इस पन्थ की सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि भक्ति भावना के लिए यह हृदय पक्ष शून्य था। इस रसहीनता के कारण सन्त और सूफी इसे पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस प्रभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने की। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपना 'निर्गुण पंथ' चलाकर नाथों से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्ति से शून्य जनता का उद्धार किया। सूफी सन्तों पर भी उपर्युक्त प्रभाव पड़े। जायसी के 'पद्मावत' में उनका सुन्दर निरूपण हुआ है। कबीर आदि ने वाह्य धर्माचारों के आडम्बरपूर्ण आचारों का खण्डन करने के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम भावना को लेकर एक नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया जिसमें साकारोपासना और निराकारोपासना दोनों ही के तत्व विद्यमान थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। अनुकूल अवसर पाकर वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर फलवती बनी। संक्षेप में, दक्षिण की भक्तिधारा ने, जिसका आधार शास्त्रीय विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का बीजारोपण किया। इसके दो प्रमुख भेद हुए—कृष्ण भक्ति धारा और राम भक्ति धारा। बौद्धमत के ध्वंशावशेषों—सिद्धों एवं नाथों—के प्रभाव से एवं उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप निर्गुण धारा का प्रारम्भ हुआ जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक बातों का अद्भुत मिश्रण हुआ। निर्गुण धारा को हम एक प्रकार से विभिन्न विचार धाराओं की एक अद्भुत खिचड़ी भी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुए—ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेम मार्गी शाखा। यहाँ तक हम परिस्थितियों के आधार पर उपर्युक्त प्रमुख धाराओं का विश्लेषण कर यह देख चुके कि वे परिस्थितियों के पूर्ण रूपेण अनुकूल थीं। अब भक्तिकाल की इन विभिन्न धाराओं का विवेचन अपेक्षित है।

भक्तिकाल में भगवान के रूप और गुण की विशिष्टता पर भक्ति भावना का रूप स्थिर किया गया था। इसी रूप गुण के आधार पर इसके निर्गुण और सगुण दो भेद हुए। सगुण धारा के स्वरूप निरूपण एवं भेदों के विषय में सब विद्वान सहमत हैं परन्तु निर्गुण धाराओं का वर्गीकरण, उन धाराओं के लक्षणों को देखते हुए संगत नहीं प्रतीत होता। कबीर आदि की धारा को ज्ञान मार्गी

या ज्ञानाश्रयी धारा कहा गया है परन्तु इसमें ज्ञान की गुरुता और गम्भीरता का लेशमात्र भी नहीं है। ज्ञानमार्ग से यदि निराकार भक्ति का अर्थ लिया जाय तो उसके लिए उद्धव के से ज्ञान-गर्भित तर्कों की आवश्यकता है। परन्तु कबीर आदि की रचनाओं में ज्ञान नहीं केवल ज्ञान का आभास मात्र है। उनके सभी तर्क सुनी सुनाई बातों पर आधारित हैं। अशिक्षित होने के कारण ज्ञान की शास्त्रीय जटिलता से उनका परिचय नहीं था। शुक्लजी ने इसे ज्ञानाश्रयी या ज्ञानमार्गी इसलिए कहा कि इसमें रहस्य और गुह्य भावना का संयोग था। रहस्य और गुह्य को साधारण जनता ज्ञान का रूप मान लेती है। परन्तु सन्त काव्य में वास्तविक ज्ञान का निरूपण न होकर केवल उसका आभास है। इसी कारण डाक्टर श्री कृष्णलाल उसे 'ज्ञानाभासाश्रयी' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यदि ज्ञान मार्ग का पारिभाषिक अर्थ 'निर्गुण उपासना' लिया जाय तो शुक्लजी का नामकरण ठीक है और यदि उसे वास्तविक'ज्ञान' का रूप माना जाय तो यह ग़लत है।

इसी प्रकार सूफियों की गणना भक्तिकाव्य में करना भी आंशिक रूप से ही उचित प्रतीत होता है। सूफियों का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन न होकर प्रेम की पीर का ही आलम्बन है। सूर, तुलसी तथा कबीर की भक्ति भावना एवं सूफियों की इश्क-मजाज़ी और प्रेम की पीर में पर्याप्त भिन्नता है। प्रेम में जब तक श्रद्धा का योग नहीं होता तब तक वह भक्ति का रूप नहीं धारण कर सकता। दैन्य-भावना के अभाव में भक्ति-भावना की प्रतिष्ठा असम्भव है। सूफियों में आश्रय के प्रति प्रेम भावना तो है परंतु श्रद्धा नहीं है। उनका प्रेम सांसारिक वासना जनित सा प्रतीत होता है। जायसी यदि पद्मावत के अन्त में इसे रूपक न कहते तो वह एक सांसारिक प्रेम कहानी मात्र रह जाता। इसलिए सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्य भक्ति काव्य न होकर केवल प्रेम काव्य रह जाते हैं। सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टि से इन्हें भक्ति काव्य के अन्तर्गत मानना उचित नहीं प्रतीत होता। भक्तों का विरह निवेदन और सन्तों के समकालीन होने के कारण ही सम्भवतः शुक्लजी ने इन्हें भक्ति काव्य के अन्तर्गत माना है।

भक्ति काव्य में ऊपर से देखने पर ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो रूप दिखाई देते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र निर्गुण की ही प्रतिष्ठा मिलती है। कबीर के भगवान तो निर्गुण हैं ही। तुलसी के 'मानस' के सगुण भगवान 'विनयपत्रिका' में निर्गुण बन जाते हैं। तुलसी इन दोनों रूपों में कोई अन्तर नहीं मानते। सूर भी भगवान के निर्गुण रूप की सत्ता को स्वीकार तो

कर लेते हैं परन्तु उसके वर्णन को सब तरह से अगम्य मानकर सगुण का गुण गान करते हैं। सूर और तुलसी की सगुण लीला सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का तीव्र संघर्ष है। मानस में ज्ञान और भक्ति को एक मानते हुए भी ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित की गई है। ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा के समान कठिन है इसलिए भक्ति का सहल पंथ ही ग्राह्य है। सूर के भ्रमर गीत में भी ज्ञान पर भक्ति की इसी विजय का प्रदर्शन है। मीरा और जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध जनश्रुति में भी यही भावना कार्य कर रही है। इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह भी कथन है कि सगुण भक्ति की चरम परिणति निराकारोपासना में ही होती है।

इन भक्तों ने अपनी-अपनी भावनानुसार अपने इष्टदेवों में विभिन्न गुणों का आरोप कर लिया है। तुलसी के भगवान शक्ति, शील और सौन्दर्य के आगार हैं; सूर के कृष्ण सौन्दर्य-निधान और लीला प्रिय हैं; नरोत्तमदास के कृष्ण करुणानिधान हैं; मीरा के गिरधर नागर माधुरी मूरति वाले हैं; हितहरि वंश के रसिक शिरोमणि राधावल्लभ रास-प्रिय हैं। परन्तु कुछ कवियों ने भगवान को छोड़कर केवल भक्तों का ही गुणगान किया है। नाभादास का 'भक्त माल' इसका प्रमाण है।

भगवान और भक्ति के अतिरिक्त भक्ति-भावना का निरूपण भी भक्ति-काव्य की एक विशिष्ठता है। भक्तों ने अपने भगवान से नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। माता, पिता, स्वामी, सखा, पति आदि अनेक रूप में भगवान की उपासना की गई है। सन्त कवियों ने गुरु को गोविन्द के समान महत्व देकर सतगुरु की महिमा का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त माया जाल में फँसे हुए अज्ञानी जीव को सम्बोधित कर सभी भक्तों ने अनेक चेतावनी के पद भी कहे हैं। चेतावनी के अतिरिक्त भक्ति काव्य में नीति और उपदेश विषयक पदों का भी अभाव नहीं है।

दक्षिण की इस वैष्णव भक्तिधारा ने उत्तर में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किए। प्रथम धारा सिद्धों और नाथों के तंत्रों तथा हठयोग को पार करती हुई कबीर आदि की वाणी में एक भिन्न रूप में प्रकट हुई। मिथिला और बंगालके शाक्त सम्प्रदाय तथा तांत्रिकों के सम्पर्क में आकर जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के पदों में सरस और मधुर हो उठी। यह उसका दूसरा रूप था। अपने तीसरे रूप में उसने भगवान राम और कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से अपने भक्तों को मुग्ध किया। इन तीनों धाराओं के स्वरूप भिन्न

और विचित्र है। तुलसी ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप उपस्थित किया। सूर की कृष्ण लीला में मर्यादा की उपेक्षा होते हुए भी वह नर लीला का बड़ा ही मधुर स्वरूप था। इसके विपरीत कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न भगवान की लीला का भाव है और न विनय का। वहाँ भगवान का रूप एक प्रेमी का है जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। परन्तु कबीर और विद्यापति की मनोवृत्ति में अन्तर है।

भक्ति के इतिहास में प्रारम्भ से ही भक्तों के दो विशिष्ठ वर्ग मिलते है--- गायकों तथा आचार्यों का। दक्षिण के आलवार भक्त गायक थे। दूसरी ओर नाथ मुनि, यामुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क आदि आचार्य थे जिनके दार्शनिक चिंतन में केवल तर्क और विवाद था। उनमें गायकों का सा सहजोद्रेक, भाव-प्रवणता और तीव्र आवेग का अभाव था। उत्तर भारत के भक्तों में भी दो भेद थे। रामानन्द और वल्लभ स्वामी आचार्य थे जिन्होंने भक्ति का उपदेश दिया परन्तु चैतन्य महाप्रभु गायक श्रेणी के आचार्य थे। इसी प्रकार भक्त कवियों में भी स्पष्टतः दो वर्ग थे। एक वर्ग कवि गायकों का था, दूसरा कवि आचर्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर, मीरा विशुद्ध कवि गायक और तुलसी, कबीर, नानक, नंददास भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि आचार्य थे। कवि-गायक साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने भाव-विभोर होकर भगवान के गीत गाये। सूर और मीरा कृष्ण चरित के विमुग्ध गायक थे। भक्ति धर्म के प्रचार की दृष्टि से कबीर और तुलसी जैसे जन नायकों और आचार्यों का बहुत महत्व है। उन्होंने लाखों करोड़ों व्यक्तियों का मार्ग प्रदर्शन कर हित किया। परंतु शुद्ध साहित्य की दृष्टि से सूर, मीरा, रसखान आदि का महत्व विशेष है। सूर को प्राचीन परम्परा से हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना गया है। आधुनिक काल बुद्धिवादी काल है। आज आचार्यों के तर्क, वाद, खण्डन, मण्डन को अधिक महत्व दिया जाता है। साहित्य में उपयोगिता को अधिक महत्व दिया जाता है इसीलिए आज जितना महत्व कबीर और तुलसी का माना जाता है उतना सूर और मीरा का नहीं। दूसरे शब्दों में आज हमारे लिए शुद्ध और सरस कविता का अधिक मूल्य नहीं रह गया है।

भक्तिकाव्य में भारतीय संस्कृति और आचार विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। इसमें ऐसी धार्मिक भावनाओं की उद्भावना हुई जिनका इस्लाम से कोई विरोध नहीं था। उनमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों का समावेश था।

भक्तिकाव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्चतम कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। "उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्त्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है।" तुलसी, सूर, विद्यापति, रसखान, नन्ददास आदि का काव्य अपनी तन्मयता, काव्यत्व एवं प्रभाव की दृष्टि से संसार के उन्नततम काव्यों की समता में बिना सिर झुकाये खड़ा रह सकता है। उसका मूलधर्म मानवता है। उसमें मानवमात्र के हृदय को स्पर्श करने वाली भावनाओं का चित्रण है। पद्मावत, मानस, सूरसागर विश्व साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। इसलिए भक्ति काव्य के अध्ययन के लिए आज सब से बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि उसका मूल्यांकन वाद विशेष के संकीर्ण दायरे से मुक्त होकर, मानवतावादी दृष्टिकोण का आधार लेकर शुद्ध काव्य और साहित्य की दृष्टि से हो। कारण यह है कि यह काव्य लोक परलोक दोनों को एक साथ स्पर्श करता है। भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे परन्तु सबका सम्बंध मानव-जीवन से था। वहाँ मानव के लिए स्नेह का सागर लहरें लेरहा है। यह काव्य एक साथ ही हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता रहा है। काव्य सौंदर्य और भावनाएँ मन को तृप्त करतीं रहीं हैं। दार्शनिकता और अध्यात्मिकता आत्मा को संतोष देती रही हैं।

रस की दृष्टि से भी यह साहित्य सर्वश्रेष्ठ है। रसराज का इतना पूर्ण और संतुलित चित्रण और कभी नहीं हुआ। साथ ही अन्य रसों का भी प्रसंगानुसार अच्छा चित्रण हुआ है। काव्य शैलियों की दृष्टि से अकेले तुलसी सब का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। उनके काव्य में पूर्ववर्ती एवं तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों के उत्कृष्ट रूप के दर्शन होते हैं। साथ ही इस काव्य में कवि प्रसिद्धियों, कवि-समयों एवं प्रतीकों का इतना अक्षय भण्डार भरा हुआ है कि शताब्दियों तक परवर्ती काव्य के प्रणेता उसी का उपयोग कर गौरव पाते रहे हैं। भाषा की दृष्टि से शुद्ध रूप से कबीर को हिंदी का प्रतिनिध कवि माना जा सकता है। कबीर के समय से ही हिंदी पूर्ण रूप से काव्य की भाषा बनी। उसका यह प्रारम्भिक रूप अटपटा होते हुए भी काफी सशक्त और प्राणवान है। इसी को आगे चल कर सूर और तुलसी के काव्य में पूर्णता प्राप्त हुई। तुलसी ने तो ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में सुंदर काव्य का सृजन कर उन्हें पूर्णता प्रदान की। भाषा में ब्रज का कोमल, मधुर स्वरूप पूर्ण हुआ। पिंगल शास्त्र की दृष्टि से भी भक्तिकाव्य अन्य 'काव्यों की तुलना' में हेय नहीं है। उसमें केशव का सा चमत्कार प्रदर्शन तथा बिहारी की सी वाग्विदग्धता नहीं मिलती क्योंकि भक्त कवियों ने भाषा को साध्य न मानकर अपनी आत्माभिव्यक्ति

का साधन माना था। उनकी इसी सहज आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता से उनका काव्यशास्त्र स्वभावतः ही निसर्ग सौंदर्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सका था।

भक्ति काव्य में यद्यपि आधुनिक काल के समान विषय वैविध्य नहीं है परन्तु गाम्भीर्य की दृष्टि से वह आधुनिक काल से अधिक पूर्ण और सशक्त है। रीतिकाल एवं आदिकाल एकांगी दृष्टिकोण को लेकर चले थे अतः भक्तिकाल से उनकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। रीतिकाल का महत्व भाषा सौंदर्य एवं भाषा-शक्ति की दृष्टि से अधिक है परंतु उसमें भाव-गाम्भीर्य एवं मानव-कल्याण की भावना का अभाव है। आदिकाल अस्पष्ट और उलझा हुआ है। अतः जब हम हिंदी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को आलोचक की दृष्टि से देखते हैं तो उसमें अभी तक केवल भक्तिकाल ही ऐसा है जिसे सर्व-श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। विद्वानों ने इसीलिए इसे एक स्वर से हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। एक विद्वान का तो यहाँ तक कथन है कि यदि सम्पूर्ण हिंदी साहित्य को नष्ट कर केवल तुलसी-काव्य को लेकर हम संसार के अन्य साहित्यों की स्पर्द्धा में खड़े हों तो हमें तनिक भी लज्जा अथवा हीनत्व भावना का अनुभव नहीं हो सकेगा।

३—युगद्रष्टा कबीर

हिन्दी साहित्य एवं हिन्दू समाज में कबीर जागरण युग के अग्रदूत माने जाते हैं। आज कबीर जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप में नहीं प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भगवान बुद्ध के उपरान्त भारत के धार्मिक और साँस्कृतिक क्षेत्र में नवीन चेतना का स्वर फूंकने वालों में कबीर सर्वश्रेष्ठ और सर्व प्रथम हैं। उन्होंने सन्त काव्य की धारा का प्रणयन किया, उसे पूर्णता को पहुंचाया और एक ऐसी विचार धारा की स्थापना की जिससे सैकड़ों शताब्दियों उपरांत गांधी जैसा युग पुरुष भी प्रभावित हुआ। ऐसे प्रखर व्यक्तित्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले सन्त काव्य की परम्परा, रूपरेखा एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

ईसा की सातवीं आठवीं शताब्दी तक आते आते बौद्धधर्म 'वज्रयान' का तन्त्र वादी रूप धारण कर चुका था। सिद्ध और योगी बौद्ध धर्म के ध्वंशावशेषों के रूप में तारा, कृत्या आदि की ताँत्रिक पूजा द्वारा जनता पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। समाज में अन्ध-विश्वासों का साम्राज्य था। इन तांत्रिकों का विरोधकर सरहपा, लूखिया, करेड़िया आदि महात्माओं ने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रांति का बीजारोपण किया। इन्हें हिन्दी का आदि कवि माना जाता है। इन्होंने परम्परागत काव्य भाषा संस्कृत और पाली का त्याग कर जनभाषा अपभ्रंश मिश्रित हिंदी में अपनी वाणी मुखरित की। इन सन्तों पर भी वज्रयान का प्रभाव था। ये सभी अशिक्षित थे। इसलिए इनके ग्रंथों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है परन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य महत्व पूर्ण है। इन्हीं की परम्परा में आगे चलकर सन्त साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ-सम्प्रदाय में एवं व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा में, जो सन्त काव्य की पराकाष्ठा है पाया जाता है।

कालान्तर में इन प्राचीन सन्तों की अटपटी वाणी का उल्टा अर्थ लगाया जाने लगा जिससे कौल, कापालिक आदि कई नए सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। इनमें वासना और भोग लिप्सा का आग्रह बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई समाप्त हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने मूर्ति पूजा, तंत्रवाद आदि का खंडन कर

एकेश्वर वाद की स्थापना की। हठयोग इनका सहयोग पाकर पल्लवित हुआ। इन रहस्यवादी नाथों में जालंधर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि अनेक प्रसिद्ध महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठभूमि पर कबीर ने अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया। परन्तु कबीर ने उनमें प्रेम और राग को प्रधानता देकर उस सम्प्रदाय की नीरसता को दूर कर दिया। अपनी अव्यावहारिकता के कारण धीरे-धीरे नाथ पंथ का भी ह्रास हो गया। कबीर ने उसमें प्रेम और राग का मिश्रण कर उसे एक नवीन रूप दिया। कबीर का काल प्रौढ़ संत-मत का काल है। कबीर और उनके साथी तथा अनुयायी सभी सुधारवादी थे। इन्होंने वाह्याडम्बरों का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इनके मत पर एक ओर भक्ति, योग, एकेश्वरवाद के रूप में सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तो दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति और माधुर्य उपासना के रूप में सूफियों का तथा वैष्णवों की अहिंसा और प्रेम का प्रभाव है। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता का नारा बुलन्द कर मूर्त्तिपूजा और बहुदेववाद का खंडन किया। काव्य रचना करते समय उनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन न कर केवल अपने मत का प्रचार करना था परन्तु उनकी भावुकता ने उनके काव्य में थोड़ी बहुत सरलता ला दी थी। सभी सन्त अक्खड़ थे। शुद्ध मानवता प्रेमी होने के कारण उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किया। बुराइयों की कटु आलोचना कर सद्गुणों का उपदेश दिया। इसी कारण उसमें नीरसता और रूखापन आ गया। उनके साहित्य में सन्देश का सौन्दर्य तो मिलता है परन्तु साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है।

ये सभी सन्त-कवि अन्त्यज थे। उनके लिए शास्त्र, ज्ञान, मन्दिर आदि के द्वार बंद थे। उन्होंने केवल अपनी अनुभूति के बल पर ईश्वरत्व की अनुभूति प्राप्त की। उस अनुभूति की व्यंजना संतकाव्य कहलाई। "उसमें वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उसमें भावों की एक तीव्रता है जो स्वयं इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सम्बल की आवश्यकता नहीं।" सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से वे परे हैं। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम अडिग, खरा और निर्मल है। उनकी इस भक्ति में वैष्णवी भक्ति का प्राधान्य होने के कारण "गलदश्रु भावुकता" है। इस कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार सा भासित होने लगता है। यही कारण है कि उनकी ईश्वरीय भावना में अस्पष्टता और असङ्गता मिलती है।

भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त-साहित्य अद्वैत की भावना से प्रभावित

है। उसका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत भावना को नहीं। सन्तों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों का सहयोग माना है। ज्ञान भक्ति के अभाव में पंगु है। इसीलिए पूर्णता लाने के लिए उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की वैष्णवी विशेषताओं को स्वीकार किया है। वैष्णव भावना व्यक्तिगत ब्रह्म के प्रति रागात्मक निवेदन है। इसी से सन्तों ने ब्रह्म को जननी, जनक, पति आदि माना है। भक्ति ही उनके लिए सब कुछ हैं। गुरुभक्ति और नाम कीर्तन भी वैष्णव भावना का ही प्रभाव है। सन्तों में लोक भावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की देन है।

सन्तों पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी गहरा प्रभाव है। उनके प्रेम वाद के कारण सन्तमत बहुत महत्वपूर्ण हो गया वरना उसके बिना यह भी नाथ-पंथ के समान शुष्क रह जाता। सन्तों ने नीरस ब्रह्मवाद पर सरस सूफी प्रेमवाद की बड़ी सुन्दर कलम लगाई है। परंतु संतों का प्रियतम निर्गुण है इसीलिए उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में स्वभावतः रहस्य की भावना आगई है। साधना के क्षेत्र में सन्तों ने साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है। इसमें हठयोग की विभिन्न क्रियाओं का विशेष महत्व है। इन पर सिद्धों और हठयोगियों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने धार्मिक बाह्याचारों का खण्डन किया। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यवादी बन कर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाने में सन्तों का मार्ग प्रदर्शन किया। साथ ही सन्तों को उन्हीं से घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि की साधना करने और नाद, सुरति, निरति आदि शब्दों की परम्परा विरासत के रूप में प्राप्त हुई। इस प्रकार हठयोग को सन्तों ने ब्रह्म प्राप्ति का साधन बनाया।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि सन्त मत पर विभिन्न मतों का प्रभाव पड़ा है। सन्तों ने सभी मतों के प्रधान तत्वों को अपने मत में शामिल कर लिया परन्तु अशिक्षित होने के कारण वे इन तत्वों के वास्तविक रूप को समझने में पूर्णतः सफल नहीं हो सके। उन्होंने सुने सुनाए ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्वों को रूपकों और उलटबासियों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया परन्तु साहित्यिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका यह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बन गया। इसी से उनके काव्य का अर्थ ढूँढना विद्वानों

के लिए भी आकाश कुसुम बन गया है। इनमें विभिन्न मतों की ऐसी बेमेल खिचड़ी है जो इनका एक प्रभावशाली रूप नहीं बनने देती। उनके विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं। एक ओर वे कीर्तन की महत्ता बताते है तो दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान है पर वे श्रद्धा को कोई महत्व नहीं देते। एक ओर कर्मकाँड का विरोध करते हैं और दूसरी ओर हठ-योग की साधना करते हैं। इस प्रकार के विरोधी तत्वों के अनमेल मिश्रण से इनका काव्य भरा पड़ा है।

सन्त शाश्वत सत्यों और मर्यादाओं को बदलने में तत्पर थे क्योंकि उनका मानवतावाद उन्हें इसके लिए प्रेरित करता था। उनके प्रभाव से शुद्ध मानवतावाद का प्रचार बढ़ा। वे एक वर्गहीन समाज की स्थापना कर सब के लिए मुक्ति चाहते थे इसी कारण उन्होंने उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया जो उन्हें दबाती थी। इसी कारण उन्होंने सगुण का विरोध किया क्योंकि सगुण को स्वीकार करने का अर्थ उस भगवान के रूप को स्वीकार करना था जो उच्चवर्गों के स्वार्थों का समर्थक है। उसे मान लेने से वर्गहीन समाज की स्थापना का स्वप्न भंग हो जाता। इतना महान् उद्देश्य सम्मुख रहते हुए भी इन संतों को यथेष्ठ सफलता नहीं मिल सकी इसका कारण यह था कि निर्गुण ब्रह्म के उपासक बिखरे हुए थे। उनकी शक्ति और चिन्तन का स्रोत एक न होकर विभिन्न थे। वे पारस्परिक रूप में उस एक्य का अनुभव नहीं करते थे जो सगुण वादी भक्तों को अपने आराध्य के एक्य के कारण सुगम था। इस भावना को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध विद्वान डा० रांगेय राघव ने लिखा हैं कि— "निर्गुण सन्त समाज के उन वेर्गों से आए थे जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दब कर रहना पड़ता था। ...वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही छोटे छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अन्ध विश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्म-विश्वास अन्ततोगत्वा आया, वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से था कि ओ विजेता तू कुछ नहीं है, तू मुझे हरा नहीं सकता, मैं अमर हूँ और रहूँगा।" सन्तों की इसी विशेषता का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा भी मुक्त कण्ठ से कह उठे हैं कि—"उन्होंने धर्म की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रु जल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलंक रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर-दूर के गाँवों में एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है। भेद बुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों

की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमरवाणी आज भी सर्वत्र गूंज रही है।" संत कवियों पर लगाए जाते रहे भाषा एवं शैली विषयक आक्षेप के उत्तर में डा० शर्मा का निम्नलिखित कथन ही यथेष्ठ है—"आज देश के नए सांस्कृतिक जागरण के लिए हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलङ्कार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तन्त्र में तमाम जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिंदी कवियों ने, विशेष रूप से सन्त कवियों ने अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।" इसी आक्षेप का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचन करते हुए एक बार महाकवि रवीन्द्र ने कहा था कि 'नई हिंदी कविता से पुरानी संत वानी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक में कौशल ज्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश में प्रकट होता है वही अमर होती है और उस पर काल का दाग नहीं पड़ता।' सन्त-वाणी ऐसी ही अमर काव्य है।

परन्तु इस धारा में कुछ दोष भी थे। सब से बड़ा दोष यह था कि इन्होंने स्वमत प्रचारार्थ खंडनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया था। वे दलित थे इससे अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। इस विरोध की तीव्रता के कारण ही उनका प्रभाव दलित वर्ग तक ही सीमित रह गया। दूसरे उनका निर्गुण दर्शन भी जन साधारण की समझ में नहीं आया। साथ ही व्यक्तिगत भावना का प्राधान्य होने से इसमें लोकोपकार की भावना रही तो अवश्य परंतु आदर्शों का अभाव रहा। शिक्षित एवं उच्चवर्ग ने सदैव इनके प्रति उपेक्षा दिखाई। इस वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सत काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उश्रृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचक इन्हें इस्लामी परम्परा की उपज बताते है, परंतु पद्धति, भाव, विषय, अलकार, भाषा, छंद आदि से ये पूर्णतः भारतीय सिद्ध होते है। इस मत की स्थायी देन हैं—(१) वैदिक और ब्राह्मण धर्म के प्रति अविश्वास तथा साहित्यिक क्रांति की भावना (२) आधुनिक रहस्यवाद और छायावाद।

ऐसी विशेषताओं से परिपूर्ण था वह युग जिसके कबीर एकछत्र सम्राट थे।

अन्य भाषा-भाषियों ने कबीर की जितनी प्रशंसा की है उतनी हिंदी वालों ने नहीं की। कबीर के पदों का रवि बाबू का अनुवाद, भूमिका के रूप में उनकी कबीर के प्रति श्रद्धाञ्जलि तथा विदेशी साहित्य महारथियों द्वारा उनकी प्रशंसा कबीर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में बैठाने वाली है। इस अनन्य प्रतिभाशाली कवि की हिन्दी साहित्य में उपेक्षा ही हुई है। इस उपेक्षा

के मूल में रसवादी आलोचकों का संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण प्रधान रहा है। आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि की तीन बातों के कारण उपेक्षा की है—१—उपदेश और धर्म की नीरस चर्चा, उलटबांसिया तथा सुनी सुनाई बातों का पिष्ट पेषण, २—श्रृङ्खलाबद्ध, सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का अभाव तथा विभिन्न विचार धाराओं का मिश्रण, ३—भाषा और शैली का अव्यवस्थित रूप। इतना सब कुछ होते हुए भी शुक्ल जी को अन्त में यह मानना ही पड़ा—"प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।" साहित्य में शक्ति, शील, सौंदर्य को अपना आलोचनात्मक मानदण्ड मानकर चलने वाले आलोचक, आचार्यशुक्ल से, हिंदी साहित्य में अपनी प्रखर प्रतिभा की धाक मनमाने वाले एकमात्र कबीर ही ऐसे हैं जिनकी शुक्लजी ने विरोध करते हुए भी प्रशंसा की है। यह कबीर की सबसे बड़ी विजय है।

हिंदी साहित्य में कबीर का उचित मूल्यांकन न होने का कारण यह रहा है कि आलोचक विद्वानों ने अधिकतर उनके तत्वज्ञान की शुष्कता, अपरिमार्जित भाषा और खण्डन प्रणाली पर ही विशेष दृष्टि डाली है। साहित्य की सबसे बड़ी देन जीवन की मूल समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करने की प्रेरणा उत्पन्न करना है। कबीर-साहित्य हमें यही प्रेरणा देता है। कबीर की प्रेरणा सत्य की साधना से है न कि काव्य-सौंदर्य प्रदर्शन या सामाजिक या और किसी दृष्टि से। सब लोगों को एकता के सूत्र में बांधने से उन्हें संसार की अनेकता में मानवता की एकता का सूत्र मिल गया। जो अपने को भिन्न मानते थे, कबीर ने एकता का सत्य स्वरूप दिखाते हुए, उनका खण्डन किया। इस सांसारिक विषमता, आडम्बर और भेदभाव के विरोध में कबीर ने सरल प्रेममय जीवन अपनाने का सन्देश दिया।

हिंदी साहित्य में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से तुलसी और सूर तथा विषय के महत्व की दृष्टि से तुलसी और कबीर अद्वितीय हैं। "तुलसी में अपने आदर्श के कारण जहाँ शक्ति, बल और उत्साह मिलता है वहाँ कबीर में जीवन की प्रधान समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो चिन्तन की प्रेरणा मिलती है। इस क्षेत्र में कबीर अद्वितीय हैं। अपनी इसी सार्वजनीन भावना के कारण वे जनता में विशेष लोकप्रियता प्राप्त कर सके। रस ग्राहियों और कला पिपासुओं ने कबीर का विशेष सम्मान कभी नहीं किया। भ्रातृ-भावना और समता की दृष्टि कबीर से पहले इस रूप में और कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। रामानुज भक्ति के क्षेत्र में तो समानता के समर्थक थे परन्तु इस क्षेत्र से बाहर वे भी भेद भाव को मानते थे। लेकिन—'हम सब ईश्वर की सन्तान हैं, मनुष्य

मात्र समान हैं, जाति और धर्म का कोई भेद नहीं है।' इस तरह की घोषणा करने वाले सर्व प्रथम व्यक्ति कबीर ही थे। इस तरह कबीर मानवता के प्रथम कवि हैं।

कबीर ने कविता क्यों की ? यदि इस प्रश्न का उत्तर जान लिया जाय तो हम कबीर की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी त्रुटियों को क्षमा कर उनका उचित मूल्यांकत कर सकेंगे। मैथिल-कोकिल विद्यापति अपनी भाषा और काव्य के विषय में आत्मश्लाघा करते हुए कहते हैं कि—

"बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहिं लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥"

विद्यापति न केवल भाषा के सौंदर्य को ही महत्व देते थे, अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे। आगे चल कर उन्होंने पुनः कहा है कि—

"महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कब्ब कलाउ छइल्ल"

अर्थात जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है। परन्तु कबीर का काव्य रचना का उद्देश्य नितांत भिन्न था। वे अपने पदों के विषय में श्रोताओं को सम्बोधन कर कहते हैं—

"तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥"

उन्होंने अपने काव्य में केवल 'ब्रह्म विचार' को ही प्रकट किया है। अपनी आत्म-साधना का सारा सार भरकर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। अपनी वानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कब्ब कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते। वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि—

"हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़े तीर॥

इसके अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य रचना को कबीर कोरा 'कविकर्म' समझते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से कबीर-काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य सन्तों ने भी किया था।

कबीर के व्यक्तित्व के दो प्रधान पक्ष हैं। प्रथम धर्म सुधारक उपदेशक का एवं द्वितीय शुद्ध भक्त का। इसी के अनुसार उनके काव्य के भी दो पक्ष हो

गए हैं। धर्म सुधारक उपदेशक के रूप में उन्होंने जो कुछ कहा है वह खंडन-मण्डन की भावना से ओत प्रोत होने के कारण नीरस शुष्क एवं कर्कश भाषा में है। उसमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है। कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था। कविता को तो उन्होंने अपने विचारों तथा भावों को जनता तक पहुंचाने का माध्यम बनाया था। उन्होंने न 'मसि कागद' छुआ था और न हाथ में कलम ही गही थी। वे तो केवल प्रेम का ढाई अक्षर पढ़कर ही पण्डित हो गए थे। कवि के लिए अपेक्षित गुणों प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास—में से कबीर में केवल प्रतिभा थी। उनके ज्ञान का साधन एवं स्त्रोत सत्संग और पर्यटन था। वे बहुश्रुत थे। इसीसे उनके काव्य में विभिन्न प्रदेशों में प्रयुक्त अनेक कवि समयों, प्रतीकों एवं अलङ्कारों का सौंदर्य आ गया है। उनके रूपक और उलटबांसियों के विरोधाभास साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं। ये गुण उनके काव्य में अनायास ही आ गए थे।

सीधी हृदय से निकलने वाली कविता सीधी हृदय पर चोट करती है। उसमें अनुभूति की तीव्रता होती है। अनुभूति की यही तीव्रता कबीर के काव्य में मिलती है। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल। इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति आ गई थी। उनकी वाणी की यह शक्ति ही काव्यगत सरसता बन कर पाठकों के हृदय को प्रभावित करती है। परंतु इस सरसता के दर्शन केवल उन्हीं स्थलों पर होते हैं जहाँ उन्होंने संसार से नाता तोड़ कर भक्ति भावना में आकंठ निमग्न होकर अपनी विरह व्यथा का वर्णन किया है। यह उनके काव्य का दूसरा पक्ष है। कविता करते समय कबीर को इस बात का ध्यान नहीं रहता था कि जो कुछ वे कह रहे हैं वह सुन्दर और सरस है अथवा नीरस। परन्तु आत्मा के सच्चे उद्‌गार होने के कारण सरसता उसमें स्वतः आ जाती थी।

कबीर का व्यक्तित्व क्रांतिकारी था। उनका यह व्यक्तित्व ही भक्त, प्रेमी तथा शुद्ध मानव की विभिन्न धाराओं में बहा है। उनके व्यक्तित्व में सर्वत्र एक प्रखरता, निश्छलता एवं स्पष्टता है। उन्होंने अपने अशिक्षित होने की बात बड़े स्पष्ट और निश्चल शब्दों में कह दी थी, परंतु उन्हें अपने साँसारिक अनुभव और ज्ञान पर पूर्ण आस्था थी। इसीसे उन्होंने शिक्षित पंडितों को ललकार कर कहा था—"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।" उनकी 'आँखिन की देखी' बात वहाँ तक तो ठीक है जहाँ उन्होंने प्रेम में तन्मय होकर अपनी भावना का प्रदर्शन किया है परंतु जहां वे खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर दार्शनिक तत्वों का निदर्शन करने का प्रयत्न

करते हैं वहाँ उनकी नद 'आँखिन की देखी' बात लड़खड़ा उठती है; काव्य शक्ति उनका भाग छोड़ जाती है। इसका कारण यह है कि तर्क के लिए शास्त्रीय बुद्धि एवं ज्ञान की अपेक्षा होती है। दार्शनिक विवेचन में मस्तिष्क और शास्त्रीय ज्ञान प्रधान होते हैं। कबीर में मस्तिष्क तो था परन्तु उनका शास्त्रीय ज्ञान न के बराबर था। इसीसे वे इस क्षेत्र में आकर लड़खड़ा उठे हैं। उनका वास्तविक एवं स्वाभाविक क्षेत्र, काव्य की दृष्टि से, तो हृदय था। इसी से केवल वहीं सफलता मिलती है।

विद्वानों ने काव्य के भावपक्ष में बुद्धि, राग और कल्पना तीन तत्व माने हैं। 'बुद्धि तत्व से कवि द्वारा उपस्थित किए हुए श्रेष्ठ विचार और संदेश देखे जाते हैं। कल्पना तत्त्व में वस्तु की चित्रांकनता और नव-निर्माण देखा जाता है और रागात्मक तत्व में हृदय स्पर्शिता और तन्मयता परखी जाती है।" इस कसौटी पर कसने पर कबीर के काव्य में सन्देश की प्रधानता मिलती है। इसीसे उसमें कल्पना तत्व की न्यूनता है। इस न्यूनता के कारण उनके चित्र अस्पष्ट और अधूरे हैं। यह विशेषता केवल कबीर के काव्य में ही नहीं अपितु सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य और सम्पूर्ण सन्त साहित्य में पाई जाती है। शिक्षा और वास्तविक शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में उनमें स्पष्टता नहीं आ पाई है। खंडन मण्डन प्रधान काव्य में रागात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जहाँ उन्होंने अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्म विभोर होकर विरह और व्यथा का वर्णन किया है वहाँ रागात्मक तत्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदय स्पर्शिता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता, सूर की सी सरसता और विद्यापति का सा सौंदर्य है। कबीर के पास भाषा नहीं है। वे दोहा जैसा साधारण छन्द भी ठीक नहीं लिख सके हैं, रूपक कहीं-कहीं अस्पष्ट और अटपटे हैं, अलङ्कार भी शुद्ध नहीं हैं फिर भी उनके भक्ति-भावना वाले पद हृदय को स्पर्श कर लेते हैं। इसके मूल में उनकी गम्भीर तन्मयता ही है। निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं—

"माली आवत देख कर कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए कालि हमारी बार॥"

× × ×

"नयना अन्तर आव तू पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कूँ ना तोहि देखन देउँ॥"

+ + +

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

× × ×

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकौं चाहैं रती न मानैं हारि
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी काचै भाड़ैं नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥"।

इन पंक्तियों में सीधी सरल भाषा में कितनी मार्मिक बात कही गई है। अन्तिम पद में से यदि कबीर का नाम उड़ा दिया जाय तो कोई भी रसिक इसे सूर का पद मान लेगा। क्या ऐसे पदों को नीरस अथवा साहित्यिकता से शून्य कहा जा सकता है? ऐसे पद हिंदी साहित्य के रसज्ञ आलोचकों द्वारा कबीर को श्रेष्ठ कवि स्वीकार करवा लेने के लिए पर्याप्त हैं।

कबीर साधक थे। उनकी साधना के दो रूप थे। कर्मयोग और हठयोग। कर्मयोगी के समान वे संसार के माया मोह से निर्लिप्त रहते थे। उनकी कथनी और करनी में साम्य था। परन्तु उन्होंने संसार के संघर्ष से पलायन का उपदेश कभी भी नहीं दिया। वे उससे टक्कर लेने के पक्षपाती थे। उनकी इसी सक्रिय साधना को लक्ष्य कर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "साधना के क्षेत्र में वे युग युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा।" सच्चे कर्मयोगी होने के कारण वे युग युग गुरु थे। उन्होंने सन्तकाव्य का पथ प्रदर्शन कर साहित्यिक क्षेत्र में नव-निर्माण का कार्य किया था। उनके समकालीन एवं परवर्ती सभी सन्त कवियों ने उनकी वाणी का अनुकरण किया। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की जो विचारधारा आज इतनी प्रबल हो उठी है उसके मूल प्रवर्त्तक कबीर ही थे। इस धारा को मैथिलीशरण आदि गाँधी वादी कवियों ने अपनाया।" इस प्रकार कबीरदास जी न केवल तत्कालीन समाज में साधना के क्षेत्र में गुरु थे वरन् संतमत, सूक्तिकाव्य और हिंदू-मुस्लिम ऐक्य- सम्बन्धी हिंदी-साहित्य के पथ प्रवर्त्तक और स्रष्टा भी थे।"

कबीर युग द्रष्टा थे। अपने समय की सम्पूर्ण गतिविधियों पर उनकी नज़र रहती थी। गाँधी आधुनिक युग के द्रष्टा थे। युग द्रष्टा शाश्वत काल से

विषमताओं का खंडन कर मानवता का प्रचार करते आए हैं। कबीर और गाँधी की तुलना एवं समान भावनाओं का विश्लेषण यह सिद्ध कर देगा कि गाँधी के समान कबीर भी अपने समय की जनता के एकमात्र प्रतिनिधि और पथ-प्रदर्शक थे। महात्मा गाँधी की माँ कबीर पंथी थीं। गाँधी जी पर उनकी शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा था। "गाँधी जी की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है वह उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परम तत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते है जिसे उन्होंने कबीर के ही शब्दों में अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है।""उस दुर्बल से शरीर को लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति के दर्शन से प्राप्त हुई है।" (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गाँधी और कबीर)

कबीर की तरह गाँधी जी भी सत्य को ही परमात्मा मानते हैं। उनके सभी कार्यों का एक ही माप दण्ड है। कबीर भी सत्य के अनन्य उपासक थे। इसी से वे अपने को 'सत्यनाम का उपासक' तथा गाँधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहा करते थे। दोनों ने ही 'रामनाम' की खूब महिमा गाई है। कबीर दशरथ सुत राम को न मान कर परम ब्रह्म को राम मानते हैं उसी प्रकार महादेव देसाई ने गाँधी जी के लिए लिखा है कि—"प्रार्थना में गाँधी जी का ध्यान निराकार सर्वव्यापी प्रभु की ओर रहता है। राम, जिसको वे पूजते हैं, उनकी कल्पना का है, न तुलसी-रामायण का न बाल्मीकि का।" दोनों ही मानव मात्र से प्रेम करते है। कबीर मत-विरोध होने पर अक्खड़ हो उठे हैं परन्तु गाँधी विरोधी के सम्मुख भी संसार को कंपा देने वाली धमकी घुटने टेक कर देते हैं। भौतिक शक्ति दोनों में से किसी पर भी विजय पाने में असमर्थ रही थी।

कबीर का धर्म था कि—"साईं सेती साँच रहु, औरों सूं सुध भाइ।" परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध व्यवहार धर्म का यही सार है। इसी तरह गाँधी का धर्म सब विशेषताओं और आडम्बरों से शून्य सरल धर्म है जो सर्वदा और सर्वत्र एकसा रहता है। दोनों ही धर्म के मूल तत्वों को ग्रहण करने में सदैव तत्पर रहे हैं। वे उसी मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जिसमें सब धर्मों की अच्छी बातों का सम्मिश्रण हो। गाँधी और कबीर दोनों ही कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक हैं। वे मन, वचन और कर्म सब में सामंजस्य बनाए रखना चाहते है। इसी कारण सब का उन पर विश्वास है। सिद्धान्त रूप में सब परमात्मा की सर्व व्यापकता को स्वीकार करते हैं परन्तु व्यवहार में इसका बिलकुल उल्टा होता है। परमात्मा की सर्व व्याप-

आज भी हिन्दुओं का सर्वमान्य लोक धर्म माना जाता है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म ग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक महत्व है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" लोक नायक वही हो सकता है जो समाज के मनोविज्ञान को भली-भाँति समझ सके। वह प्राचीनता का संस्कार कर उसमें अपनी नवीनता का मिश्रण कर उसे इस रूप में ढाल देता है जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का लाभ होकर उसे सन्तोष और शान्ति प्राप्त हो सके। भौतिक शक्ति के आधार पर कोई व्यक्ति लोक शासक तो हो सकता है परन्तु लोकनायक नहीं। शासक से जनता प्रायः भयभीत और दूर रहती है जबकि नायक जनता के स्नेह और श्रद्धा का भाजन होता है। शासक का अधिकार केवल तन पर ही रहता है परन्तु नायक का तन और मन दोनों पर रहता है। इसी से उसका प्रभाव स्थायी, दृढ और स्नेह का रहता है। लोक नायक स्वयं त्यागकर समाज की श्रद्धा, प्रेम और सम्मान प्राप्त करता है। अकबर और तुलसी दोनों समकालीन थे। अकबर लोकशासक था और तुलसी लोकनायक। अकबर का अब केवल ऐतिहासिक अस्तित्व अवशिष्ट है जबकि तुलसी आज भी हिन्दू समाज के कर्णधार का आसन ग्रहण किए हुए है। यही दोनों में अन्तर है। साथ ही लोकनायक का पद उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो सामयिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर प्रचलित ऐसी मान्यताओं को जो समाज के लिए घातक हो उठती हैं, मानने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। उसमें प्रगतिशीलता की भावना होती है। वह उन प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित मान्यताओं की स्थापना करता है। परन्तु उसकी प्रगतिशीलता युग की सीमाओं से बँधी रहती है फिर भी उसमें एक ऐसी उदार, विस्तृत और सार्वभौम भावना अन्तर्निहित होती है जिसे सम्पूर्ण युगों पर लागू किया जा सकता है। तुलसी ने यही किया था। तुलसी की इसी भावना को लक्ष्य कर डाक्टर रामविलास शर्मा आदि आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों ने उन्हें एक स्वर से प्रगतिवादी घोषित किया है। कुछ आलोचक तुलसी को कट्टर ब्राह्मणवादी सिद्धकर प्रतिक्रियावादी भी कहते हैं।

तुलसी लोकनायक क्या माने गए, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्व

प्रथम तुलसी के युग पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है। तुलसी के समय तक देश पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। समाज की दशा विशृंखलित थी। उसके सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासिता में निमग्न था और निम्नवर्ग अत्याचार का शिकार हो रहा था। संसार त्याग कर वैरागी हो जाना साधारण सी बात थी। विभिन्न, सम्प्रदाय अपने मतों का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे। सन्तगण वेद, पुराण, साधु आदि की निन्दा कर सामाजिक मर्यादा पर कुठाराघात कर रहे थे। योगमार्गी साधु अपने चमत्कारों से जनता को चमत्कृत करने में ही प्रयत्नशील थे। 'अलख' को लखने की भावना जोरों पर थी। सन्तों और योग मार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्चवर्ग के प्रति घृणा होने के कारण, उनके आत्मविश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण कर लिया था। ऊँची जातियाँ इनसे चिढ़ती थीं। हिंदू समाज बल वैभव हीन था तो मुस्लिम समाज विलासिता में निमग्न था। मदान्ध शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करने के इच्छुक थे। यद्यपि अकबर की उदारनीति ने उस समय उनके इस प्रयत्न को पूरा नहीं होने दिया फिर भी हिंदू त्रस्त थे। तुलसी से पूर्व कबीर ने हिंदू-मुस्लिम समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था परन्तु उन्हें आंशिक सफलता प्राप्त हुई थी। सूफी साहित्य में भी इस्लाम की आंशिक गन्ध थी। कृष्ण भक्त हिंदुओं को कोई शक्तिशाली आदर्श देने में असमर्थ रहे थे। अतः भयभीत जनता को इन प्रयत्नों से कोई ढाढ़स नहीं मिला। अन्त में तुलसी ने इस भयभीत एवं मार्गभ्रष्ट जनता के मनोनुकूल, राम के शक्ति, शील एवं सौंदर्य समन्वित रूप की स्थापना कर उसे सम्बल दिया। तुलसी के राम सर्व शक्तिमान, दीन प्रतिपालक और दयालु थे। जनता ने गद्गद् हृदय से तुलसी का आभार नतमस्तक होकर स्वीकार किया। उसमें अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई। चाहे यह अत्याचार धार्मिक हो या सामाजिक तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

"जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भवपीरा॥"

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला। वह सन्तुष्ट हुई। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्श पात्रों का साकार रूप देखा। तुलसी की इसी उद्बोधन शक्ति से चकित होकर युग कवि 'निराला' मुक्त कण्ठ से गा उठा है—

"—देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर

इसका स्वर भर भारती मुखर होएगी ?
निश्चेतन निज तन मिला विकल
छलका शत्-शत् कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएंगी ॥"

और हुआ भी यही।

कुछ आलोचक तुलसी की हिंदू धर्म के प्रति कट्टर आस्था देखकर यह कह उठे है कि तुलसी ने इस्लाम के विरोध में हिंदू धर्म की रक्षा की। तुलसी ने हिंदू धर्म की रक्षा अवश्य की थी परन्तु इस्लाम से नहीं। इस्लाम से रक्षा का प्रश्न तो उनके युग से पूर्व की समस्या थी। अकबर की उदार नीति ने इस समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया था। इसलिए तुलसी को ऐसी संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रदर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने हिंदू धर्म की रक्षा अकबर और इस्लाम से न कर हिंदू धर्म के आन्तरिक शत्रुओं से मत-मतान्तर, द्वेष, कलह, अंध विश्वास आदि से की थी। तुलसी-साहित्य का निष्पक्ष अध्ययन न करने के कारण ही डाक्टर ताराचन्द ने तुलसी को 'कन्ज़र्वेटिव' कहा था और कबीर को 'रैडिकल'। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसी को न तो रैडिकल मानते है और न कन्ज़र्वेटिव वरन् उन्हें लोकहित का उन्नायक मानते हैं। जबतक हमारे आलोचक पक्षपातपूर्ण दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन करते रहेंगे तब तक उन्हें कन्ज़र्वेटिव, कट्टर ब्राह्मणवादी, प्रतिक्रियावादी और न जाने क्या क्या कहते रहेंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने सिद्धान्तों के सीमित दायरे से छुटकारा पाकर निष्पक्ष दृष्टि से तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन करें। ऐसा करने पर सम्पूर्ण मध्ययुग में तुलसी जैसा दूसरा लोक-नायक और कोई नहीं मिलेगा।

तुलसी लोकनायक क्यों बन सके ? इसके लिये तुलसी के जीवन की विविध दशाओं का ज्ञान आवश्यक है। तुलसी जीवन के विभिन्न रूपों का जो अद्भुत समन्वय उपस्थित कर सके इसका कारण यह था कि उन्होंने समाज के नाना स्तरों का जीवन भोगा था। गृहस्थ जीवन की निकृष्टतम कोटि की आसक्ति के वे शिकार रह चुके थे। उच्चकुल के ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर भी दरिद्रता के कारण उन्हें दूर दूर भटकना पड़ा था। निराश्रित होने के कारण एक बार उन्हें मसजिद में भी सोना पड़ा था। जीवन में अशिक्षित एवं निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के दिग्गज पण्डितों का सहवास उन्हें प्राप्त हुआ था। उनको जन भाषा तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य का ज्ञान विस्तृत और अगाध था। पिंगल शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। लोक

और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने ही उनके काव्य को इतना व्यापक बनाया है। उस समय अधिकांश सरस्वती के उपासक केवल आश्रय-दाताओं की प्रशंसा में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य शक्ति का उपयोग कर रहे थे। तुलसी क्रान्तिकारी थे। इसलिए ज्ञान के इस दुरुपयोग से तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछि-ताना" था। उनका मत था कि 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत जन के गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। कबीर ने भी यही किया था। कहा जाता है कि तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखा था। परन्तु उस फक्कड़ का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था? विद्वानों का कथन है कि महान पुरुषों का वास्तविक सुख जन-सुख में निहित रहता है। समाज और महान व्यक्ति अभिन्न होते हैं। गाँधी का व्यक्तिगत सुख क्या था? केवल जन-कल्याण! तुलसी और समाज दोनों अभिन्न थे। इसलिए उनके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था।

तुलसी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका व्यावहारिक आदर्शवाद यह सिखाता है कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए और किसके विरुद्ध युद्ध में पराक्रम दिखाना चाहिए। 'मानस' की धर्मभूमि सत के समर्थन और असत् के निराकरण वाले सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। शंकर के समान उन्होंने अद्वैतवाद के निवृत्तिमूलक धर्म का प्रचार न कर संघर्षपूर्ण सांसारिक विशिष्टा-द्वैतवाद को अपनाया था जिसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समन्वय था। निवृत्ति और प्रवृत्ति के इस समन्वित स्वरूप द्वारा ही वे अपने व्यावहारिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा कर सके थे। इसी कारण तुलसी का जीवन-दर्शन अधि-कांश उत्तर भारत के पारिवारिक जीवन को गत तीनसौ वर्षों से अनुप्राणित करता आरहा है। व्यवहार जगत में अच्छाई बुराई दोनों साथ मिलती हैं। तुलसी के राम के साथ रावण और सीता के साथ मन्थरा है। अच्छाई बुराई से परिपूर्ण जीवन की यह वास्तविकता तुलसी कभी नहीं भूले थे। किन्तु साथ ही क्षणमात्र के लिए वे इस बातको भी नहीं भूले थे कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए। इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करता हुआ तुलसी का व्यावहारिक आदर्श-वाद स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति, व्यष्टि और समष्टि सम्बन्धी व्यवधानों को दूर कर हमें अन्तर्सन्धि, समरसता और सहजता का उपदेश देता है। इसमें व्यवहार जगत की सम्पूर्ण विषमताओं का शमन हो जाता है। व्यव-हार जगत में विष के शत-शत घूँट पीकर भी तुलसी ने भक्ति और प्रेम की अन

कल्याणकारी सुधा से 'मानस' को आप्लावित कर दिया था।

तुलसी का दृष्टिकोण मानवतावादी था। उसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप साकार हो उठा है। उसके मूल में तुलसी की लोक-संग्रह की भावना कार्य कर रही है। उनकी ईशोपासना मानवतावाद के आसन पर ही सिद्ध हुई है। सूर इस लोक संग्रह की भावना के अभाव के कारण व्यवहार जगत से उदासीन रहे। तत्कालीन पद-दलित, विजित दीन-हीन हिन्दू समाज को जन-नायक धनुषधारी राम की कथा सुनाकर तुलसी ने जिस व्यावहारिक आदर्शवाद का प्रतिपादन किया वह मुरलीधर कृष्ण के उपासक सूर के लिए दर्शन-दुर्लभ था। राम ने बाप के राज्य को 'बटाऊ' की नाँईं त्यागकर अशिक्षित जनों के सहयोग से रावण जैसे शोषक अत्याचारी का वध किया था। राम वर्ग-स्वार्थों से मुक्त थे। वे त्याग की मूर्ति थे। इसी से वे जनता के आदर्श बन सके।

मानस की धर्मभूमि विश्वधर्म पर आधारित है। मानव के कर्मक्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही ब्रह्म की व्यापक सत्ता का अनुभव होता है जिसकी चरम परिणति विश्व बन्धुत्व की भावना में है। मानस में इसी कारण व्यापक विश्व-धर्म के लिए सीमित गृहधर्म का भरत द्वारा उल्लंघन कराया गया है क्योंकि व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना के लिए परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं माना जाता। इसी कारण संकुचित गृहधर्म की तुलना में विभीषण ने व्यापक लोकधर्म का पक्ष ग्रहण कर अपने अत्याचारी भाई का नाश कराया था। इसके लिए शक्ति, शील और सौंदर्य समन्वित आदर्श की स्थापना होनी चाहिए। तुलसी ने राम के रूप में यही आदर्श उपस्थित कर लोक को जन-कल्याण का मार्ग दिखाया था। ऐसा आदर्श उपस्थित करने में तुलसी इस कारण और समर्थ हो सके कि उन्होंने कला से अधिक कला और विषय को और कला के विषय से अधिक लोक-मङ्गल की भावना को प्रश्रय दिया था। यदि वे ऐसा न करते तो उनका मानस भी केशव की 'रामचन्द्रिका' बनकर रह जाता। तुलसी जगजीवन के कट्टर समर्थक और शोषकों के विरोधी थे। निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

"तुलसी जगजीवन अहित, कतहुँ कोउ हित जानि।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि॥"

जगजीवन के इस अमर कलाकार की इसी साधना को देखकर तरुण कवि वीरेन्द्र मिश्र मुक्तकण्ठ से पुकार उठा है—

"गीत तुलसी ने लिखे तो आरती सब की उतारी।
[illegible]

हमारी इस गाथा कहानी के अमर गायक तुलसी को यदि कोई प्रतिक्रिया-वादी कहे तो इससे उनका स्वयं का मति-भ्रम ही प्रकाशित होता है। तुलसी के लोकनायकत्व पर कोई आँच नहीं आती। तुलसी की प्रतिक्रियावादिता (?) का दूसरा प्रमाण उनकी नारी भावना है। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' वाली पंक्ति को लेकर तुलसी को नारी-विरोधी कहा जाता है। आलोचक इस पंक्ति को तो देख लेते हैं परन्तु उन पंक्तियों को नहीं देख पाते जिनमें नारी के प्रति तुलसी का हृदय द्रवित हो आठ-आठ आँसू रो उठा है। नारी की पराधीनता को देखकर कवि कह उठा है—

"कत विधि रची नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥"

तुलसी की दृष्टि में पुरुष और नारी का मूल्य समान है। उनके राम-राज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—

"एक नारि व्रतरत सब भारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी॥"

इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को अमान्य करते हुए उन्होंने दोनों को समान रूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था। राम इसके प्रतीक हैं।

तुलसी पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि वे ब्राह्मण धर्म के कट्टर समर्थक और वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक थे। किन्तु देखना यह है कि इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि उदार थी या अन्य पुराण-पन्थियों के समान संकीर्ण। ब्राह्मणों ने, जो पुरोहित वर्ग था उपासना, मुक्ति, वेदाध्ययन, भक्ति आदि का द्वार अछूतों एवं विधर्मियों के लिए बन्द कर रखा था। तुलसी ने उन सबके लिए उस द्वार को खोल दिया। तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो 'अति अघरूप' समझे जाते हैं, उन "आभीर, जवन, किरात, खस स्वपचादि" के लिए भी उनका कहना है कि वे राम का नाम लेकर पवित्र हो सकते हैं। यह उनकी जनवादी भक्ति का स्वरूप है। प्रमाण द्रष्टव्य है—

"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ॥

यह तुलसी का उदारतावादी ब्राह्मण धर्म था। जहाँ तक वर्णाश्रम धर्म का सम्बन्ध है वहाँ तुलसी अपने युग की सीमाओं से बँधे हुए थे। उनके राम वर्ण व्यवस्था के हामी होते हुए भी नीच कही जाने वाली जातियों के साथ इस तरह का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे उनके हृदय की शुद्धता में

किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। शवरी के बेर खाना ऐसा ही प्रसंग है। राम हां क्यों भरत और मुनि वशिष्ठ तक निषादराज के साथ इस तरह का व्यवहार करते हैं जो वर्ण-व्यवस्था के पृष्ठ-पोषक को आश्चर्य में डाल देता है। ये प्रसंग वर्ण व्यवस्था की कट्टरता की धज्जी उड़ाने के लिए यथेष्ठ हैं। तुलसी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उदारतावादी थे। उन पर संकीर्णता का आरोप करना या खींचतान कर उनमें संकीर्णता खोज निकालना पक्षपात रहित नहीं है।

तुलसी का 'रामराज्य' महात्मा गान्धी के रामराज्य का प्रेरक है। गान्धी स्वराज्य का स्वरूप 'रामराज्य' बताया करते थे। तुलसी के रामराज्य का आदर्श वह था जिसमें—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहि ब्यापा॥
बैर न करहिं काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

तुलसी ने 'रामराज्य' की कल्पना क्योंकी? इसके मूल में तत्कालीन समाज की दुरवस्था थी। इसी कारण उन्होंने अनाचारी शासकों की भर्त्सना करते हुए कहा था कि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में—"उत्तर काण्ड में एक ओर रामराज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है। किसी के चित्रण में यह 'कन्ट्रास्ट' नहीं मिलता।" तुलसी के रामराज्य में धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति विरोध आदि के कारण किसी को भी क्षति नहीं उठानी पड़ी।

"तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" लोक और शास्त्र का समन्वय; भाषा और संस्कृत का समन्वय; भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय; गार्हस्थ्य और वैष्णव का समन्वय; निर्गुण और सगुण का समन्वय; ब्राह्मण और चाँडाल का समन्वय; प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय; आदर्श और व्यवहार का समन्वय; विभिन्न काव्य प्रणालियोंका समन्वय आदि विभिन्न विरोधी तत्वों के समन्वय द्वारा उनकी विषमता का निराकरण कर एक स्वस्थ, नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति, शील, सौंदर्य समन्वित चित्रण के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक-संग्रही रूप का अत्यन्त मार्मिक और कलापूर्ण चित्र उपस्थित किया। उस काल के हिंदू धर्म में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में घोर वैमनस्य था। उन्होंने राम और शिव की

एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से भी समझौता करने का प्रयत्न किया था। वे शाक्तों के विरोधी थे। इसी कारण उनके लिए "वैष्णव की छुपरी भली भलो न सावत को बड़ गांव" था। क्योंकि शाक्तों की रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसी से उन्होंने सीता में आदि शक्तिका रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी संस्कार करने का भी प्रयत्न किया। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का यह समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी प्रकार उनके काव्य में अद्वैत, द्वैत और पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ है। भक्त के लिए उन्होंने भगवत कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रधान माना है क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जन साधारण का मानसिक स्तर उसे समझने में असमर्थ था।

तुलसी की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण थी। वे समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोक हित का पूर्ण ध्यान था। उनका मत था कि जब तक लोक मर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जन कल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में समाज में व्यवस्था उत्पन्न होना आकाश-कुसुम के समान है। इसी कारण तुलसी काव्य में ऐसी पंक्ति एक भी नहीं मिलेगी जिसमें मर्यादा का उल्लंघन हो। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। फिर मर्यादा का उल्लंघन कैसा? उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा संतुलित और मर्यादित वर्णन किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर उठती है। हिंदी साहित्य की यह निधि शाश्वत रहेगी। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुख राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखकर लोक ने ललक कर उन्हें अपना लिया। मानस के पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध एवं चित्रकूट की सभा में वर्णित विभिन्न प्रकार की नीतियाँ अब तक हमारा मार्ग प्रदर्शन करती आ रही हैं। यह तुलसी की ही विराट कल्पना का परिणाम था।

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने जहाँ उश्रृङ्खलता देखी वहाँ समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया परन्तु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर एक निर्माणकारी, और कल्याण मयी भावना थी। इसका कारण तुलसी चरित्र की सौम्यता थी। समन्वय का आधार सौम्यता मानी

जाती है। बुद्ध, ईसा, गांधी आदि सभी महापुरुषों का चरित्र मनोरम था। इसी योग्यता के कारण [illegible] के स्थान पर निराला अभि[illegible] है। उन्होंने सन्तों के साथ असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दौं सन्त असज्जन चरना।" [illegible] मर्यादा के अंदर समर्थन [illegible]। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्तिपूजा, तीर्थ, वर्णव्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। परंतु इस समर्थन में भी साम्प्रदायिक कट्टरता न होकर एक विशाल मानवीय उदारता है। उनके खण्डन में उग्रता न होने का प्रधान कारण यह रहा है कि वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणक परिवर्तन में आस्था रखते है। इसी कारण धर्म प्राण हिंदू समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

भाषा और काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी इस युग पुरुष ने समन्वय किया था। भाषा और भावों पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाओं— ब्रज और अवधी को समान भाव से अपनाया। दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे परन्तु लोकहित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इन जन-भाषाओं को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया जिसके कारण उन्हें पण्डितों का कोपभाजन बनना पड़ा था। प्रतिदान में वे अमर हो गये। भाषा के अतिरिक्त पिंगल शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पूर्ण पालन किया था। इसी कारण आलोचक गण शुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी हिंदी-साहित्य में 'मानस' का स्थान अत्यन्त उच्च मानते है। भाषा और पिंगल शास्त्र के साथ ही उन्होंने अपनी समकालीन एवं पूर्व प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों, कवि समयों; प्रतीकों आदि का सफलतापूर्वक उपयोग किया। चंद के छप्पय, कुंडलियों, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीति-पद्धति, ईश्वरदास, जायसी की दोहा चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, पद्धति गंग आदि की सवैया, कवित्त पद्धति एव मङ्गल काव्यों की मङ्गल पद्धति का उन्होंने अपने काव्य निर्माण में उपयोग किया। उन दिनों पूर्वी भारत में अनेक प्रकार के मङ्गल काव्य प्रचलित थे। बंगला में इनकी प्रचुरता है। पर हिंदी में केवल कबीर के नाम पर चलने वाले और बाद के बने हुये आदि मङ्गल अनादि मङ्गल, अगाध मङ्गल आदि रचनाएँ मिलती है जो केवल इस बात के सबूत के रूप में बची रह गई है कि किसी समय मध्यप्रदेश में भी इन मङ्गल काव्यों की बड़ी भारी परम्परा व्याप्त थी। मङ्गल काव्य, विवाह काव्य और सृष्टि-प्रतिक्रिया व्यापक अङ्ग हैं। नन्ददास का एक रुक्मिणी मङ्गल मिलता है और नंद के रासो में संयोगिता को पत्नी धर्म की शिक्षा देने के लिये विनय-मङ्गल नाम का एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से

स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस शैली पर तुलसी ने पार्वती मङ्गल और जानकी मङ्गल नाम के दो काव्य लिखे थे। साथ ही तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाँचर शैली, बसन्त आदि रागों में भी उन्होंने रामकाव्य लिखा था। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीत पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य रूपों को उन्होंने समान हृदय से अपनाया था। यह उनकी अद्भुत काव्य-प्रतिभा का तथा उन्हें युग का प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का ज्वलन्त प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला पुरुष यदि लोकनायक नहीं होगा तो और कौन होगा। तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भाँति कोई मत नहीं चलाया पर हिंदुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-स्रष्टा थे। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में समता की रक्षा करते हुए ऐसे काव्य का सृजन किया जो अब तक उत्तर भारत का पथ-प्रदर्शक रहा है। इसका कारण यह है कि महान् साहित्य सदैव अपने सामने एक महान् लक्ष्य लेकर चलता है जिसके प्रति क्रियाशील रहने की भावना को वह अपने पाठकों के हृदय में सचेत रूप से जगाया करता है। रामचरितमानस में यह गुण विशेष से विकसित हुआ जिसने विवेक और अनुराग, शास्त्र और समाज, ज्ञान और क्रिया के बीच एक दृढ़ समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

तुलसी की इसी महान प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त तुलसी के प्रति श्रद्धाँजलि अर्पित करते हुये लिखते है—"तुलसी की दृष्टि व्यापक और सार्वभौमिक थी। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और जनवादी था। दृष्टि का यह व्यापक प्रसार हमें विश्व के दो ही चार लेखकों या कवियों में मिलता है। जीवन के रंग-बिरंगे चित्र-विचित्र रूप को उन्होंने उसकी समग्र व्यापकता में देखा, हर्ष, विषाद, उल्लास-विलास, जय-पराजय के क्षण उनके काव्य में हम चिरकाल तक सुरक्षित पाएँगे। मनुष्य का, प्रकृति का, समाज का व्यापक दर्शन तुलसी साहित्य में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है। जो विशाल चित्रपट तुलसी ने हमें दिया है, उसके पीछे हम कवि की मूलतः जनवादी दृष्टि ही पाते हैं।" तुलसी की इसी महानता का उद्घाटन करते हुये स्वर्गीय रत्नाकर जी ने अपने एक छप्पय में उन्हें देवताओं के समकक्ष ठहराया है—

"कविता सृष्टि उदार चारु-रचना विरंचिवर।
भक्ति भाव प्रतिपाल विस्नु मद मोद आदि हर॥
बोध विबुध विबुधेस, सेस ध्रुव धर्म धराधर।
सब्द सिंधु सुभ वरुन, अर्थ धन धन्य धनाकर॥
भ्रम तिमिर प्रभंजन कुमति वन, अगिन तेज रवि सुजस ससि।
मुनि तुलसीदास सब देवमय, प्रनवत 'रत्नाकर' हुलसि॥"

५—रीतिकाल

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल सम्वत् १७०० से १६०० तक माना गया है। रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुये आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"हिंदी काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था।" शुक्ल जी के इसी एक वाक्य से इस काल का महत्व स्पष्ट हो जाता है। आगे विवेचन करते हुये शुक्ल जी कहते हैं—"इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गार रस) और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुये।....रीति-ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेक रूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वाग्धारा बंधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये।" आचार्य शुक्ल के उपरोक्त कथनों से संक्षेप में रीति काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। आचार्य शुक्ल एक ओर इस काल को काव्य की पूर्ण प्रौढावस्था मानते हैं और दूसरी ओर विषय की दृष्टि से उसे संकीर्ण और जीवनसे परे कहते हैं। जो युग एक ओर शुक्लजी जैसे सजग आलोचक से प्रशंसा प्राप्त कर रहा है और दूसरी ओर भर्त्सना वह अवश्य ही अद्भुत होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः यह आवश्यक है कि हम इस काल के नाम-करण, परिस्थितियों, विशेषताओं, विकास एवं महत्व का विश्लेषण करते समय पक्षपात रहित बुद्धि से काम लें तभी इस युग के साथ न्याय कर सकेंगे। रीतिकालीन काव्य के संबन्ध में दो प्रकार के मत हैं—एक उसे नितांत अश्लील, हेय और पतनोन्मुख काव्य कह कर उसके प्रति घृणा और द्वेष का भाव जगाता है और दूसरा उस पर रीझकर उसे ही काव्य कहने के लिये तैयार है। इन दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के कारण ही इसके विवेचन में सावधान रहने की आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने इस युग में रीति-ग्रंथों का बाहुल्य देखकर ही इसका

नाम रीतिकाल रखा था। संस्कृत में काव्यात्मा को स्पष्ट करने वाले पाँच सम्प्रदाय मिलते हैं—(१) अलङ्कार, (२) रीति, (३) वक्रोक्ति, (४) ध्वनि, (५) रस। इनमें से रीति सम्प्रदाय 'रीति'; मार्ग या शैली को काव्य की आत्मा मानता है। इसके अनुसार 'रीति', विशिष्ट, विलक्षण या चमत्कारिक पद रचना है। वामन संस्कृत के रीति-सम्प्रदाय के जन्म दाता थे। परंतु हिंदी-साहित्य में इस शब्द का अर्थ विशिष्ट पद-रचना से न होकर उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धांतों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों से माना जाता है। संक्षेप में लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य ही हिंदी का रीति-काव्य है।

विभिन्न विद्वानों ने रीतिकाल को अनेक नामों से पुकारा है। मिश्रबन्धु इसे अलंकृत काल मानते हैं किंतु उनका तात्पर्य अलंकरण के व्यापक अर्थ से रहा है जिसके अन्तर्गत दशाँग कविता आ जाती है। आचार्य शुक्ल का दिया हुआ नाम 'रीतिकाल' यद्यपि तत्कालीन लक्षण-उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तथापि रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित होती हैं। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे शृङ्गार काल के नाम से पुकारा है। यह नाम तत्कालीन सारी कृतियों को समेट कर चलता है। आचार्य शुक्ल ने भी इस नाम की व्यापकता और सार्थकता को स्वीकार कर अन्त में कहा था—"वास्तव में शृङ्गार और वीर दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृङ्गार की रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गार काल कहे तो कह सकता है।" शृङ्गार की वृत्ति तत्कालीन समाज तथा वातावरण की व्यापक वृत्ति थी। काव्य का कोई भी अङ्ग इससे अछूता नहीं था। डाक्टर रसाल इसे 'कलाकाल' कहते हैं क्योंकि काव्य के कलापक्ष का जितना उत्कर्ष उस काल में हुआ उतना और कभी नहीं हो सका। अस्तु, इस युग में अलंकरण, रीतिशैली, कलात्मकता अथवा शृङ्गार-भावना का प्राधान्य होने के कारण इनमें से किसी एक के आधार पर इस युग का नामकरण किया जा सकता है क्योंकि उपर्युक्त भावनाओं का इतना सन्तुलन अन्यत्र दुर्लभ है।

शृङ्गार की इस सर्वव्यापी भावना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियाँ पूर्ण सहयोग दे रहीं थीं। यह काल मुगल साम्राज्य के पराभव और विनाश का काल था। परंतु मुगल शासन का पूर्ण वैभव पर पहुँचा हुआ युग कलाओं की साधना का युग था। उस समय मुगल शासकों की कला प्रियता से कला-कौशल को अतीव प्रोत्साहन मिला था। वह सौंदर्योपासना का युग था। अक-

बर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में काव्य, कला और संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई थी। छोटे छोटे रजवाड़े आंतरिक रूप से स्वतंत्र थे इसलिए उनके दरबारों में भी कला की अबाध साधना चल रही थी। शाहजहाँ के शासन काल के उत्तरार्द्ध तक इन ललित कलाओं का रूप विकृत नहीं हो पाया था। परंतु औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने एक बार पुनः देश में अशांति उत्पन्न कर दी। हिंदू मुसलमानों में पार्थक्य की भावना और बढ़ी किंतु दोनों ही जातियाँ जर्जर हो रहीं थीं। मुसलमान अपनी अत्यधिक विलास प्रियता के कारण और हिंदू पदाक्रांत होने के कारण। इसका प्रभाव साहित्य, कला आदि पर भी पड़ा। फलस्वरूप उनकी गम्भीरता, शुद्धता एवं पवित्रता नष्ट होकर उनमें उच्छृङ्खलता, अपवित्रता एवं वासना का प्राधान्य हो चला।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथों की कठपुतली मात्र थे। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने देश के रहे सहे नैतिक बल को भी समाप्त कर दिया। इस काल में भी परम्परा गत काव्य तथा कला की पूजा थोड़ी बहुत चलती रही। शासक कला प्रेमी थे। उनके दरबारों में कलाकारों और कवियों को आश्रय प्राप्त था। अलंकरण तथा विलास के प्रति शासकों की बड़ी रुचि थी। अतः उनकी रुचि के अनुकूल कवियों को भी रचनाएँ करनी पड़ती थी। सुन्दर महल, वस्त्राभूषण, भरे रनिवास, नृत्य, सङ्गीत चित्रकला, मादक द्रव्य, हास्य विनोद आदि के वातावरण ने जन साधारण और शासकों के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी थी।

इस राजनीतिक परिस्थिति का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। विलास की प्रधानता से भक्ति की धारा मंद हो गई थी। जन-साधारण अशिक्षित और निर्धन था। बाल-विवाह और बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अमीर नैतिक आदर्शों से पतित हो रहे थे। अन्ध भ्रांतियों और अंध रूढ़ियों का बोल बाला था। कला वासना पूर्ति का साधन बन गई थी। इस कला का आलम्बन नारी बनी। नारी का सांगोपांग चित्रण कलाकारों का आदर्श बना। नारी की इस प्रधानता का कारण भक्तिकाल की प्रतिक्रिया थी। भक्तिकाल में सृष्टि की मूल भावना रति को जन जीवन के व्यवाहारिक पक्ष से अलग कर अलौकिक पुरुषों के प्रति समर्पित कर दिया था। रति मुक्ति का साधन थी। इसका आधार आध्यात्मिकता थी। रीतिकाल की रति आध्यात्मिकता के उच्च उच्च एवं काल्पनिक स्तर से नीचे उतर कर घोर भौतिक वादी बन गई।

"चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि॥"

भक्तों ने ऐहिक जीवन की मूल नारी को 'विष की बेल' 'नरक का द्वार' एवं 'दुख की खानि' बताकर उस पर अपमानजनक घृणात्मक प्रहार किए थे। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में इस "अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृङ्गार साहित्य इन्द्रियों की पुकार है।" डा० रामकुमार वर्मा एवं डाक्टर सत्येंद्र भी इसे भक्तिकाल की प्रतिक्रिया मानते हैं।

उस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में दो श्रेणियाँ थीं—उत्पादन कर्त्ता (श्रमिक वर्ग) एवं उपभोक्ता (उच्च वर्ग)। इन दोनों वर्गों में पर्याप्त अन्तर था। उनके मध्य में कलाकारों का वर्ग था जो आए तो थे श्रमिक वर्ग से परंतु उच्च वर्ग का मनोरंजन कर अपनी जीविका जुटाते थे। आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने के लिए इन्होंने तीन बातों का सहारा लिया—१-कामशास्त्र, २ उक्ति-वैचित्र्यका विवेचन करने वाला अलङ्कार-शास्त्र, ३ नायक-नायिकाओं के भेदों एवं स्वभावों का विवेचन करने वाला रस-शास्त्र। इन्हीं उपादानों का सहारा लेकर कविगण नारी जीवन के एक-एक पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर अपने आश्रयदाताओं की वासना तृप्त करने लगे। अपंगु वीरता का भी अतिशयोक्तिपूर्ण गान हुआ। समष्टि रूप से आश्रित कवि अपने प्रभुओं को चमत्कारपूर्ण पद्य सुना कर तत्काल पुरस्कार प्राप्त करने में ही अपना कल्याण समझते थे।

भक्ति काल में राधा कृष्ण के ललित लोकरंजनकारी और शृङ्गारिक रूप की प्रचुरता थी। इसने रीतिकालीन कवियों के लिए शृङ्गार की पूर्व-पीठिका का कार्य किया। तत्कालीन वातावरण उनके अनुकुल था, अन्तर में रसमय अनुभूति थी। बस, काव्य-स्रोत शृङ्गार की बँधी बँधाई नाली में प्रवाहित हो चला। राधा-कृष्ण का आध्यात्मिक बल नष्ट हो गया। वे साधारण लौकिक रँगीले नायक-नायिका मात्र रह गए।

धार्मिक क्षेत्र में कोई नई उद्भावना नहीं हुई। सम्प्रदाय पंथों का रूप धारण करने लगे थे। कृष्ण भक्तों की शृङ्गारिकता ने जनता को आकर्षित कर लिया था। कृष्ण और राधा की अनुराग लीलाओं के साथ जनता का हार्दिक तादात्म्य हो चुका था। शनैः-शनैः यह रास-लीला का प्रसंग ही लौकिक शृङ्गार के चरम उत्कर्ष का प्रतीक बन गया। राधाकृष्ण के रसात्मक स्वरूप के समक्ष रामोपासना की मर्यादित शुष्क धारा फीकी पड़ गई। राधाकृष्ण की आड़ में रीतिकालीन कवियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं का नग्न चित्रण किया। शृङ्गार पूर्णतः ऐहिकता मूलक हो गया। उस काल के कवि यह जानते थे कि राधाकृष्ण के नाम पर की गई शृङ्गारिक रचनाओं को जनता निस्संकोच

ग्रहण कर लेगी। दूसरे शब्दों में राधा-कृष्ण का नाम उनके लिए सामाजिक कवच का कामकर रहे थे। भिखारीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भावना की द्योतक हैं—

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई।
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है

द्विजदेव की भावना भी यही है—

"रसिक रीझिहैं जानि, तौ ह्वै है कविताई सफल।
नतरु सदा सुखदानि, श्री राधिका हरि को सुजस है

साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत के रीतिग्रन्थों एवं फारसी की ऊहात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ रहा था। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण पर आधारित शृङ्गारिक चेष्टाओं को व्यक्त करने वाली परिपाटी प्रारम्भ हो गई थी। इसी का प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा। फारसी तथा उर्दू के प्रभाव के कारण शृङ्गार तथा शैली में चमत्कार का प्राधान्य हो चला था। इन कवियों की छेड़छाड़ तथा नाजुक बयानियों का प्रभाव हिन्दी काव्य पर भी पड़ रहा था। शृङ्गार में बीभत्सता का समावेश फारसी का प्रभाव था। इस काल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ-राज्याश्रय प्राप्त साहित्य और लोक साहित्य। पहला दरबारी कवियों द्वारा उद्भूत हुआ और दूसरा भूषण, लाल और सूदन जैसे कवियों द्वारा। पहले में विलास की तीव्र गन्ध थी और दूसरे में वीरत्व की सजग भावना। परन्तु संस्कृत के रीति साहित्य का प्रभाव इस युग में इतना व्यापक रहा कि इससे भूषण जैसा कवि भी न बच सका।

रीतिकाल में प्रमुख रूप से सात प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं—

१—लक्षण ग्रन्थों का निर्माण—इस काल के लक्षण ग्रन्थकारों के मम्मट का 'काव्यप्रकाश', जयदेव का 'चन्द्रालोक' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' मूलाधार रहे। रस मीमांसा में शृङ्गार की प्रधानता रही। काव्य के विविध अङ्गों रस, अलङ्कार, छन्द आदि की विवेचना हुई। इसका प्रभाव यह पड़ा कि अब काव्य रचनाओं में हृदय की अनुभूतियों का अङ्कन न होकर केवल छन्दों, अलङ्कारों के दृष्टान्त दिये जाने लगे। मौलिकता का अभाव हो गया। संस्कृत ग्रन्थों के रूपांतर करने में ही कविगण व्यस्त रहे। केवल कुछ ग्रंथों को छोड़कर जो नखशिख, षट्ऋतु, अलकशतक जैसे बँधे हुए विषयों को लेकर चले,

शेष सारा काव्य रीति, अलङ्कारों और छन्दों के उदाहरण स्वरूप ही उपस्थित हुआ।

२—लौकिक शृङ्गार की व्यंजना—शृङ्गार आध्यात्मिक न रहकर शुद्ध रूप से लौकिक रह गया। इन कवियों ने 'आँख मूँदिवो' खेलने की आयु से लेकर निस्सङ्कोच 'बालम सो इग' जोड़न तक की परिस्थितियों का वर्णन किया परंतु इस वर्णन में कोई नवीनता न थी। प्राचीन उपमानों के आधार पर वर्णन करने के कारण शृङ्गार रूढ़ हो गया। लौकिक शृङ्गार की यह भावना तीन कारणों से आई—१—संस्कृत के स्रोत साहित्य, जयदेव विद्यापति की शृङ्गारिक रचनाएँ और सूर की शृङ्गारिक भक्ति के प्रभाव स्वरूप। २- संस्कृत के सप्तशती साहित्य का प्रभाव। ३—कामशास्त्र का प्रभाव। कुछ आलोचक शृङ्गार की अधिकता एवं लौकिकता का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से कृष्ण-भक्त कवियों पर डालते हैं।

३—कलापक्ष की प्रधानता—इस युग में भावना की सुकुमारता, अनुभूति की सत्यता एवं कल्पना की मौलिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना उक्ति-वैचित्र्य की ओर। रस से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर गई। इससे भावपक्ष बहुत ही साधारण रहा—कलापक्ष की प्रधानता रही। उस समय अलङ्कार सम्प्रदाय के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण रीतिकाल का काव्य अलङ्कारों का एक समृद्ध कोष बन गया। भाषा में ब्रज और अवधी का मिश्रण था। परंतु उसमें व्याकरण की अवहेलना कर शब्दों के रूप और प्रयोग में मनमानी की गई। दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों की प्रधानता रही। चित्रकाव्य रचना की ओर भी कुछ कवियों का झुकाव था। इन कलाकारों में आचार्य और कवि का भेद जाता रहा। एक ही व्यक्ति ने दोनों का कार्य सम्पादन करने की चेष्टा की।

√ ४—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण—नायक-नायिका की मानसिक दशा के अनुरूप प्रकृति का चित्रण किया गया। संयोग के समय के सुखदायी उपकरण वियोग के समय दुखदायी बन जाते थे। स्वतन्त्र प्रकृति निरीक्षण का अभाव रहा। आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण बहुत कम हुआ। प्रकृति चित्रण विशेषकर षट्ऋतु वर्णन और बारहमासे के रूप में किया गया।

५—मुक्तक-काव्य-रचना—इस युग का सम्पूर्ण काव्य मुक्तक है। इसके दो कारण हैं—१—आश्रयदाता प्रबन्ध काव्य सुनने का समय और अवकाश नहीं पाते थे। उन्हें विलास से फुर्सत ही नहीं मिलती थी। कवि स्वामी की रुचि देखकर तुरंत कविता करते थे जिससे मौलिकता का भी ह्रास हुआ। २—

जीवन का सर्वाङ्गीण क्षेत्र उपेक्षित होकर श्रृङ्गार की प्रधानता थी। इसके लिए मुक्तक शैली ही विशेष उपयुक्त थी। चमत्कार पूर्ण दोहा-साहित्य का बाहुल्य इसी के कारण हुआ।

६—विरक्ति की भावना—लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने राम, शिव, दुर्गा, गंगा आदि की स्तुति पूर्ण भक्ति भाव से की है। यह उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियों का उद्गार था। श्रृङ्गार की अतिशयता में आकण्ठ निमग्न इन कवियों की सम्पूर्ण आत्म-ग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओं में मिल जाते हैं।

७—वीर-काव्य—मुसलमानी शासन के विरुद्ध मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े विद्रोह कर उठे थे। एक हिंदू राष्ट्र की भावना ने इस विद्रोह को प्रशस्त किया। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने हिंदू वीरों की वीरता की प्रशस्तियाँ गाईं।

बाबू गुलाबराय ने रीतिकालकी चार न्यूनताएं बताई हैं जो निम्नलिखित हैं—१—काव्याङ्गों के विवेचन के साथ शब्द-शक्ति का यथोचित विवेचन नहीं हुआ। २—नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा क्योंकि हिंदी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ नहीं थे। ३—विषयों का संकोच हो गया था। कवि परम्परा का अनुगमन कर रहे थे। इससे व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रदर्शन कम हुआ। ४—इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेक रूपता को अपने काव्य में न ला सके तथापि इन्होंने श्रृङ्गार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमें सौंदर्य-दर्शन की चेष्टा की।

हम पहले कह आए हैं कि रीतिकालीन काव्य में संस्कृत रीति काव्य का अनुकरण किया गया था। इस अनुकरण में भी पूर्णता के दर्शन नहीं होते। इसमें संस्कृत लक्षण ग्रन्थों के समान समस्त काव्य सिद्धांतों का न तो पूर्ण विवेचन ही हो सका और न विकास ही। हिंदी-रीतिकाव्य अलङ्कार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में लगा रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना न के बराबर हुई। हिंदी में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रंथ बहुत कम हैं। अलङ्कारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण देने वाले ग्रंथ प्रचुर परिमाण में हैं। प्रस्तुत अलङ्कारों के भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धांतिक प्रकाश डालने वाले ग्रंथों का पूर्ण अभाव है। इस न्यूनता का कारण यह है कि इन कवियों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रंथों का निर्माण न कर केवल साहित्य रसिकों को काव्य शास्त्र के विषयों से परिचित

कराना था। इसी से इनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी नहीं है। इससे हिंदी काव्य-शास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। एक बात में ये कवि संस्कृत के लक्षणकारों से आगे बढ़े हुए थे। वह यह थी कि ये कवि अत्यंत भावुक और सहृदय थे अतः उनके काव्य में रसों और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए जिन्हें देखकर आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी कहना पड़ा कि—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

रीतिकाल के उपर्युक्त विवेचन के उपरांत अब हिंदी में रीतिकाव्यों की परम्परा का विकास देखना भी आवश्यक है। रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जाय केशव को या चिंतामणि को ? यह प्रश्न विवादास्पद है। डा० श्यामसुंदरदास केशव को रीतिकाल का सर्व प्रथम कवि मानते हैं और आचार्य शुक्ल चिंतामणि को। आचार्य शुक्ल का कहना है कि केशव की प्रारम्भ की हुई काव्य-शास्त्रीय विवेचना का अनुकरण परवर्ती कवियों ने नहीं किया। केशव के पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने जिस विवेचना का प्रारम्भ किया था परवर्ती कवियों ने उसी का अनुकरण किया। अतः चिंतामणि ही रीति-काव्य के प्रवर्त्तक माने जाने चाहिए। रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक भले ही चिंतामणि हों परंतु इस परम्परा के सर्व प्रथम कवि आचार्य केशव ही हैं। वैसे तो भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में रीतिकाव्य की नींव पड़ चुकी थी। केशव से पूर्व भी अनेक रीतिग्रंथों का सृजन हो चुका था जिनमें नंददास का 'रस-मंजरी', मोहनलाल मिश्र का 'श्रृङ्गारसागर', तथा करनेस बंदीजन के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', और 'भूपभूषण' नामक ग्रन्थ प्रमुख हैं। रहीम का 'बरवैनायिका भेद' भी इसी परम्परा का ग्रंथ है। परंतु इनमें से कोई भी ग्रंथ महत्वपूर्ण नहीं है। केशव की 'कवि-प्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक पुस्तकें इस परम्परा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। रीति काव्य के रूप में लिखा गया सर्व प्रथम ग्रंथ कृपाराम का 'हिततरंगिणी' माना जाता है।

केशव ने हिंदी में शुद्ध साहित्यिक रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया। उन्होंने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला। ये चमत्कारवादी और अलङ्कार सिद्धांत पर आस्था रखते थे। उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट, आदि आचार्य तथा अलङ्कार शेखर, काव्य कल्पलता आदि ग्रंथ हैं। लक्षणकारों में केशव के उपरांत चिंता-मणि का नाम आता है। इन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्य शास्त्र की व्याख्या

की है। लक्षणाकारों में चिंतामणि से बढ़कर सुगम, स्पष्ट और स्मरणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं। इनके प्राप्य ग्रन्थों में 'पिंगल', 'रसमंजरी' 'शृंगार मंजरी' और 'कविकुल कल्पतरु' है। आगे के कवियों ने चिंतामणि की पद्धति को ही स्वीकार किया। चिंतामणि के साथ उनके भाई भूषण और मतिराम की भी गणना की जाती है। इनमें से भूषण ने वीर रस को और मतिराम ने शृंगार को अपनाया। दोनों में ही विलक्षण काव्य-प्रतिभा थी। दोनों में ही प्रबन्ध रचना की भी प्रतिभा थी परंतु युग की परम्परा और प्रवाह से प्रभावित होकर उन्हें रीति-ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी। "रीति पद्धति को लेकर वीर काव्य लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नहीं, जब कि भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।"

रीतिकाल की प्रथम अर्द्ध-शताब्दि में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम विशेष महत्वपूर्ण है। कुलपति ने 'काव्य प्रकाश' के आधार पर 'रस-रहस्य' नामक ग्रन्थ लिख कर ध्वनि का विवेचन किया। सुखदेव ने लगभग ७२ ग्रन्थ लिखे जिनमें छन्दों और रसों का विवेचन किया है। काव्य की दृष्टि से इनके उदाहरण महत्वपूर्ण और सरस हैं। देव के ग्रन्थों में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता द्रष्टव्य है। इनके लक्षणों मे इनके उदाहरण अधिक मौलिक, मार्मिक, सरस और स्पष्ट हैं। देव शब्द शक्ति के मर्मज्ञ थे। शब्द और वर्णों का सन्तुलन कर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की विशेषता है। उपर्युक्त सभी कवियों में आचार्यत्व की प्रधानता थी।

'पूर्ण पांडित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्म स्पर्शी, ललित काव्य के प्रणेता बिहारी इस काल के ज्वाजल्यान नक्षत्र थे। इनकी सतसई लक्षण रहित रीति ग्रन्थ है। इसमें लगभग सभी पद्धतियों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते है। अलङ्कार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी 'गागर सागरवत' उनकी सतसई में व्याप्त हैं। वे बड़े सजग और सूक्ष्म दृष्टि वाले कलाकार थे। छोटे से दोहे में एक सम्पूर्ण दृश्य को अपनी पूर्ण सुन्दरता और क्रियाकलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता है। देव के उपरान्त रीति काव्य का खूब विस्तार हुआ। कालिदास, सूरति मिश्र, श्री पति, सोमनाथ आदि ने इस परम्परा को खूब बढ़ाया। कालिदास के 'कालिदास हजारा' में एक हजार कवियों की रचनाओं का संग्रह है। सूरति मिश्र के 'काव्य सिद्धांत' में काव्य शास्त्र के सभी अंगों का सुन्दर और अधिकार पूर्ण विवेचन हुआ है। श्रीपति ने अपने 'काव्य सरोज' में काव्य स्वरूप, काव्य कारण, प्रयोजन,

दोष, गुण, अलङ्कार आदि पर विचार किया है। श्रीपति पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती केशव आदि की रचनाओं के दोषों का विवेचन किया है। सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें काव्य शास्त्र पर प्रकाश डाला गया है। ये व्यंग्य को ही काव्य का प्राण मानते हैं। इन्होंने पद्य-लक्षणों के साथ साथ गद्य में उनकी व्याख्या की है।

भिखारीदास रीतिकाल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। इनके ग्रन्थों में 'काव्य निर्णय', 'शृङ्गार निर्णय,' 'छंदोर्णव पिंगल' और 'रस साराश' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कतिपय नवीन प्रसङ्गों जैसे अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। रीतिकाल के अंतिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के अन्तिम प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इनके 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी पद्धति के ग्रन्थ है। वर्ण साम्य और शब्द मैत्री इनकी विशेषता है। बेनी कवि का 'नवरसतरंग' काव्य की दृष्टि से सुंदर है परंतु लक्षण अच्छे नहीं है। प्रताप-साहि के 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की प्रसिद्धि नायिका भेद, अलङ्कार और व्यंग्यार्थ के साथ साथ गूढ़ता के लिए है। उपर्युक्त रीति पद्धति के कवियों के अतिरिक्त इस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो रीति परम्परा से प्रभावित अवश्य रहे किंतु सर्वथा मुक्त रहे। अपने विचार और विषय के स्वातन्त्र्य का उन्होंने अपहरण नहीं होने दिया। स्वच्छंद रीति से काव्य रचना करने वाले इन कवियों में घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे फिर भी इनके काव्य में 'उदाहरणों' के सुन्दर रूप मिलते हैं।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में रीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्न लिखित हैं— १—लक्षणों के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत अथवा पूर्ववर्ती हिंदी काव्य शास्त्र के ग्रन्थ हैं। २—इनमें काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न है। ३—सैद्धांतिक रूप से काव्य शास्त्र का विकास नहीं है। इनमें सर्वकालीन अथवा युग विशेष की काव्य समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान नहीं मिलता। ५—इस पद्धति पर हुए काव्य के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए। ६—उदाहरणों में अधिकाँश बड़े ही सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ७—उनमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्म स्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। कवित्व की दृष्टि से यह काव्य बड़ा मनोरम और समृद्ध है।

भाषा की दृष्टि से रीतिकाल हिंदी साहित्य का सबसे समृद्ध काल है।

आचार्य शुक्ल ने इस काल के कवियों पर भाषा में मिश्रण करने एवं व्याकरण के नियमों को भंग करने का दोष लगाया है। भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द अपना लेने से उसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ती ही है, घटती नहीं। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन इसलिए हुआ कि कवि स्वभाव से मौजी होता है। वह अपनी इच्छानुसार शब्दों को तोड़ा मरोड़ा करता है जैसा कि भूषण ने किया है। यह दोष अवश्य है परन्तु इतना बड़ा नहीं जितना कि उसे समझा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि इस काल का सा भाषा सौंदर्य अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा में कोमल शब्दावली, मुहावरे, कहावतें आदि जितने सुन्दर रूप में इस काल में प्रयुक्त हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। बेनी प्रवीन, घनानन्द, बिहारी, देव, दास, मतिराम, पद्माकर आदि कवियों ने भाषा का जो मनोरम तथा संगठित रूप उपस्थित किया वह आधुनिक युग में भी दुर्लभ है। घनानंद का एक सवैया द्रष्टव्य है—

"प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सुकहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखें रहैं ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

उपर्युक्त प्रत्येक पंक्ति का एक एक शब्द मंजा हुआ है–प्रत्येक पंक्ति दो दो, तीन तीन मुहावरों से सज्जित तथा प्रवाहपूर्ण है। भाषा की यह कलात्मकता उस युगके अनेक कवियों की विशेषता है। बिहारी और देव की शब्दशक्ति को सभी धाक मानते हैं। संक्षेप में, भाषा का यह संगठन रीतिकालीन कवियों में सर्वत्र प्राप्त होता है। भाषा का वास्तविक तत्व अथवा प्राण, उसके मुहावरों को पहचानने तथा उनका प्रयोग करने में इस युग के कवि जितने सावधान रहे हैं उतने आज के कवि भी नहीं हैं। 'भाषा का लालित्य, उसकी अभिव्यंजन-शक्ति, उसका चलतापन, उसकी स्वाभाविक संगीतात्मकता आदि का सुखद संयोग उस युग में हुआ, उसकी ब्रजभाषा-माधुरी और उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गये।'

रीतिकालीन काव्य पर एक सबसे बड़ा आक्षेप उसमें घोर अश्लीलता का होना है। यह सत्य है कि इस काव्य में शृङ्गार का अश्लील चित्रण हुआ है और वह भी बहुत बड़े परिमाण में। परंतु सूर, विद्यापति आदि के अनेक पद अश्लीलता में इनसे भी बाजी मार ले जाते हैं। फिर भी अश्लीलता का यह चित्रण आश्रयदाताओं की मनोभावनाओं को सतुष्ट करने के लिए ही अधिक हुआ है। कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस ओर नहीं गई है। प्रायः सभी

शृङ्गारी कवियों ने शृङ्गार की इस अतिशयता से ग्लानि अनुभव कर भगवान से अपने उद्धार की प्रार्थना की है। यदि वे स्वभाववश ऐसा करते तो उनके लिखे हुये भक्ति से ओतप्रोत ऐसे पद नहीं मिलते जिनमें उनके दुख, नैराश्य, आत्मग्लानि, क्षोभ आदि साकार हो उठे हैं। रीतिकालीन चित्रणों के भीतर हेय प्रसंग और चित्रण वे हैं जहाँ काम शास्त्र के आधार पर या वासनात्मक रूप में शास्त्रीय आधार के बहाने रति आदि का खुला और सीधा चित्रण है। ये प्रसङ्ग अवश्य वर्ज्य हैं। दूसरा दोष यह माना जाता है कि यह काव्य समाज को प्रगति देने में समर्थ नहीं है। इनमें सामाजिक आदर्श और प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति नहीं। परंतु बिहारी, वृन्द, विक्रम आदि की सतसइयाँ, गिरिधर, दीनदयालगिरि आदि की कुण्डलियाँ, बैताल, घाघ के छप्पयों और कहावतों तथा रसनिधि, रसलीन आदि के दोहों में व्यक्तिगत अनुभवों और दृष्टिकोण के आधार पर समाज और व्यक्ति के जीवन में उपयोगी ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जो आज भी मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता रखती हैं।

इस काल के साहित्य के विषय में एक और भ्रमात्मक धारणा यह फैली हुई है कि इस युग में प्रेम और शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर लिखा ही नहीं गया। परंतु वास्तविकता इसके विपरीत है। उसमें वीर काव्य को तो सभी स्वीकार करते हैं। उसमें भक्ति-काव्य की भी रचनाएँ हुई हैं। निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के भाव बराबर दिखाई देते हैं। इसी युग में ही जगजीवनदास, यारी, दरिया, पलटू, शिवनारायण आदि निर्गुण सम्प्रदायों के प्रचारक हुए। प्रेम मार्गी कवि नूर मुहम्मद, निसार, ख्वाजाअहमद, आलम आदि इसी युग की देन हैं। इतना ही नहीं विशुद्ध शृङ्गारी कवि बिहारी, देव, पद्माकर आदि ने भक्ति-भाव से ओतप्रोत छन्द लिखे हैं। इसके साथ ही नीति, उपदेश, हास्य आदि पर प्रचुर रचनाएँ हुई हैं। इनका उद्देश्य लोक व्यवहार की शिक्षा तथा सामाजिक व्यंग्य है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति को व्यवहार पटु बनाने का प्रचुर प्रयत्न इन कवियों द्वारा हुआ है। इन कवियों ने वास्तविक जीवन में व्याप्त आशाओं, लालसाओं, आकाँक्षाओं, रूप-तृष्णा, सौंदर्य, प्रेम, विलास, त्याग, साहस, खीझ का यथातथ्य वर्णन किया है। लोकजीवन के बीच वास्तविक बातों का अनुभव और ज्ञान संग्रह के रूप में हमें इस युग में ऐसे ग्रंथ मिलते हैं जो राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन शास्त्र, मांस-पाक, सुरापान, मैत्री, संगीत शास्त्र आदि पर लिखे गए हैं। विषयों की इतनी विभिन्नता होते हुए भी काव्य की दृष्टि से शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ ही अधिक महत्व की होने के कारण

उन्हीं की ओर हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ जिससे हम अन्य रचनाओं की ओर ध्यान न दे सके।

संक्षेप में, भावानुभूति, रसात्मकता, कलाकौशल, संगीतात्मकता, भाषा संगठन आदि सभी काव्य गुणों से इस युग का काव्य परिपूर्ण है। उसमें अश्लीलता अवश्य है। जिस प्रकार हम शृंगारात्मक कृष्ण काव्य के अश्लील अंशों को निकाल कर शेष भाग स्वतन्त्रतापूर्वक नवयुवकों को पढ़ने देते हैं उसी प्रकार इस काल के काव्य का संकलन कर विद्यार्थियों को दे सकते हैं।

६- -आधुनिक काल

साधारणतः आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८५० से माना जाता है। यह सन् भारतेन्दु का जन्मकाल है और आधुनिक युग का प्रथम चरण भारतेन्दु से सम्बन्धित है। भारतेंदु युग का विवेचन करने के लिए हमें उस समय का विवेचन करना पड़ेगा जब यूरोपिय संस्कृति और आदर्शों के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नव-जागरण का स्पन्दन प्रारम्भ हुआ था। इसी को लक्ष्य कर अनेक विद्वान इस काल को 'पुनर्जागरण काल' भी कहते हैं। सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता-युद्ध के असफल हो जाने से ब्रिटिश शासन सत्ता हमारे देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई। इस असफलता से उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति की पोषक थीं। उनका पराभाव होने से एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सामन्ती-व्यवस्था अपने पूर्व रूप में लुप्त होने लगी। इस परिवर्तन के लक्षण बहुत पहले से दिखाई देने लगे थे। चाहे अंग्रेज यहाँ आते या न आते यह परिवर्तन अवश्यम्भावी था। प्रख्यात कम्युनिष्ट लेखक रजनी पामदत्त का तो यहाँ तक कहना है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रांति में विलम्ब ही हुआ। अंग्रेजों ने हमारे निरन्तर विकासमान उद्योग-धन्धों को नष्ट कर हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति पर एक ताला सा डाल दिया। रीतिकाल के अन्त के साथ ही पुरानी सामन्ती-व्यवस्था और संस्कृति का अन्त हो गया और उसके बाद आधुनिक काल का व्यावसायिक क्रांति और संस्कृति का नव जागरण युग प्रारम्भ हुआ जिससे पूँजीवादी व्यवस्था का उत्कर्ष बढ़ने लगा। भारत की साहित्यिक आत्मा जो सीमित और रूढ़िवादी सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी इस नवीन संस्कृति के आगमन एवं संस्पर्श से जाग उठी।

प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महत्व पूर्ण स्थान है। कार्ल मार्क्स, डारविन, भारतेन्दु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, टालस्टाय आदि महापुरुषों के त्याग और तपस्या का यही काल था। इन वैज्ञानिकों, समाज-सुधारकों और साहित्यिकों ने मानव-विकास के मार्ग में अड़ी हुई बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने

सबल हाथों से टेलकर एक ओर कर दिया ।"""हिंदुस्तान में सन् ५७ के पहले रीतिकालीन परम्परा का जोर था—यह वह संस्कृति थी जो समाज को निकम्मा बनाए थी।"""एक दिन वह महल ढह कर गिर पड़ा।""लाखों किसानों का रक्त बहा। नवाबी का अन्त हुआ। लोगों ने एक सुख की साँस ली।" इस वक्तव्य से उक्त परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आधुनिक युग की प्रेरक विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नए साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नए परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किंतु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नए उद्योग-धंधे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए।""""" रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किए, वे भारत में एक नए जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। अंग्रेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलट कर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा।" इस नवीन शिक्षा से जाति में नव-चेतना का जागरण हुआ।

हमारा भक्तिकालीन साहित्य जनता का साहित्य था और रीतिकालीन साहित्य दरबारों का। आधुनिक हिंदी साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नए वर्ग का साहित्य है जो नवीन शासन और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंग मंच पर प्रवेश कर रहा है। यह साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। इसका प्रधान कारण यह है कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था और इसी बदलते हुए दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। नव-जागरण से उत्पन्न विचार-स्वातंत्र्य के प्रभाव से हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ कर एक नए युग में प्रवेश किया।

ब्रह्म समाज और और आर्य समाज के रूप में हमारा धार्मिक दृष्टिकोण सुधारवादी रूप ग्रहण करने लगा था। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर सामाजिक सुधार की आवाज बुलन्द की। राम मोहन ने पश्चिम से प्रेरणा ली और स्वामी जी ने प्राचीन वैदिक संस्कृति की नई व्याख्या दी। दूसरी ओर विभिन्न करों, अकालों तथा राजकीय अत्याचारों से जनता में जागृति हुई। इस हलचल के युग में रीतिकालीन

श्रृङ्गारिक भावना लुप्त हो चली।

मुद्रण-कला के प्रचार ने भी इस काल के साहित्य को सर्व-सुलभ और जन-प्रिय बनाने में बहुत योग दिया। पहले साहित्य एक विशिष्ठ वर्ग तक ही सीमित था। प्रेस ने उसे प्रजातांत्रिक रूप देकर जन साधारण के लिए सुलभ बना दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, कहानियाँ आदि प्रेस के कारण खूब प्रचारित हुईं। "इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि में और उसकी नई-नई शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सहायता नहीं दी बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन में भी योग दिया। प्रेस के साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस काल के साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इतिहास और पुरातत्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में, और नई पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपियन पंडितों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। इसने आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हिंदी साहित्य का उपकार किया।" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिंदी-साहित्य) अंग्रेजों के प्रयत्न से हिंदी गद्य के सुव्यवस्थित रूप का प्रचार हुआ। इन्होंने भारतीय विद्वानों द्वारा हिंदी उर्दू की पुस्तकें भी लिखवाईं।

इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों ने भी हिंदी का प्रचार करने में योग दिया। उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तकों का हिंदी अनुवाद कर के, ईसाई धर्म के प्रचारार्थ, जनता में वितरित किया। अंग्रेजों की प्रेरणा से कई समाचार पत्र भी निकले। शिक्षा प्रसार के लिए स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की गई। शिक्षा संस्थाओं एवं शासकीय कार्यों में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सरकार द्वारा हिंदी की उपेक्षा कर उर्दू को प्रश्रय दिया गया। देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। परन्तु जनता ने हिंदी के प्रोत्साहन एवं प्रचार में पूर्ण योग दिया। हिंदी-प्रेमियों ने स्थान-स्थान पर पाठशालाएं स्थापित कर हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था की। इस प्रकार समस्त विरोधों और उपेक्षाओं को पद-दलित कर, हिंदी, केवल अपनी आंतरिक प्राण शक्ति के बल पर आगे बढ़ती गई। सन् १८८५ में "इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस" की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर भारतीय चिंताधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया। वह क्रमशः सामाजिक सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में समर्थ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई। उस समय न तो वैज्ञानिक विवेचन का ही प्रश्न उठा और न 'वर्ग' और 'वाद' का ही। उस समय हम यही सोच रहे थे कि—"हम

कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।" इस काल की कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी साहित्यिक कृतियों में इस राजनीतिक चेतना का प्रभाव लक्षित होता है। साथ ही इस साहित्य के भावों, विचारों तथा शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल के साहित्य की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं कि—"उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिंदी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नवभारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्वाकाँक्षायें प्रकट कर के अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इङ्गित किया है।"

आधुनिक युग की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त परिचय देते हुए बाबू गुलाबराय ने लिखा है—"अंग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन की भी जागृति हुई।....लोग अपनी सभ्यता को महत्व देने लगे। हिंदू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबिला करने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना प्रारम्भ किया। ....ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। अतः अङ्गरेजी राज्य के साथ-साथ गद्य का युग आया। ....पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था किंतु नवीन युग के आ जाने पर उसकी कोमल-काँत पदावली जीवन की सङ्घर्षमयी कठोर भूमि के लिए अनुकूल न सिद्ध हो सकी। ब्रजभाषा गद्य के उपयुक्त न ठहरी। अरबी फारसी भी व्यवहार योग्य भाषाएँ न थीं।" इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ी बोली पहले केवल गद्य की भाषा स्वीकार की गई और बाद में गद्य पद्य दोनों का माध्यम बनी।

परिस्थितियों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की सबसे प्रधान प्रवृत्ति राष्ट्रीयता, देश प्रेम अथवा स्वतंत्रता की भावना थी। राष्ट्रीय वीरों का गान, राष्ट्र पतन के लिये दुख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिंदू जातीयता, ये आधुनिक काल के प्रारम्भिक उत्थान की प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं। भारतेंदु काल से प्रारम्भ होकर ये प्रवृत्तियाँ निरंतर विकसित, परमार्जित और अन्य अनेक नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होती हुई चली आ रही हैं। बीसवीं शताब्दी में आकर इनमें कुछ नितांत नवीन प्रवृत्तियों का मिश्रण हो गया है, जैसे रहस्यवाद और छायावाद। भारतेंदु काल से द्विवेदी काल तक इस साहित्य की धारा एक रस चली आई। छायावादी युग में आकर इसमें :

अकस्मात् परिवर्तन दिखाई दिया। राजनीतिक आंदोलनों की असफलता ने युवकों को निराश और पलायनवादी बना दिया। इस निराशा, पलायन की भावना और साथ ही सौंदर्य की भावना ने छायावाद को जन्म दिया। यहाँ आकर हिंदी काव्य मानव जीवन से हट कल्पना लोक में विहार करने लगा। छायावाद का प्रारम्भ सन् १६२० के लगभग माना जाता है। सन् १६३५ के बाद हिंदी साहित्य में पुनः एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया दिखाई दी जिसने छायावाद की काल्पनिकता का विरोध कर साहित्य को जन जीवन की ठोस, वास्तविक भूमि पर आने को ललकारा। यह नवीन परिवर्त्तन 'प्रगतिवाद' कहलाया जो आज साहित्य की सबसे प्रबल विचार धारा है।

इस काल की सबसे प्रधान घटना खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ और खड़ी बोली द्वारा ब्रजभाषा को अपदस्थ कर स्वयं गद्य पद्य का माध्यम बन जाना है। यह हिंदी साहित्य के इतिहास की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के इतिहास की सबसे अभूतपूर्व घटना है कि केवल ५० वर्षों के छोटे से समय में एक सर्वथा उपेक्षित और नगण्य भाषा ब्रजभाषा जैसी पूर्ण साहित्यिक और जनप्रिय भाषा को दबाकर साहित्य की एक मात्र भाषा बन बैठी। इस काल में साहित्य कभी जन-जीवन को छूता हुआ चला है और कभी उसकी उपेक्षा भी की है। परिवर्तन बहुत शीघ्र और अस्थायी होते रहे हैं। यह काल हिंदी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक घटना पूर्ण, परिवर्तन शील और बहुमुखी रहा है। इसी कारण बहुत से विद्वान इसे हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहते हैं। इसमें साहित्य के प्रत्येक अंग का पूर्ण विकास हुआ है। साथ ही विभिन्न साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता भी रही है। यह पूर्ववर्ती साहित्य से अधिक प्रगतिशील और आशाजनक है। इसके कई कारण हैं—१—गद्य का प्रकाश, २—राष्ट्रीय भावों की प्रधानता। आज की राष्ट्रीयता में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी समस्याओं का समावेश है। ३—शुद्ध शृङ्गारिकता—भक्ति की मर्यादा एवं रीति की अति से दूर मध्यम मार्ग—शुद्ध वातावरण। ४—आज का साहित्य जीवन के अधिक समीप है। पहले कल्पना थी और अब वास्तविकता का प्राधान्य है। इस युग में छायावाद को छोड़कर सर्वत्र मानव जीवन को प्रधानता दी गई है। ५—दार्शनिकता की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद के रूप में हुई है। ६—साहित्य के सभी अङ्गों का पूर्ण विकास। पहले केवल कविता थी और आज गद्य के साथ सब कुछ है। ७—वादों की प्रधानता—अन्य युगों में वादों की प्रधानता नहीं थी। इस युग में तो वादों की बाढ़ सी आ गई है।

यहाँ तक हम आधुनिक काल की परिस्थितियों तथा प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन कर आए। इस काल को विद्वानों ने कई विभागों में बाँटा है। अतः इस काल के क्रमिक विकास का संक्षिप्त अध्ययन आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल के इतिहास को तीन उत्थानों में विभाजित किया है—१—प्रथम उत्थान, सम्वत् १९२५-५०, २—द्वितीय उत्थान, सम्वत् १९५०-७५, ३—तृतीय उत्थान सम्वत् १९७५ से प्रारम्भ। अन्य आलोचकों ने इस काल को भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग में विभाजित किया है। परंतु 'छायावाद' केवल आधुनिक हिंदी काव्य से संबंधित है। इसलिए गद्य साहित्य को इसके अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। कुछ आलोचकों ने इस काल के विभिन्न साहित्यांगों के प्रतिनिधि साहित्यकारोंके नाम पर इसे 'प्रेमचंद प्रसाद-शुक्ल' काल माना है। प्रकाशचंद्र गुप्त ने तृतीय उत्थान को 'नवयौवन' काल की संज्ञा दी है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तृतीय उत्थान को तीन मोटे विभागों में बाँटा है। १—सन् १९२० से १९३० तक—पुराने संस्कारों के प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारों के बीजारोपण का समय; २—सन् १९३० से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक—असंतोष का निश्चित रूप धारण करना, नवीन रचनात्मक विचारधाराओं की उद्भावना; ३—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ (१९३९) से अब तक—नवीन साहित्यिकों में मतभेद।

प्रथम उत्थान—(भारतेंदु युग)—भारतेंदु आधुनिक साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनका युग आधुनिक हिंदी-साहित्य का प्रवेश द्वार है। इस युग को हम संक्रांति अथवा संधि का युग भी कह सकते हैं। यह युग प्राचीन परंपराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए भी नवीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को लेकर आगे बढ़ा। इस युग में खड़ी बोली को सर्व प्रथम गद्य का माध्यम स्वीकार किया गया। पद्य की भाषा ब्रज भाषा ही रही। भारतेंदु के नेतृत्व में खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास और प्रचार हुआ। परंतु इस युग का अधिकांश पद्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। उस पर मध्यकालीन परंपरा का बहुत प्रभाव है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का संघर्ष भी इसी युग में प्रारम्भ हो गया। इस युग में अनेक नवीन गद्य रूपों का विकास हुआ। इन नए रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का प्रारम्भ और विकास हुआ।

हिंदी गद्य के प्रवर्तकों में चार प्रथम पुरुषों के नाम आते हैं। मुं० सदासुखलाल (सुखसागर), इंशाअल्लाखाँ (रानी केतकी की कहानी), लल्लूजी लाल(प्रेमसागर), और सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान)। इस युग में खड़ीबोली

गद्य की रूपरेखा प्रस्तुत हो रही थी। इस नव-निर्माण के कार्य में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी यथेष्ठ योग रहा। इनमें उदन्त मार्तण्ड, कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीनिवास दास कृत परीक्षा गुरु, हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जाता है। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित सामाजिक उपन्यासों ने हिंदी में उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासों में केवल घटना-वैचित्र्य है—चरित्र-चित्रण नहीं। हिंदी में नाटक भी लिखे जा रहे थे। भारतेंदु से पूर्व प्रबोध-चंद्रोदय, देवमाया प्रपंच, रुक्मणी हरण आदि नाटक लिखे गए थे। परंतु हिंदी का सर्वप्रथम आधुनिक नाटक गिरधरदास का 'नहुष' माना जाता है। इसके उपरांत भारतेंदुने दर्जनों मौलिक और अनुवादित नाटक हिंदी साहित्य को भेंट किए। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। आलोचना का प्रारम्भ श्रीनिवास दास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना से हुआ। लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना इसी युग से प्रारम्भ हुई। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना शैली का अध्ययन कर अपने युग के लेखकों के सम्मुख नए आदर्श उपस्थित किए। इसी युग में निबन्ध, जीवनी आदि का भी प्रारम्भ हो गया था।

काव्य के क्षेत्र में इस युग के कलाकारों ने प्राचीन परम्परा को अपनाया तो अवश्य परंतु उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेंदु ने प्रकृति, शृङ्गार, कृष्णलीला आदि का वर्णन अपनी स्वतंत्र अनुभूति से किया किंतु काव्य में सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन से हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हटकर जीवनकी ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरंतर 'टिक्कस' अकाल और महामारी जैसी आपदाओं का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्च कोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया गया। ऐसे तीखे और मार्मिक व्यंग्य के दर्शन हिंदी साहित्य में फिर नहीं हो सके। उस युग की परिस्थिति में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र बन सकता था। इस युग के लेखक उस वर्ग के लिए लिख रहे थे जिसके वे स्वयं अङ्ग थे। यह साहित्य सामंतों का साहित्य न होकर मध्यम वर्ग का साहित्य था। परंतु यह युग नवीन विधाओं, नवीन भाषा और नवीन विचारों [illegible] प्रयोग काल था। इसलिए इस साहित्य में एक नटखट, चपल, सरल बालक का सा उन्मुक्त उल्लास

खीझ और मस्ती थी। वहाँ बनावट के लिए कम स्थान था। इस युग का साहित्य नवीन विचारधारा की आकुलता तो व्यक्त करता है किंतु उसमें अभी परिष्कार, गम्भीरता और विकास की बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है पर व्यक्तित्व अवश्य है। यह गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज सशक्त है। इस काल के साहित्यकारों में भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये प्रमुख रूप से निबंधकार हैं।

द्वितीय उत्थान—(द्विवेदी युग)—विचारों के क्षेत्र में नवीन और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस युग की प्रेरक शक्ति थे। आपने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप युग चेतना पर छोड़ी कि इस काल को आलोचकों ने 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा दी। "नए विचार और नई भाषा, नया शरीर और नई पोषाक, दोनों ही नई हिंदी को द्विवेदी जी की देन है। इसी कारण वे नई हिंदी के प्रथम और युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेक मुख सामग्री भेंट करने में है।" (नंददुलारे वाजपेयी) द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक के रूप में युग की भाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा का निर्माण करते रहे। आपने खड़ी बोली को परिष्कृत कर उसे काव्य की भाषा के पद पर आसीन कर ब्रज भाषा और खड़ी बोली के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया। इस युग में हिंदीसाहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ठ परिमार्जन और विकास हुआ। कविता, कथा साहित्य और आलोचना में प्रौढ़ता के दर्शन हुए। इस युग की अनेकरूपता को लक्ष्यकर डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के धन-खण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबंध काव्य, गीतकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना प्रधान, भाव प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएं हुईं। समालोचना और निबंधों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

इस युग के लेखकों पर पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। वे रीतिकालीनशास्त्रीय और परंपरावादी साहित्य से भिन्न, अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए, नए माध्यम और मार्ग खोज रहे थे। इसके लिए इन लेखकों ने अपनी कला का शृङ्गार किया परंतु इनके भावों, अनुभूति और

कल्पना में वह गहराई नहीं आने पाई जो आगे चलकर छायावाद में दिखाई दी। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार खूब हुआ किंतु हम लक्ष्य से अभी दूर थे। अभी अपने साहित्य का पथ निर्धारित करने में व्यस्त थे। इस निर्धारित पथ का सुचारु उपयोग छायावादी कवियों ने किया।

मैथिलीशरण गुप्त इस युग के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। इन्होंने अनेक छोटे बड़े काव्यों का सृजन कर प्रतिनिधि कवि की पदवी प्राप्त की है। इनके काव्य में प्रवाह, गति और एक सीमा तक गांभीर्य भी है। भारत-भारती, साकेत और यशोधरा इनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। इनके काव्य द्वारा खड़ी बोली के स्वरूप में अधिक स्पष्टता और माधुर्य आया। उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता भी आई परंतु फिर भी भाषा में एक अटपटापन शेष रह गया जिसका परिमार्जन छायावादी कवियों ने किया। गुप्तजी की अपेक्षा हरिऔध-साहित्य में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता कल्पना, अनुभूति और गाम्भीर्य है। हरिऔध निरंतर भिन्न-भिन्न बोलियों के प्रयोग करते रहे तथा किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे। आपका 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य है जिसमें संस्कृत के अतुकांत छंदों का पुनः प्रचलन किया गया है। पं० श्रीधर पाठक ने अँग्रेजी अनुवादों द्वारा हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। इस युग में अनेक पत्र पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। इस काल के अन्य कवियों में सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गोपालशरण सिंह, सत्यनारायण कविरत्न, एक भारतीय आत्मा आदि प्रसिद्ध हैं।

इस युग में गद्य का भी समुचित विकास और प्रसार हुआ। वास्तव में इस युग में गद्य की ही प्रधानता रही। समालोचना का विकास सन्तोषजनक हुआ। द्विवेदी जी स्वयं उच्चकोटि के आलोचक थे। आपकी आलोचनाओं में भाषा-सम्बन्धी भूलों एवं दोष-निदर्शन की ही अधिकता रहती थी। मिश्र बन्धुओं ने 'नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' लिखे। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना खूब प्रसिद्ध हुई। 'देव बड़े कि बिहारी' इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक अत्यन्त गम्भीर एवं सारगर्भित पुस्तक लिखी। इस आलोचना में प्राचीन शास्त्रीय और नवीन पाश्चात्य दोनों प्रभाव कार्य कर रहे थे। नाटकों के क्षेत्र में बंगला से अनूदित नाटकों का खूब प्रचार हुआ किन्तु अभी तक हिन्दी-नाटकों में किसी स्वतन्त्र परम्परा का विकास नहीं हो पाया था। उपन्यासों में

गोपालराम गहमरी और खत्री जी के उपन्यासों की धूम थी। अनुवाद भी खूब हुए। इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि की कमी थी। द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य को सम्पन्न, बहुमुखी और सशक्त बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसमें आधुनिक साहित्य शैली का निर्माण हो चुका था। यह समय हमारे देश में गम्भीर राजनीतिक और सामाजिक उथल पुथल का युग था। इसी कारण देशभक्ति का स्वर इस युग में सबसे प्रमुख रहा। प्रेरणा बहुमुखी रही। इसीसे उसमें कलात्मकता का पूर्ण विकास नहीं हो पाया। द्विवेदी जी जैसा साहित्य का सजग और सतर्क प्रहरी अहर्निशि हमारी भाषा और साहित्य का परिष्कार कर उसे आदर्श की ओर उन्मुख करने में दत्तचित्त रहा। यह एक प्रकार से नव-निर्माण का काल था। इसी कारण इस काल के साहित्य में अपेक्षित सरसता और नवीनता का अभाव मिलता है। साहित्य इतिवृत्तात्मकता के संकुचित घेरे में बंधकर चला, इसलिए उसका बहुमुखी विकास नहीं हो सका, यद्यपि आगे होने वाले बहुमुखी विकास का पूर्ण आभास इसी युग में मिलने लगा था।

तृतीय-उत्थान—(नव-यौवन या नव-जागरण काल) इस युग में साहित्य की विभिन्न विधाओं में विस्तार, गाम्भीर्य, मार्मिकता, परिष्कार एवं सुन्दर कला के दर्शन हुए। प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान आदि; प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और कामायनी जैसा काव्य; पंत; महादेवी, निराला के अनेक काव्य संग्रह (पन्त-पल्लव, गुंजन, ग्राम्या; निराला-अनामिका, गीतिका, परिमल; महादेवी-रश्मि, सान्ध्यगीत, दीपशिखा) आदि तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ एवं निबन्ध संग्रह प्रकाश में आए। यह हिंदी साहित्य का प्रौढ़तम रूप है। यह युग काव्य में छायावाद, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में प्रसाद और आलोचना में शुक्ल जी का युग है। राजनीतिक दृष्टि से यह साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की पराजय का युग है। इसी युग में हमने पूर्ण उत्साह, लगन, संगठन और आत्मविश्वास के साथ विदेशी शासन से टक्कर ली। यह नवीन उल्लास इस काल के साहित्य में कलात्मक रूप में मुखरित हो उठा। तृतीय उत्थान विचित्र साहित्यिक युग है। इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी, नाट्य-साहित्य ऐतिहासिक, आलोचना-साहित्य पुरातन वादी और शास्त्रीय है। यह विविधता इस युग की बहुमुखी प्रतिभा की परिचायक है।

इस काल में सभी शैलियों का पूर्ण विकास हुआ। विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं के प्रभाव का इस शैली निर्माण में विशेष हाथ रहा। डा० श्रीकृष्ण

लाल के शब्दों में—"हिंदी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अंग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया।"

हिंदी कथा साहित्य का पूर्ण विकसित रूप प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में दिखाई दिया। उनके विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में रोचकता और कलात्मकता के साथ साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी मिली। उनका दृष्टिकोण जनवादी था। उनके प्रमुख पात्र और चरित्र उसी धातु के गढ़े हुये थे जिसके वे स्वयं थे। उनमें जीवन की परिपूर्ण निष्ठा है। उनके उपन्यासों में करुणा है परंतु निराशा नहीं। वे आस्थावान और प्रगतिशील लेखक हैं। उनकी रचनाएँ साहित्यिक भूख को तो शान्त करतीं ही हैं साथ ही आन्तरिक चेतना को भी प्रेरणा देतीं हैं। 'कौशिक' और 'सुदर्शन' प्रेमचन्द की ही भांति अपने कथा-साहित्य में उदार, यथार्थवादी परम्परा का पोषण करते रहे जिसके मूल में आदर्श की चेतना थी। प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय और यशपाल नए पथों का अनुसरण कर रहे हैं। प्रेमचन्द ग्राम्य जीवन के चित्रकार थे और ये मध्यम वर्ग के। कुछ सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों ने विशेष प्रसिद्धि पाई। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों से हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया। इन नाटकों में उच्चकोटि की साहित्यिकता है। साथ ही इनमें इतिहास का गहरा मनन और अध्ययन, कथावस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण, गहरी अनुभूति आदि के दर्शन होते हैं। अन्य नाटककारों में रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आधुनिक, यूरोप से प्रभावित, नाट्य शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। इस काल में एकाँकी नाटकों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इधर भारतीय जन-नाट्य-संघ (इप्टा) ने रंगमंच की परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न किया है, फिर भी हमारा नाटक साहित्य के अन्य अंगों के समान समृद्ध नहीं है।

समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी जी आदि की बदौलत एक नवीन साहित्य-चेतना तो उत्पन्न हुई पर साहित्यिक मार्ग दर्शन ठीक से न हो सका। यह कार्य आचार्य शुक्ल जी की समीक्षाओं ने किया। शुक्ल जी का प्राचीन साहित्य का अध्ययन गम्भीर और विशाल था। साथ ही वे एक सामाजिक द्रष्टा और विचारक भी थे। काव्य के स्वरूप की उनकी पैठ गहरी थी। उन्हें श्रेष्ठ रचना

की मार्मिक पहचान थी। "उनमें साहित्य को असाहित्यिक वस्तुओं और प्रवृत्तियों से एक दम दूर रखने का अनुपम विवेक था। शुक्ल जी के इस विवेक का मूल्य और महत्व हम आज अच्छी तरह समझ पाते हैं, जब कि कोरे दार्शनिक या साम्प्रदायिक ग्रन्थों की बहुत सी बेकार चर्चा साहित्यिक अनुशीलन के नाम पर हमारे ऊपर लादी जा रही है।" (नन्ददुलारे वाजपेयी) आचार्य शुक्ल ने समालोचना और निबंध को बहुत ऊँचा उठाया। उनके तुलसी, सूर, जायसी का अध्ययन, चिंतामणि और हिंदी साहित्य का इतिहास इस काल के अप्रतिम उपहार हैं। उनके उत्तराधिकारी आलोचकों में नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान प्रमुख हैं। इनका दृष्टिकोण, शास्त्रीय, वैज्ञानिक और उदार है।

छायावाद ने आधुनिक काव्य परम्परा को विकसित और परिमार्जित कर उसे एक सहज माधुरी और सुकुमारता प्रदान की। यह अन्तर्मुखी गीतिकाव्य की नवीन परम्परा है। इस नवीन प्रगीत काव्य के प्रतिनिधि कवि प्रसाद, पंत और निराला हैं। प्रसाद के आंसू, लहर और कामायनी से प्रारम्भ होकर यह धारा पंत और निराला के काव्य में प्रवाहित होती हुई महादेवी वर्मा के अश्रु विनिर्गित काव्य में विलीन होती है। इस काव्य में सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना विलास, तीव्र अनुभूति, प्रौढ़ता और सौष्ठव है।

श्री नगेन्द्र के शब्दों में सन् १९३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू हुई। इस काल को छायावाद का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। इस पीढ़ी के कवि अहंवादी, अंतर्मुखी और नियतिवादी हैं। इसका आरम्भ भगवती चरण वर्मा के काव्य से होता है। इसके पोषकों में बच्चन, नरेन्द्र, अंचल और अज्ञेय प्रमुख हैं। इनमें नरेन्द्र और अंचल कुछ दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते है। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत तीव्र है। इनकी कल्पना एक अधिक उदार मानव संस्कृति का स्वप्न देखती है। यह प्रवृत्ति कथा-साहित्य में इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में परिलक्षित होती है।

सन् १९३६ से हिंदी में एक नवीन प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है जिसे 'प्रगतिवाद' कहते हैं। इसमें छायावाद की अंतर्मुखी अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया है। शुक्ली जी इसे समाजवादी धारा मानते हैं। इसका प्रारम्भ काव्य में पंत की युगवाणी से हुआ है जिसमें यथार्थवाद का चित्रण है। इसका कलाकार एक नवीन शोषण रहित सामाजिक संस्कृति का निर्माण करना चाहता है जो सामाजिक विषमता का अन्त कर दे। इसमें वर्ग-संघर्ष का स्वर सबसे तीव्र है। प्रेमचन्द, पंत और निराला इसके प्रधान उन्नायकों में माने जाते

हैं। (अब न तो पंतजी को स्वयं पंतजी ही और न प्रगतिवादी आलोचक प्रगति वादी मानते हैं। क्योंकि 'उत्तरा' की भूमिका में पंत जी ने अपने ग्राम्या-युगवाणी वाले रूप से भिन्नता स्पष्ट की थी। यह भूमिका सन् १९४९ में लिखी गई थी।) कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर, सुमन, नागार्जुन केदार तथा कथा साहित्य में यशपाल, राहुल, राँगेय राघव, भगवत शरण उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। आलोचकों में रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान और अमृतराय ने नवीन मार्क्सवादी पद्धति को अपनाया है। ये लोग किसी भी काल विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उसके कथा-सृजन में एक अन्तरंग सम्बन्ध देखते है और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। इस साहित्य में आज दो विचार धाराओं का संघर्ष चल रहा है—एक मनो विश्लेषण की पद्धति जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहंवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

नवीनतम गद्य-साहित्य में कुछ नई विधाओं के स्वरूप के दर्शन भी होने लगे हैं जिनमें रेडियो नाटक, रिपोर्ताज, इन्टरव्यू, रेखाचित्र आदि प्रधान हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में महत्वपूर्ण शोध कार्य हो रहा है जिससे हिंदी साहित्य की अनेक भ्रांत धारणाएँ खंडित हुई हैं। साथही भाषा विज्ञान, पुरातत्व आदि के कार्य में भी काफी प्रगति हुई है। संक्षेप में नवीन हिंदी साहित्य जन-जीवन को साथ लेकर चल रहा है जिसमें युग की प्रेरणाएँ और संघर्ष मुखरित हो उठे है। भविष्य उज्वल, आशाप्रद और श्रेष्ठ दिखाई दे रहा है।

७—हिन्दी गद्य का विकास

खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की सबसे महत्वपूर्ण, वेगवान, उपयोगी और आश्चर्यपूर्ण घटना है। संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रथम पद्य का विकास हुआ हैऔर फिर गद्य का। मानव-जीवन में गद्य का अपना अलग महत्व है। यह मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का सबसे प्रमुख और सुगम साधन है। परन्तु प्रत्येक साहित्य में, फिर भी, पद्य के बाद गद्य का विधान मिलता है। विद्वानों का मत है कि वाणी का प्रथम प्रस्फुटन गद्य में ही हुआ होगा। फिर साहित्य की प्रथम रचना गद्य में न होकर पद्य में क्यों हुई ? इसके मूल में मानव की भावनात्मक प्रवृत्ति ही प्रधान कारण रही है। उसने प्रकृति एवं संसार के रहस्य से आतङ्कित होकर अज्ञात शक्तियों के सम्मुख नतमस्तक होकर, प्रार्थना की थी। यही प्रार्थना कालान्तर में धार्मिक भावना बनी। हृदय की इसी अनुभूति का प्रस्फुटन पद्य के रूप में हुआ। गद्य का सम्बन्ध प्रधानतः मस्तिष्क से और पद्य का हृदय से माना जाता है। आदिम मानव का मस्तिष्क इतना परिष्कृत और चिन्तन शील नहीं था। वह हृदय पर पड़े हुए प्रभावों को व्यक्त करने के लिए पद्य का सहारा लेने लगा। उसके हृदय में सौन्दर्य की भावना शाश्वत रही है। इसलिए उसने अज्ञात शक्तियों से प्रभावित होकर जो कुछ भी कहा उसे सुन्दर बना कर कहना चाहा। कहा जाता है कि सङ्गीतकी भावना भी मानव की आदि भावना है। इसलिए मानवने सङ्गीत की सहायता से अपनी इस सुन्दर भावना को व्यक्त किया जिसने कविता का रूप धारण कर लिया। मानव के साधारण व्यावहारिक कार्य गद्य में व्यक्त होते रहे। परन्तु जैसे जैसे भौतिक सभ्यता की उन्नति होने लगी मानव अधिका-धिक गद्यका प्रयोग करने लगा। प्रारंभ में गद्य के शक्तिहीन होने का एक प्रधान कारण यह भी रहा है कि उस समय भाषा की अभिव्यंजना शक्ति शिथिल होती है। कविता के द्वारा हम अपने रागात्मक भावों को ही व्यक्त कर सकते हैं, व्याव-हारिक भावों को नहीं। इसलिए जब तक भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने की क्षमता उसमें नहीं आ जाती, तब तक सशक्त गद्य का सृजन असम्भव है।

लगभग आठ सौ वर्षों के लम्बे समय तक हिन्दी गद्य का विकास क्यों नहीं

हो पाया इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि हिन्दी साहित्य के जन्म के उपरान्त ही देश पर विदेशियों का अधिकार हो गया। वे अपनी भाषा लेकर आए। दैनिक व्यवहारों में स्थानीय गद्य का प्रयोग होता रहा। साहित्य स्रष्टा अपने रागात्मक भावों को ही व्यक्त करते रहे। दैनिक व्यवहार की अन्य आवश्यक समस्याओं की ओर उनका कोई ध्यान नहीं गया। वे कविता के माध्यम से अपने स्वामी और भगवान का यशःगान करते रहे। गम्भीर विवेचन की उन्होंने आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। फिर गद्य की उन्नति कैसे होती। गद्य दैनिक बोलचाल तक ही सीमित रहा। उसे साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला। यह उस नई गुलामी का परिणाम था जिसने हिंदी के साहित्यकारों को बहुमुखी चिन्तन से विरत कर केवल आत्मकल्याण और धार्मिक भावना तक ही सीमित रखा। दूसरा कारण यह है उस समय साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग हो रहा था। राजस्थानी, ब्रज, अवधी साहित्यिक भाषाएँ बनी रहीं। विषय भी वही पुराने धार्मिक और शृङ्गारिक रहे। गंभीर मनन एवं विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। इसलिए गद्य उपेक्षित रहा। यदि साहित्य की एक ही भाषा रहती तो संभव था कि उस संपूर्ण-भाषाप्रदेश के गद्य को भी प्रोत्साहन मिलता क्योंकि उस अवस्था में उस सम्पूर्ण प्रदेश के वासी जिनकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ थीं, पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए एक ही गद्य रूप को अपनाते। ऐसी दशा में निश्चित रूप से गद्य का एक निश्चित स्वरूप बन जाता। तीसरा कारण राष्ट्रीय भावना का अभाव है। इस अभाव के कारण सम्राट अशोक के पश्चात् कोई भी एक भाषा राष्ट्रीय भाषा का पद नहीं प्राप्त कर सकी। यह ऐतिहासिक सत्य है कि गद्य उसी भाषा का पनपता है जो राष्ट्रभाषा होती है। प्रान्तीय भाषाएँ अपने प्रान्त की राष्ट्रभाषा होती हैं। उनमें एकता की भावना होती है। परन्तु हिन्दी प्रदेश में तो ब्रज, अवधी आदि भाषाएँ प्रचलित रही हैं जिनकी अभिव्यंजना शक्ति केवल कविता तक ही सीमित रही है। चौथा कारण हमारा अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण रहा है। धार्मिक भावना में आत्मानुभूति का प्रदर्शन होता है जिसका माध्यम पद्य ही बन सकता है। गद्य की आवश्यकता तो गम्भीर दार्शनिक, शास्त्रीय, राजनीतिक, आर्थिक विवेचनों के लिए पड़ती है। आधुनिक काल से पूर्व का साहित्य उक्त विवेचनों से शून्य है। फिर गद्य को प्रोत्साहन कैसे मिलता। डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार "गद्य, मनुष्य के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण, अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है। उसकी नित्यप्रति की उपयोगिता उसकी सुकुमार कला का अपहरण करके बदले में उसे

एक दृढता और पुष्ट शक्ति प्रदान करती है जिसका अलग महत्व है।" परन्तु हमारा धार्मिक और शृङ्गारपरक साहित्य नीरस होने के लिए प्रस्तुत नहीं था। उसे गद्य की आवश्यकता नहीं थी। अस्तु,

आधुनिक काल से पूर्व भी हिन्दी गद्य का अस्तित्व था परन्तु वह अत्यन्त अस्पष्ट, अपरिमार्जित और नगण्य है। प्राचीन गद्य के दो रूप मिलते हैं— ब्रजभाषा गद्य और खड़ी बोली गद्य। ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्राचीन नमूना चौदहवीं शताब्दी के एक गोरखपंथी ग्रन्थ में मिलता है। इसके उपरान्त कृष्ण भक्तों के ब्रजभाषा गद्य में लिखे हुए कुछ ग्रन्थ मिले हैं। इनमें गोस्वामी विट्ठल नाथ का 'शृङ्गार रस मण्डन' नामक ग्रन्थ है जिसका गद्य अव्यवस्थित है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" तथा औरङ्गजेब के समय में लिखा गया "दो सौ बैष्णवन की वार्ता" नामक दो साम्प्रदायिक ग्रन्थ मिलते हैं। इनका उद्देश्य साहित्यिक न होकर वल्लभ मत का प्रचार करना है। इनमें प्रयुक्त गद्य का स्वरूप सुव्यवस्थित और चलता हुआ है। लाला सीताराम 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता" को पहला महत्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ मानते हैं। इसमें प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। क्षिति मोहनसेन ने दादू पंथियों के लिखे हुए अनेक गद्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका भाषा की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। संवत् १६६० के लगभग नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक एक ब्रज भाषा गद्य ग्रन्थ लिखा। इसी समय का लिखा हुआ किसी अज्ञातनामा लेखक का 'नासिकेतोपाख्यान' नामक गद्य ग्रन्थ भी मिला है। सम्वत् १७६७ में सूरति मिश्र ने संस्कृत से 'बैताल पचीसी' का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया जिसका आगे चलकर लल्लूजीलाल ने खड़ी बोली गद्य में अनुवाद किया था। परवर्ती काल में ब्रजभाषा गद्य में साधारणतः दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये—कुछ साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाएँ और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ। टीकाओं में हरिचरनदास की बिहारी सतसई और कविप्रिया की टीका, बाबा रामचरन की रामचरितमानस की टीका, प्रतापसाहि की मतिराम के 'रसराज' की टीका आदि अनेक ग्रंथ लिखे गए। स्वतंत्र ग्रंथों में प्रियादास की सेवकचंद्रिका, हीरालाल की 'आइने अकबरी' की भाषा वचनिका (सं० १८५२) लल्लूजी लाल का हितोपदेश का अनुवाद आदि ग्रंथों का सृजन हुआ। परंतु इन ग्रंथों से ब्रजभाषा गद्य का कोई विकास नहीं प्रकट होता। गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् विकास न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया।

खड़ी बोली गद्य का सर्व प्रथम ग्रन्थ गंग कवि का 'चन्द छन्द बरनन की

महिमा' माना जाता है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ीबोली के आसपास है। इसमें तत्सम् शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था जिसे वे 'हिंदवी' कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी, शाह बुरहान खान और सैयद मुहम्मद गेसूदराज के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं। संवत् १७६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा-योगवशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत साफ सुथरी खड़ी बोली गद्य में लिखा। इसका गद्य सुन्दर और परिमार्जित है। इसके उपरान्त पं० दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का खड़ी बोली गद्य में अनुवाद किया। किंतु इसकी भाषा में निरंजनी जी का सा सौंदर्य और परिमार्जन नहीं है। अतः हम 'योग बशिष्ठ' को परिमार्जित खड़ी बोली गद्य का प्रथम ग्रन्थ और निरंजनी जी को उसका प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं। इसके उपरान्त लगभग दो सौ वर्ष तक खड़ी बोली गद्य का क्षेत्र सूना पड़ा रहा।

खड़ी बोली गद्य के उक्त विकास का इतिहास और आगे बढ़ाने से पूर्व यह देख लेना अत्यन्त आवश्यक है कि खड़ी बोली अकस्मात् ब्रजभाषा को अपदस्थ कर एकाएक साहित्य की भाषा कैसे बन बैठी। इसके कारण ऐतिहासिक थे। यदि मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के उत्कर्ष में सहायक हुई तो राजनीतिक परिस्थिति ने खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों के साथ उर्दू के रूप में यह चारों ओर फैल गई। ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व घटने लगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली की इतनी आशातीत उन्नति का प्रधान कारण उसका गद्य रहा है। इस काल की सब से बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि साहित्य का केन्द्र राजसभा से हटकर जन-साधारण में आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूढ़िगत काव्य भाषा ब्रज को हटा कर उसके स्थान पर खड़ी बोली की स्थापना की गई क्योंकि उस समय खड़ी बोली जन साधारण की बोलचाल की भाषा थी। खड़ी बोली गद्य-साहित्य की मूलाधार बनी। परिवर्तन के ये लक्षण अठारहवीं सदी के अन्त से ही प्रारम्भ हो गए थे। मुगलों के पराभाव के समय बाहर की तीन शक्तियों ने हिंदी-क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया—अफगान, मराठा और अंग्रेज। अन्त में अङ्गरेज विजयी हुए। उस परिवर्तन का प्रभाव मध्यदेश की भाषा हिंदी पर पड़ना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि काव्य भाषा ब्रजभाषा का महत्व घटा। उधर मुसल्मानों का सहयोग पाकर मेरठ, बिजनौर, दिल्ली की बोली, खड़ी बोली, उर्दू का रूप धारणकर आगे बढ़ रही थी। शासन कार्य के सुचारु संचालन के लिए अंग्रेजों को गद्य की आवश्यकता हुई। फोर्ट विलियम कालेज के

अंग्रेज अधिकारियों की प्रेरणा से कुछ विद्वानों ने खड़ी बोली गद्य में ग्रन्थ लिखे। खड़ी बोली के उत्कर्ष के यही कारण थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिंदी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। इस काल में खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा करने वाले चार लेखक हुए मुंशी सदासुख लाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र हैं। इन्होंने क्रमशः सुख-सागर, रानी केतकी की कहानी, प्रेम सागर और नासिकेतोपाख्यान नामक ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि इनको ये ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता के अध्यापक सर जान गिल क्रिस्ट से मिली थी। परन्तु आचार्य क्षितिमोहनसेन का कहना है कि जब अंग्रेजों की ओर से पुस्तकें लिखने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुखलाल की ज्ञानोपदेश वाली पुस्तक और इंशा की रानी केतकी की कहानी लिखी जा चुकी थी। उन दिनों खड़ी बोली जनता के व्यवहार की भाषा थी। इसलिए उसकी प्रगति का सम्पूर्ण श्रेय फोर्ट विलियम कालेज को ही नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः उन दिनों हिंदी गद्य अपनी आन्तरिक प्राणशक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा। खड़ी बोली गद्य के इन चार लेखकों में से किसी की भी भाषा साफ सुथरी नहीं थी। सदासुखलाल की भाषा में पण्डिताऊपन है, इंशा की भाषा में अरबी फारसी का अधिक प्रभाव है, लल्लूजीलाल का गद्य ब्रज-भाषा के प्रयोगों से ओतप्रोत है। इनमें से केवल सदल मिश्र की भाषा ही अधिक व्यावहारिक, परिमार्जित और संस्कृत थी। आचार्य हजारीप्रसादद्विवेदी के शब्दों में—"इनकी भाषा में भावी खड़ी बोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा पर हुआ है।"

इन लेखकों के पश्चात् संवत १९१५ तक हिंदी गद्य क्षेत्र पुनः सूना सा पड़ा रहा। ईसाई धर्म प्रचारक गद्य का थोड़ा बहुत प्रचार अवश्य करते रहे। उन्होंने ही पहले पहल शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें प्रस्तुत कराईं। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के धार्मिक सुधार-सम्बन्धी आँदोलनों से भी इस गद्य के विकास में काफी सहायता प्राप्त हुई। पंजाब में हिंदी के प्रचार का अधिकाँश श्रेय स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों को ही है। सन् १८२४ में कालेज और स्कूलों के पाठ्यक्रमों में हिंदी को स्थान दिया गया। आगरा कालेज में हिंदी की विशेष व्यवस्था कीगई। १८३३ में 'आगरा बुक सोसाइटी' की स्थापना हुई जिसने अच्छे-अच्छे पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत कराए। इन पाठ्य ग्रंथों

की भाषा [illegible] अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित था।

[illegible] १ [illegible] सितारे हिंद शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर [illegible]। [illegible] प्रयत्नों से ही हिंदी को शिक्षा-विधान में स्थान [illegible]। [illegible] नवीन [illegible] गद्य का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा [illegible] रक्षा की भावना से उसका 'आमफहम' तथा [illegible] अपनाया। साथ ही इसी भाषा में 'इतिहास तिमिर नाशक' '[illegible] वृत्तान्त' तथा 'राजा भोज का सपना' आदि ग्रन्थ लिखे। [illegible] में [illegible] शब्दों की अपेक्षा अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य था। [illegible] भाषा के [illegible] में राजा लक्ष्मणसिंह अपनी संस्कृत गर्भित भाषा लेकर उपस्थित हुए। वे [illegible] शुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे जिसका रूप 'शकुन्तला' नाटक में [illegible]। [illegible] में भारतेंदु ने हिंदी के साहित्याकाश में उदय होकर अपनी [illegible] प्रभा से [illegible] के अन्धकार को दूर कर मध्यम मार्ग की [illegible] आह्लादायक चंद्रिका विकीर्ण कर हिंदी साहित्य का पथ सुगम बनाया।

इस समय एक ओर शासक वर्ग अङ्गरेजी शिक्षा के प्रचार का उद्योग कर रहा था तो दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से हिंदी साहित्य का भी प्रचार किया जा रहा था। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से भारतीय जनता में नवीन भावनाओं एवं आशाओं की जागृति हुई। उन्हें अपने जातीय साहित्य में उन बातों का अभाव खटकने लगा जो अङ्गरेजी साहित्य की अपनी विशेषताएँ थीं। हिंदी के प्रतिभावान लेखकों ने शीघ्र ही अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर साहित्य के विभिन्न अङ्गों की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया। नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना आदि नए-नए साहित्यांगों का प्रारम्भ, प्रचार और उन्नति होने लगी। भारतेंदु इस नवीन चेतना के अग्रदूत थे।

भारतेंदु ने उपर्युक्त राजाद्वय की परस्पर विरोधिनी अतिवादी शैलियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना आदर्श बनाया जिसमें तत्सम् शब्दों के तद्भव रूपों का ही निःसंग प्रयोग किया गया। उनकी दो शैलियाँ हैं। १—शुद्ध हिंदी—साधारण और सरल विषयों पर इसी शैली में लिखा। २—संस्कृत प्रधान शैली—इसमें ऐतिहासिक और विवेचना सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया। इस शैली में भाव-गाम्भीर्य था। भारतेंदु की भाषा प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों से रहित और पंडिताऊपन से दूर है। अरबी और संस्कृत आदि के बोझ से बोझिल भाषा उन्हें पसन्द नहीं थी। भारतेंदु के समकालीन लेखकों ने उनके भाषा

सरकार विषयक इस महान प्रयत्न की सराहना की और [illegible] अनुकरण पर लिखित भाषा को 'हरिश्चन्द्री हिंदी' कहा। आज की खड़ी बोली उसी का विकसित रूप है। भारतेंदु मण्डली के अन्य लेखकों में लाला श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध है। विषयों और रुचि की भिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। ये विभिन्न शैलियाँ कालक्रम से संस्कृत प्रधान होती गई। भारतेंदु युग गद्य के विकास की दृष्टि से प्रारम्भिक युग था। इसमें साहित्य निर्माण का कार्य तो प्रारम्भ हो गया किंतु भाषा के परिमार्जन और शुद्धता की ओर कम ध्यान दिया गया।

भारतेंदु युग हिंदी साहित्य के इतिहास में हिंदी प्रचार की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। डाक्टर श्री कृष्णलाल भारतेंदु से पूर्व के साहित्य को 'गोष्ठी साहित्य' कहते है जो एक सीमित वर्ग विशेष में ही प्रचार पा रहा था। भारतेंदु ने जन साधारण में उसके प्रचार की आवश्यकता अनुभव की। फल स्वरूप भारतेंदु ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा तथा गौरीदत्त और अयोध्या प्रसाद खत्री ने हिंदी प्रचार का झण्डा उठाकर चारों ओर घूम-घूमकर अपने भाषणों द्वारा इसका प्रचार किया। दूसरी ओर देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी अपने उपन्यासों द्वारा हिंदी पाठकों की संख्या को बढ़ा रहे थे। कहा जाता है कि खत्री जी के 'चंद्रकांता सन्तति' नामक उपन्यास पढ़ने के लिए असंख्य लोगों ने हिंदी सीखी थी। इसके साथ ही 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' एवं बालकृष्ण भट्ट के 'हिंदी प्रदीप' नामक पत्रों ने भी उस समय का प्रतिनिधित्व कर हिन्दी गद्य के विकास एवं प्रचार में समुचित योग दिया। भारतेंदु मण्डल के लेखकों ने हिंदी, संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया। इन लोगों ने समालोचना (इसका सूत्रपात प्रेमघन जी ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में किया था), नाटक और उपन्यास (श्री निवास दास का 'परीक्षा गुरु' हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है) आदि लिखकर हिंदी गद्य की चतुर्मुखी उन्नति की। "संक्षेप में उन्नीसवीं सदी गद्य-निर्माण का समय था। उसमें गद्य का विकास और विस्तार हुआ। भाषा-व्याकरण की व्यवस्था लाना और काट-छाँट का काम आगे द्विवेदी युग में हुआ। द्विवेदी युग में विषयों का विस्तार बढ़ा और उनमें अपेक्षाकृत गहराई भी आई किंतु निबंधों की पृष्ठभूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चंद्र युग चिर स्मरणीय रहेगा।" (बाबू गुलाबराय)

भारतेंदु युग प्रयोग काल होने के कारण स्वच्छंदता का युग था। उस समय के हिंदी गद्य में परिमार्जन और शुद्धता की कमी थी। इस कमी की ओर सर्वप्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। उन्होंने अशुद्ध भाषा लिखने वाले लेखकों की कटु आलोचना कर उन्हें शुद्ध भाषा लिखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्वयं लेख लिख-लिखकर शुद्ध खड़ी बोली गद्य का उदाहरण उपस्थित किया। भाषा परिष्कार एवं भाषा समृद्धि के लिए द्विवेदीजी के सम्मुख अनेक समस्याएँ थीं। पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेजी पढ़े लिखे मनुष्य जब हिंदी लिखने लगे तो उनकी भाषा और भाव में उपरोक्त भाषाओं की छाया पड़ने लगी। पंजाब के हिंदी भाषियों की भाषा पर उर्दू का एवं कलकत्ते के हिंदी भाषियों पर बँगला की कोमलकांत पदावली का प्रभाव पड़ा। स्वयं हिंदी प्रांत, उत्तरप्रदेश, में भी अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो रहा था जिनका शब्द-भण्डार एक दूसरे से भिन्न था। कहीं पूरबी बोली, कहीं ब्रजभाषा और कहीं बुन्देलखण्डी के शब्दों का खुलकर प्रयोग हो रहा था। सर्व साधारण में हिंदी प्रचार के साथ ही साथ विस्तृत हिंदी प्रदेश में अनेक साहित्यिक केन्द्र बन गए। इस प्रकार एक साथ ही अनेक रुचि, आदर्श, रूढ़ि और परम्परा का प्रयोग और संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिससे साहित्य और भाषा विशृङ्खल हो गई और चारों ओर अराजकता सी फैल गई।

दूसरी समस्या व्याकरण की थी। नए लेखक अपने उत्साह में यह बिल्कुल भूल गए कि भाषा में व्याकरण का भी कोई स्थान है या नहीं। वे मनमाने ढङ्ग से लिखने लगे। तीसरी समस्या भाषा के शब्द-भण्डार की न्यूनता की थी। हिंदी का शब्द-भण्डार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यंजना नहीं हो सकती थी। विशेष रूप से अनुवाद करते समय यह कमी बहुत खटकती थी। कभी-कभी मौलिक भाव-प्रकाशन के लिए भी लेखकों को बोलचाल के शब्दों का सहारा लेना पड़ता था जिससे भाषा के स्वरूप में गँवारूपन की झलक आ जाती थी। हिंदी के शब्द-भण्डार के अभाव का प्रधान कारण यह था कि हिन्दी में अब तक केवल पद्य ही लिखा जाता था। पद्य की भाषा का शब्द भंडार बहुत सीमित होता है। वहाँ तो अलङ्कार, व्यंजना, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की सहायता से काम चल जाता है परन्तु गद्यमें इन साधनों का सहारा नहीं लिया जा सकता। इसलिए उस समय हिन्दी शब्द भंडार को बढ़ाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक रूप में

उपयुक्त समस्याओं का समाधान कर गद्य की भाषा को स्थिरता प्रदान की। उन्होंने अपने सम्पादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित कर इसे दूर करने का आह्वान किया। साथ ही उन्होंने विराम चिन्हों के प्रयोग तथा 'पैराग्राफों' की ओर भी उनका ध्यान दिलाया। इस प्रकार भाषा की अर्थ व्यंजना और तार्किकता में स्पष्टता आई। शब्दों को उन्होंने तीन वर्गों में विभाजित किया—(१) प्रॉविंश, जिन्हें किसी प्रांत विशेष में ही समझा जा सकता है, (२) क्षणभंगुर, जो किसी विशेष कारण से केवल कुछ समय के लिये ही गढ़ लिये गए हों,(३) व्यापक जो हिंदी प्रदेश के सभी लोगों की समझ में आ सकें। इन तीनों वर्गों में से उन्होंने 'व्यापक' शब्दों के प्रयोग के लिए ही लेखकों को उत्साहित किया। शब्द भंडार की वृद्धि के लिए अंग्रेजी, बंगला, मराठी आदि भाषाओं का योग लिया गया। बीसवीं शताब्दी में हिंदी का प्रचार उपयोगी साहित्य, पत्र पत्रिकाओं और उपन्यासों द्वारा हुआ। इनके लिए विज्ञान, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, व्यापार तथा समाचार-पत्र सम्बन्धी अनेक शब्दों का अँग्रेजी से हिंदी में रूपान्तर किया गया। साथ ही हिंदी में कितने ही नए शब्द अँग्रेजी शब्दों तथा वाक्यांशों के आधार पर गढ़े गए। अँग्रेजी के बाद हिंदी शब्द भण्डार बंगला का ऋणी है। कलकत्ता हिंदी का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। बंगला से बहुत से अनुवाद हिंदी में किए गये। इन अनुवादों द्वारा अनेक नये शब्द हिंदी को मिले। गद्य की कोमल-कांत-पदावली भी बंगला की ही देन है। अँग्रेजी और बंगला के अतिरिक्त मराठी और संस्कृत ने भी हिंदी शब्द भण्डार की अभिवृद्धि में बहुत बड़ा योग दिया। संस्कृत के शब्द भण्डार पर तो हिंदी का पैतृक अधिकार था। आज भी हम नये शब्दों के लिये संस्कृत की ही शरण लेते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ हिंदी के लेखक जो पहले उर्दू में लिखते थे, जब हिंदी में लिखने लगे तो अपने साथ अरबी, फारसी तथा उर्दू के अनेक शब्द ले आये। इस प्रकार हिंदी शब्द भण्डार की उन्नति हुई।

हिंदी के उपरोक्त नए शब्द भण्डार में दो विशेषताएँ मिलती हैं। पहली यह कि नये शब्दों में नब्बे प्रतिशत से अधिक शब्द संस्कृत धातु रूपों के आधार पर बनाये गये हैं। जब नये शब्द गढ़ने की आवश्यकता अनुभव हुई तो संस्कृत ही ऐसी भाषा पाई गई जिसकी निश्चित धातुओं के आधार पर असंख्य शब्द सरलतापूर्वक गढ़े जासकते थे। दूसरी विशेषता यह थी कि बहुत से शब्द केवल इसलिये प्रयुक्त हो रहे थे कि वे नए और श्रुति मधुर थे जैसे 'नव' के लिये 'अभिनव'। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। ऐसे ही अन्य

शब्द जैसे प्रधावित, प्रसाधन, प्राचुर्य, प्रभावना आदि का प्रयोग हो रहा था यद्यपि इनसे सरल और समान अर्थ वाले शब्द धावित, साधन, प्रचुरता, भावना आदि भाषा में पहले से ही प्रयुक्त हो रहे थे। उस समय तो ये नवीन शब्द खटकते थे परंतु कालांतर में जब गद्य में लय और संगीत लाने का प्रयत्न होने लगा तब ये ही शब्द द्विगुणित उपयोगी प्रमाणित हुए। शब्द भंडार की तरह हिंदी गद्य शैलियों पर भी उपरोक्त भाषाओं का प्रभाव पड़ रहा था।

शैली के क्षेत्र में हिंदी गद्य शैली के विकास के दो पक्ष हैं—प्रथम हिंदी की जातीय शैली तथा द्वितीय भिन्न-भिन्न लेखकों की व्यक्तिगत शैली। हिंदी की जातीय शैली में किसी एक साहित्य की विशेषता को ग्रहण किया गया और जो विशेषताएँ अपनी जातीय विशेषता से मेल नहीं खाती थीं उनका बहिष्कार किया गया। इस प्रकार उक्त ग्रहण एवं त्याग की नीति से हिंदी ने अपनी जातीय शैली का निर्माण किया जिसमें "अँग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बँगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ ही साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगम्भीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलङ्कारिता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया।"

भारतेंदु काल तक हिंदी की जातीय शैली का निर्माण नहीं हो पाया था परन्तु व्यक्तिगत शैली का आरम्भ बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त द्वारा हो चुका था। परंतु इन व्यक्तिगत शैलियों का सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव पड़ा था। वास्तविक व्यक्तिगत शैली का आरंभ द्विवेदी युग में आकर हुआ। इस युग के नवीन शैलीकारों में सर्वश्रेष्ठ शैली महावीरप्रसाद द्विवेदी की थी। कठिन से कठिन और अत्यन्त जटिल समस्या को भी वे अपनी घरेलू और चित्ताकर्षक सरल शैली में स्पष्ट करने में सफल हुए। श्यामसुंदरदास की शैली में भाषण की विशेषताएँ हैं। उनकी शैली स्पष्ट, सरल और विस्तारपूर्ण है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की शैली में बातचीत की सभी सुखकारी विशेषताएँ मिलती हैं। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने अत्यंत पांडित्यपूर्ण जटिल, क्लिष्ट और दुरूह शैली अपनाई। इन लेखकों के अतिरिक्त अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि ने भी अपनी विशिष्ट शैलियों में गद्य रचना की। इन लोगों ने गद्य के विभिन्न अङ्गों कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना आदि का प्रचुर साहित्य रचा। अस्तु,

उपरोक्त सम्पूर्ण समस्याओं—भाषा की अराजकता, व्याकरण के नियमों

का उल्लङ्घन, तथा शब्दभण्डार की समस्या का हल करने में महावीर प्रसाद द्विवेदी का सबसे बड़ा हाथ रहा है। वे अपने युग की प्रेरक शक्ति थे। साहित्य जगत में उनकी आलोचना का आतङ्क था। इस प्रकार इस मनीषी साहित्यकार ने हिंदी के अव्यवस्थित रूप को व्यवस्थित कर उस उज्ज्वल भविष्य की नींव डाली जिसके हम उपभोक्ता और अधिकारी हैं। इसके लिए हिंदी भाषा और हिंदी भाषी जनता उनकी चिर ऋणी रहेगी।

द्विवेदी युग में गद्य की भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों के व्यक्तीकरण की क्षमता नहीं आ पाई थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप वर्त्तमान काल में आकर पूर्ण हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से इस युग में रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद और प्रसाद महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदी युग की शैली उच्चकोटि के गम्भीर, विचारात्मक विषयों का प्रतिपादन करने में अशक्त थी। उनकी शैली व्यास प्रधान थी। अब ऐसी समास प्रधान शैली की आवश्यकता थी जो थोड़े में विस्तृत और गम्भीर विषय का प्रतिपादन करने में सक्षम हो। शुक्ल जी ने इस प्रकार की समास-प्रधान शैली को जन्म देकर हिंदी गद्य की शक्ति को प्रौढ़ता प्रदान की। इससे गद्य के विकास में अपूर्व सहयोग मिला। उनकी शैली में उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। साथ ही उसमें अद्भुत संयम और गठीलापन है। उनकी भाषा में एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं होता। विचारों का गुम्फन इतना सघन होता है कि उसमें न तो पुनरावृत्ति होती है और न कहीं क्रम टूटता है। उनकी शैली में इतनी प्रौढ़ता है जो उनके परवर्ती गद्य लेखकों में भी नहीं दिखाई पड़ती। आज सर्वत्र उसी शैली का अनुकरण किया जा रहा है। सभी उनसे प्रभावित हैं।

कहानी और उपन्यास लेखकों के लिए प्रेमचंद ने एक नवीन शैली का निर्माण किया। उत्कर्ष एवं विशदता की दृष्टि से प्रेमचन्द अद्वितीय कलाकार हैं। हिंदी कथा-साहित्य को मनोवैज्ञानिकता की नींव पर खड़ा करने का श्रेय इन्हीं को है। शैली की दृष्टि से उनका 'ग़बन' नामक उपन्यास बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जन-साधारण की भाषा का रूप था। उसका कारण यह था कि वे उर्दू से हिंदी में आए थे। अतः इनकी भाषा में प्रवाह, कहावतों और मुहावरों के सफल प्रयोग ने एक रवानगी ला दी। भाषा का यही चलता हुआ रूप उनके निबंधों में भी मिलता है। प्रेमचंद के अनेक परवर्ती कथाकारों ने इस

शैली का अनुकरण किया जिनमें सुदर्शन, कौशिक, जैनेंद्र आदि प्रमुख हैं। इधर कथा क्षेत्र में कुछ नवीन शैलियों के भी दर्शन हुए हैं जो प्रेमचंद की शैली से अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। इसका विशेष कारण यह है प्रेमचंद जी के कथा साहित्य में मनोविज्ञान आदि की गम्भीर तथा जटिल समस्याओं का अंकन नहीं है जबकि आज के कथा-साहित्य में इनकी प्रधानता है। प्रेमचंद जी सीधी-सादी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को लेकर चले थे। इन नवीन शैलीकारों में इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रमुख हैं।

नाटक के क्षेत्र में प्रसाद नवीन शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा प्राचीन आर्य संस्कृति और ऐतिहासिक तत्वों का विवेचन और अन्वेषण किया इससे उसमें दुरुहता आ गई है। इस दुरुहता का प्रधान कारण विषय की जटिलता और एक नवीन शैली का प्रणयन ही था। नाटक के अतिरिक्त गद्य के प्रायः सभी क्षेत्रों कहानी, उपन्यास, निबंध में भी उनकी एक विशिष्ठ शैली के दर्शन होते हैं। प्रसादजी उच्च कोटि के कलाकार थे। अतः उन्होंने अपने भावों को भाषा के माध्यम से बड़ी ही कलात्मक शैली में व्यक्त किया है। नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी की शैली का परवर्ती नाटककारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है जिनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि प्रमुख हैं। हिंदी गद्य के अन्य वर्तमान शैलीकारों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवीवर्मा, वियोगी हरि आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवादी युग में एक नवीन शैली का प्रयोग किया जा रहा है जो जन भाषा के अत्याधिक निकट है। कथा और निबंध साहित्य में प्रगतिवादी कलाकार सरल भाषा का प्रयोग कर रहे हैं परंतु आलोचना के लिए उन्हें भी अपनी पूर्ववर्ती शैलियों का ही अनुकरण करना पड़ता है। इस नवीन शैली में भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि भारतेंदु युग का साहित्यिक चुभता हुआ व्यंग्य जो द्विवेदी काल में लुप्त हो गया था, इस काल में पुनः दिखाई देने लगा है। आज इसी शैली में नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबंधों की रचना की जा रही है। अभी यह नवीन शैली का प्रयोग काल है इससे उसमें यथेष्ठ गम्भीरता नहीं आ पाई है परंतु यह निश्चित है कि भावी गद्य साहित्य इसी शैली में लिखा जायगा क्योंकि यह जन साधारण की भाषा में लिखी जाती है। संक्षेप में हिंदी गद्य साहित्य का यही विकास है।

८-उपन्यास : स्वरूप और विकास

स्वरूप

वर्तमान हिंदी-उपन्यास हिंदी साहित्य के लिये सर्वथा एक नई देन है। 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में आज ग्रहण किया जाता है वह मूल 'उपन्यास' शब्द से पूर्णतः भिन्न है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास शब्द का प्रयोग आजकल के उपन्यास के अर्थ में नहीं होता। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग नाटक की सन्धियों के एक उपभेद के लिए हुआ है। इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है—"उपन्यासः प्रसादनम्" अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार—"उपपत्तिकृतोह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः" अर्थात् किसी अर्थ को युक्ति युक्त रूप में उपस्थिति करना उपन्यास कहलाता है। इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उपन्यास में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्ति-युक्ति रूप में अर्थ को उपस्थिति करने की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार की कथा प्रधान रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो क्योंकि 'उपन्यास' शब्द से यही ध्वनि निकलती है। किंतु यह अनुमान उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि नाटक साहित्य के 'उपन्यास' शब्द और आधुनिक प्रचलित 'उपन्यास' में केवल नाम का ही साम्य है, प्रकृति का नहीं। 'उपन्यास' का शब्दार्थ है, उप=निकट, न्यास=रखना, अर्थात् सामने रखना। इसके द्वारा उपन्यासकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई नवीन मत रखना चाहता है। यह तो हुआ 'उपन्यास' संज्ञा का हिंदी अर्थ। अब हमें उपन्यास के लिये प्रचलित भिन्न भिन्न भाषाओं के नामों की तुलना एवं व्याख्या कर यह देखना है कि यह संज्ञा उचित है या नहीं।

भारत की कई प्रांतीय भाषाओं में यह शब्द भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। दक्षिणी भाषाओं तेलगू आदि में यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिंदी के व्याख्यान 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित हैं। 'उपन्यास' शब्द का दक्षिण में किया गया प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक 'निर्गतः शन कैरलीक वचनोपन्यासमालीजनैः,' में का 'उपन्यास' शब्द बहुत कुछ

इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दक्षिण की उक्त भाषाओं में अँग्रेजी 'नावेल' शब्द के लिये उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द 'नवल' गढ़ लिया गया है। यह शब्द वास्तव में उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास वस्तुतः ही 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है। हिंदी में 'कथा', 'आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी 'नावेल' का प्रति शब्द 'उपन्यास' ही माना गया है। अभी तक इस बात का अन्वेषण नहीं हो सका है कि 'उपन्यास' शब्द का प्रचलित अर्थ में सर्व प्रथम प्रयोग किसने किया था। प्रयोक्ता ने इस नवीन शब्द के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यह साहित्यांग प्राचीन कथाओं और आख्यायिका से भिन्न जाति का है। उप-न्यास शब्द के ऊपर दिए गए अर्थ के अनुसार यद्यपि यह शब्द पुरानी परंपरा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिल्कुल बे मेल नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए इस शब्द के शाब्दिक अर्थ की ओर इसी कारण ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने उपन्यास की विशेषता एवं गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा उपस्थित की है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास, "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा" को उपन्यास मानते हैं। प्रेमचंद के शब्दों में—उपन्यास "मानव चरित्र का चित्र" मात्र है। उनके अनुसार—"मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" बाबू गुलाबराय का मत है कि—"उपन्यास कार्य कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्यकथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है। भगवतशरण उपाध्याय साहित्य के अन्य अङ्गों के समान उपन्यास को जीवन का दर्पण मानते हैं। कहानी का विस्तार उसमें प्रवहमान जीवन को प्रकट करता है। कुछ विद्वान उपन्यास को "आधुनिक युग का महाकाव्य" कहते हैं। प्रसिद्ध अँग्रेजी साहित्यकार एच० जी० वेल्स उपन्यास को एक—"Harlmess opiate for vacant mind and vacant hours" मात्र मानते हैं। सम्भव है किसी युग में उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन रहा हो परन्तु आजका उपन्यास सत्य का नग्न रूपी चित्रण कर जीवन को उदात्त बनाता है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है कि—"हिंदी उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिंदी भाषी

क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है।"

तत्वों की दृष्टि से विद्वानों ने उपन्यास के छः तत्व माने हैं—१—कथावस्तु, २—चरित्र-चित्रण, ३—कथोपकथन, ४—शैली, ५—देशकाल, ६—उद्देश्य या बीज। तत्वों का यह वर्गीकरण यूरोपिय है। उक्त छः तत्वों में से तीन प्रमुख माने जाते हैं—कथानक या घटना क्रम, चरित्र या पात्र और बीज या उद्देश्य। जहाँ कहीं बीज या उद्देश्य नहीं होता वहाँ मनोरंजन ही उद्देश्य होता है। अब उपन्यास के कथानक और पात्रों का निश्चित स्वरूप स्थिर करने में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं क्योंकि नवीन उपन्यासकार कथानक और पात्रों का नया स्वरूप गढ़कर नवीन प्रयोग कर रहे है। पहले हम तीन प्रमुख तत्वों पर विचार करेंगे।

१—कथावस्तु या घटना क्रम—किसी उपन्यास की मूल कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। इस घटना-शृङ्खला का उदय, विकास और अन्त निश्चित सा होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि उपन्यास की सारी घटनाएं आपस में ऐसी सम्बद्ध हों कि यदि उनमें से एक को भी पृथक कर दिया जाय तो वह विशृङ्खल हो जायगी—उसका क्रम टूट जायगा। इन घटनाओं में औचित्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। व्यर्थ की घटनाओं का समावेश कथावस्तु को शिथिल, विकृत एवं सारहीन बना देता है। घटनाचक्र की एकता और संगठन पर बल देते हुए भगवतशरण उपाध्याय कहते हैं कि—"कहानी के उस विस्तार में कला की दृष्टि से रस का संचरण और परिपाक होता है। घटनाचक्र की एकता या अनेक मुखी जीवन धारा का स्वस्थ विलयन ही उसका पाक है। घटनाचक्र की एकता वस्तु गठन के रूप में, उपन्यास के रस को कलत्त्व प्रदान करती है।" परंतु आज का नवीन उपन्यासकार यह समझने लगा है कि वास्तव में घटनाओं में, जब वे सांसारिक जीवन में घटती हैं, कोई क्रम नहीं होता। घटनाओं के प्रवाह को हम पकड़ नहीं सकते। जीवन बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का नाम है। इसलिए यूरोप के कुछ उपन्यासों में विशृङ्खलित, असम्बद्ध, बिखरे जीवन के चित्र भर दिए गए है। हिंदी में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गर्म राख' नामक उपन्यास भी ऐसा ही है। इन लोगों के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि घटनाओं का क्रम क्या हो? उनका जीवन से क्या संबंध हो? इसके लिए यह हल निकाला गया है कि घटनाएँ चाहे सत्य हों या काल्पनिक, उन्हें दैनिक जीवनके आधार पर गढ़ना आवश्यक है। साथ ही घटना क्रम केवल न्याय संगत ही न हो उसमें

आकस्मिक घटनाएँ भी हों क्योंकि वास्तविक जीवन में आकस्मिक घटनाएँ घटा करती हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम उपरोक्त 'गर्म राख' जैसे नवीन उपन्यासों में प्रकट हुआ है। सुप्रसिद्ध अँग्रेज आलोचक एडविन म्योर का कहना है कि उपन्यास के तत्वों में कथानक ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण और स्पष्ट है। इसी पर उपन्यास का ढाँचा खड़ा होता है। कथानक का चुनाव इतिहास, पुराण, जीवनी आदि कहीं से भी किया जासकता है। आज जीवन से संबंधित कथानक को ही अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि उसमें हमारे दैनिक जीवन की स्वाभाविकता रहती है। कथानक को रोचक होना चाहिए क्योंकि उपन्यास मनोरंजन का प्रधान साधन है। रोचकता के लिए उसमें उत्सुकता, कौतूहल और नवीनता का होना आवश्यक है। साथ ही उसमें अलौकिकता, या असंभाव्य घटनाओं का चित्रण नहीं होना चाहिए क्योंकि आज का बुद्धिवादी युग इन्हें स्वीकार नहीं करता। इसलिए उसमें जीवन की वास्तविकता का चित्रण आवश्यक है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से कथानक साहसिक, प्रेम-प्रधान, तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक और सामान्य जीवन से संबंधित आदि अनेक भागों में बाँटा जा सकता है। कथावस्तु को उपस्थित करने के तीन ढंग आज कल बहुत प्रचलित हैं—१—लेखक तटस्थ दर्शक की भाँति उसका वर्णन करता है। २—कथावस्तु नायक या किसी अन्य पात्र के मुँह से कहलाई जाती है। ३—पत्रों की शृङ्खला के रूप में उसका वर्णन होता है।

चरित्र-चित्रण और पात्र—उपन्यास में पात्रों का चरित्र-चित्रण सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता के साथ अत्यंत प्रभावशाली ढंग से होना चाहिए। पात्र की प्रकृति के अनुरूप ही उसके कार्य और बातें होना आवश्यक है। पात्रों की चरित्रगत विभिन्नताएँ कथावस्तु के उचित विकास में सहायक होती हैं। इस युग में पात्रों सम्बन्धी प्राचीन एवं नवीन धाराओं में अंतर आ गया है। पहले नायक और नायिका पर ही विशेष बल देकर अन्य पात्रों की उपेक्षा की जाती थी। आज सबको समान महत्व दिया जाता है। पहले जहाँ कुछ पात्र देवता और कुछ राक्षस बना दिए जाते थे वहाँ आज के देवताओं के चारित्रिक दोषों का प्रदर्शन एवं राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा है। इसका कारण मनोविज्ञान का क्रांतिकारी अन्वेषण है। आज पात्रों के बाह्य और आंतरिक व्यक्तित्व पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे प्रकाश डाला जाता है। आज पात्रों का व्यक्तित्व सर्वथा स्वतंत्र होता है। उपन्यासकार उसे कठपुतली नहीं बनाता। स्वतंत्र संकल्प-शक्ति-युक्त और निरंतर गतिशील पात्रों से ही उपन्यास की उत्कृष्टता और लेखक की सफलता आँकी जाती है। पात्रों का चरित्र-

चित्रण दो प्रकार से होता है—एक में लेखक स्वयं वर्णन द्वारा पात्रों का चरित्र चित्रण करता है और दूसरे प्रकार में लेखक पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कह कर पात्रों से ही अपने और दूसरे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है। यह प्रणाली सांकेतिक या नाटकीय कहलाती है। आज इसी प्रणाली को अधिक प्रश्रय दिया जा रहा है। घटना-प्रधान कथानक में पात्रों का चरित्र घटनाओं द्वारा स्पष्ट होता है। चरित्र दो प्रकार के होते हैं—टाइप (वर्ग विशेष के प्रतिनिधि) और विशिष्ठ व्यक्तित्व वाले। 'गोदान' का होरी पहले प्रकार का पात्र है और 'शेखर: एक जीवनी' का शेखर दूसरे प्रकार का। पात्रों के दो भेद और हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। आज वही उपन्यास श्रेष्ठ समझे जाते हैं जिनके पात्रों में आदर्श और यथार्थ का मिश्रण होता है।

उद्देश्य या बीज—उपन्यास के उद्देश्य या बीज से तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। उपन्यास में जीवन का चित्रण होता है। इसलिए उपन्यासकार जीवन के साधारण और असाधारण व्यापारों का मानव जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका अंकन करता है। सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धांत स्वतः ही आ जाते हैं। कुछ लोग उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानते हैं किंतु आज के उपन्यासों में मनोरंजन के साथ ही साथ किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिपादन भी होता है। श्रेष्ठ उपन्यास लेखक अनुभवी और विचारशील होते हैं। वे लोगों के भावों, विचारों और व्यवहारों आदि का भली भांति निरीक्षण कर उनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं और उस अनुभव और ज्ञान की सहायता से नैतिक महत्व का ऐसा चित्र अङ्कित करते है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इससे पाठक शिक्षा ग्रहण कर नैतिक सिद्धांत और आदर्शों का महत्व समझते हैं। किंतु इस उद्देश्य का चित्रण उपदेश, व्याख्यान या भाषण के रूप में व्यक्त न होकर विभिन्न सूक्तियों और वाक्यों में लिखा रहता है। पात्रों के परस्पर-विरोधी विचारों का संघर्ष उस उद्देश्य की उत्कृष्टता सिद्ध करता है। उपन्यासकार अपने सिद्धांत का प्रतिपादन अप्रत्यक्ष रूप से वार्तालाप या घटनाओं के द्वारा करता है। यदि सीधा सिद्धांत का चित्रण किया जायगा तो इससे उपन्यास में नीरसता और अरोचकता आ जायगी। उद्देश्य महान और प्रभावशाली होना चाहिए। उसकी अभिव्यक्ति की शैली और परिस्थितियाँ भी प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। इस अभिव्यक्ति के दो ढङ्ग है—आत्मकथनात्मक और विश्लेषणात्मक। पहले ढङ्ग में उद्देश्य की अभिव्यक्ति सरल और सुन्दर ढङ्ग से होती है। कहीं कहीं लेखक कथावस्तु, शैली और तथ्य-कथन के ढङ्ग से भी विशिष्ठ

नैतिक उद्देश्य का प्रतिपादन कर देते हैं। यह नाटकीय ढङ्ग कहलाता है। विश्लेषणात्मक प्रणाली में लेखक आलोचक की भांति पात्रों का गुण-दोष विवेचन करता हुआ अपने उद्देश्य को स्पष्ट करता है। इनमें नाटकीय ढङ्ग अधिक कलापूर्ण माना जाता है। "आज के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उसके द्वारा मानव मन के गहनतम स्तरों की व्याख्या करना है।"

कथोपकथन—नाटक में इस तत्व का एकाधिकार होता है परंतु उपन्यास में आवश्यकतानुसार ही इसका उपयोग किया जाता है। यह कथावस्तु के विकास तथा पात्रों के चरित्र चित्रण में सहायक होता है। इससे कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आजाती है। इसके द्वारा प्रासंगिक घटनाओं का भी वर्णन कर दिया जाता है। पात्रों की आन्तरिक मनोवृत्तियों के स्पष्टीकरण में भी यह सहायक होता है। इसका विधान पात्रों के चरित्र, स्वभाव, देश, स्थिति, शिक्षा अशिक्षा आदि के अनुसार होना चाहिये। पात्रों के वार्तालाप में स्वाभाविकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

देशकाल—पात्रों के चित्रण को पूर्णता एवं स्वभाविकता देने के लिए देशकाल या वातावरण का ध्यान रखना जरूरी है। घटना का स्थान, समय, तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान उपन्यासकार के लिए आवश्यक है। चरित्रों का चत्रिण उनके अनुसार ही होना चाहिये। ऐतिहासिक उपन्यासों का तो यह प्राण है। यदि कोई लेखक चन्द्रगुप्त और चाणक्य को सूट बूट में चित्रित करे तो उसकी मूर्खता एवं ऐतिहासिक अनभिज्ञता पर हँसी आये बिना न रहेगी। देश, काल, और वातावरण का वर्णन वहीं तक उचित है जहाँ तक कि वह कथा-प्रवाह में सहायक हो।

शैली—उपन्यासकार को अपने भाव एवं विचारों को व्यक्त करने के लिये सरस और सरल भाषा शैली का प्रयोग करना चाहिये। सम्पूर्ण उपन्यास की रचना शैली एक सी हो। भाषा का प्रयोग तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण से हो तो अधिक श्रेयस्कर होता है। परंतु उसमें सरलता का होना अत्यन्त आवश्यक है। हिंदी में उपन्यास-लेखन की चार शैलियां प्रचलित हैं—कथाशैली जैसे प्रेमचंद का 'रंगभूमि', आत्मकथा शैली, जैसे इलाचंद्र जोशीका 'घृणामयी', पत्र-शैली, जैसे उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूत', डायरी शैली जैसे 'शोणित तर्पण'। पत्र और डायरी शैलियों में हिंदी में कम उपन्यास लिखे गये हैं।

उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों को निश्चित करने के कई आधार माने जाते हैं। इनमें से कुछ तो किसी विशेष तत्व अथवा घटना, चरित्र आदि की प्रधा-

नता के आधार पर किये जाते हैं और कुछ कार्य अथवा वर्ण्य विषय के आधार पर। तत्वों के आधार पर उपन्यासों के तीन भेद माने गये हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और नाटकीय। वर्ण्य विषय के आधार पर अनेक भेद किये गये हैं, यथा—धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक प्रागैतिहासिक, आर्थिक, यौन सम्बन्धी, प्राकृतिक आदि। परंतु तत्व, वर्ण्य, विषय शैली आदि सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर विद्वानों ने उपन्यासों के चार प्रधान भेद माने हैं—(१) घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान (३) नाटकीय (४) ऐतिहासिक। इनमें से प्रत्येक प्रकार की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित है—

घटना प्रधान—इन उपन्यासों में चमत्कारिक घटनाओं की प्रधानता रहती है। पाठकों के कौतूहल और उत्सुकता को निरंतर जाग्रत रखने में ही इनकी सफलता मानी जाती है। पाठक वर्णित घटनाओं के जाल में ही उलझा रहता है। ये पाठक के हृदय में विस्मय को जाग्रत कर उसे निरंतर मुग्ध रखतीं हैं। इनमें पात्रों का महत्व कथा की अपेक्षा गौण रहता है। यहाँ घटनाएँ ही प्रधान रहती हैं। पात्र घटनाओं के चक्कर में पड़कर चमत्कार पूर्ण ढङ्ग से उनमें से बाहर निकल आते हैं। उनका अंत आनन्दमय होता है। घटनाओं के इस उतार-चढ़ाव में पाठक पूर्णतया डूब जाता है। उसका ध्यान घटनाओं की वास्तविकता, अवास्तविकता और पात्रोंके चरित्रचित्रण की ओर नहीं जापाता। विस्मयजनक परिस्थितियों के जटिल विकास और उनके चमत्कार में वह पात्रों को पूर्णतया भूल जाता है। इसी कारण पात्रों का चारित्रिक विकास इन उपन्यासों में कोई महत्व नहीं रखता। साहित्यिक दृष्टि से इन उपन्यासों का मूल्य कम माना जाता है। इनमें वास्तविक जीवन का चित्रण न होकर पूर्ण काल्पनिक एवं चमत्कारपूर्ण जीवन का प्राधान्य रहता है। इनकी कथावस्तु प्रेमाख्यान, पौराणिक कथाओं और जासूसी तथा तिलिस्मी घटनाओं से निर्मित होती है। हिन्दी के प्रारम्भिक युग में ऐसे उपन्यासों की भरमार थी। जासूसी, ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यास उस समय खूब लिखे गये। चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। ऐसे उपन्यासों के विषय में प्रसिद्ध उपन्यासकार स्टीवेन्स ने लिखा है—"उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि वह एक ऐसी भ्रांति की सृष्टि कर रोचक परिस्थितियों का इतना कुशल अंकन करे कि पाठकों की कल्पना उससे आकृष्ट हुए बिना न रह सके। और वे उसक्षण के लिए स्वयं को कहानी का एक पात्र समझने लगे और उनके कार्यों को वैयक्तिक रूप से अपना समझ कर अनुभव करने लगे।"

चरित्र प्रधान—इनमें घटनाओं के स्थान पर पात्रों की प्रधानता रहती

है। घटनाएँ गौण होती हैं। चरित्र-प्रधान होने के कारण इनका कथानक प्रायः शिथिल और असंगठित होता है। इनमें पात्रों के चारित्रिक विकास पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। पात्र घटनाओं से पूर्ण स्वतंत्र रहते हैं। वे स्वयं परिस्थितियों के निर्माता होते हैं न कि परिस्थितियाँ उनकी। जैसे जैसे पात्रों का चारित्रिक विकास होता जाता है घटनाएँ उनके इंगितों पर नाचती जाती हैं। पात्रों के चारित्रिक गुण दोष प्रारम्भ से अंत तक एक रस रहते हैं। केवल उपन्यास के विस्तार के साथ साथ उनके विषय में पाठक के ज्ञान में वृद्धि होती रहती है। इन चरित्रों में परिवर्तन नहीं होता। घटनाएं केवल पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर ही प्रकाश डालती हैं। कौतूहल का अभाव रहता है। इससे इनमें एक प्रकार की शिथिलता और गतिहीनता आ जाती है। परंतु ये उपन्यास समाज, देश तथा जाति की चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन करते हैं इसलिए घटना-प्रधान उपन्यासों से इनका महत्व अधिक माना गया है। हिंदी में जैनेन्द्र, उग्र, ऋषभचरण, चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास इसी वर्ग के हैं। कुछ लोग प्रेमचंद के 'ग़बन' तथा 'गोदान' जैसे उपन्यासों को भी इसी वर्ग का मानते हैं।

नाटकीय—उपन्यास कला की दृष्टि से इस वर्ग के उपन्यास सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। कथावस्तु और पात्र दोनों का इनमें समान सन्तुलन होता है। पात्रों की विचार धारा और उनके कार्य भावी घटनाओं की गतिविधि को प्रभावित करते हैं। घटनाएं पात्रों में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन करने में समर्थ होती हैं। इनमें घटनाएँ और पात्र परस्पर सम्बन्धित रहते हुए भी स्वतंत्र होते हैं। इस प्रकार इन उपन्यासों में प्रारम्भ से अन्त तक पात्रों और घटनाओं का पूर्ण सामंजस्य रहता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें कल्पित जीवन के स्थान पर वास्तविक सामाजिक जीवन का चित्रण होता है। इसलिए इनकी कथावस्तु तर्क संगत और स्वतः विकासमान रहती है। घटनाएँ जीवन के नियमों द्वारा संचालित होकर निर्धारित पथ पर अग्रसर होती रहती हैं। समय की गति का इनमें पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। समय की गति के साथ विकसित होते होते पात्र और घटनाएँ पूर्णतः स्पष्ट हो जाती हैं। इससे इनका अन्त कलात्मक और सुन्दर होता है। पात्रों और घटनाओं दोनों का अन्त हो जाता है। परंतु इन उपन्यासों में घटना स्थल संकीर्ण और सीमित होता है। उसी संकुचित दायरे में सारा कार्य कलाप समाप्त हो जाता है। प्रेमचंद के उपन्यास इसी कोटि के हैं।

ऐतिहासिक—इनमें भी पात्रों और घटनाओं का समन्वित रूप मिलता

है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनका देश-काल चित्रण है। इन उपन्यासों का यह प्राण है। यदि इनमें देशकाल का पूर्ण और संगत चित्रण नहीं होता तो इनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। इनकी ऐतिहासिकता का रक्षक ...ि देशकाल का चित्रण है। देशकाल के चित्रण से अभिप्राय यह है कि जिस देश अथवा स्थान का और इतिहास के जिस काल का वर्णन हो, वह उचित, यथार्थ और ठीक होना चाहिए। कोरिया को हिमालय पर्वत पर बताना और सिकन्दर के समय इस्लामी वेशभूषा और रीति रिवाजों का वर्णन करना देश और काल का विरोध है क्योंकि कोरिया हिमालय पर न होकर चीन के उत्तर पूर्वी समुद्र पर स्थित है और सिकन्दर के समय तक इस्लाम के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब का जन्म भी नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को वर्णित युग और प्रान्त की संस्कृति, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों, रहन-सहन, रीति रिवाजों आदि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उस युग का कथानक गढ़ने के लिए एक अपूर्व कल्पना शक्ति की भी पूर्ण आवश्यकता है जिससे तत्कालीन जीवन का सर्वाङ्गीण, आन्तरिक और प्रभावोत्पादक चित्रण हो सके। इसीलिए इन उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का पूर्ण योग रहता है। इनमें से एक का भी अभाव होने से सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना नहीं हो सकती। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहासज्ञों, पुरातत्व वेत्ताओं आदि द्वारा संग्रहीत नीरस तथ्यों को कल्पना द्वारा जीवित और सुन्दर बना देता है। दूसरे शब्दों में वह इतिहास की कंकाल वत् नीरस अस्थियों पर कल्पना का रक्त माँस चढ़ा कर उन्हें मांसल और आकर्षक बनाता है।

कुछ विद्वानों ने उपन्यासों का एक पाँचवाँ वर्ग भी माना है—सामाजिक उपन्यास। इनमें सामयिक युग के विचार, आदर्श और समस्यायें चित्रित रहती हैं। सामयिक समस्याओं का चित्रण इनका मुख्य उद्देश्य होता है। इन पर राजनीतिक, सामाजिक धारणाओं और मतवादों का विशेष प्रभाव रहता है। इनमें लेखक अपने समय के आदर्शों के अनुरूप पात्रों का चित्रण करता है। आज के प्रगतिवादी लेखकों के अधिकांश उपन्यास तथा प्रेमचन्द के कुछ उपन्यास इसी वर्ग के हैं।

उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों का उपर्युक्त विवेचन सर्वांगीणता का दावा नहीं कर सकता क्योंकि आज उपन्यासों के वस्तुचयन एवं शैलियों में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं कि उन्हें अभी निश्चित वर्गों में बाँधना सम्भव नहीं प्रतीत होता। आज मार्क्सीय विचारधारा से प्रभावित कुछ ऐसे उपन्यास

लिखे जा रहे हैं जिन्हें शुद्ध प्रचारवादी उपन्यास कहा जा सकता है। कुछ उपन्यासों में मनोविज्ञान के नाम पर नग्नवासना का खुल कर प्रदर्शन हो रहा है। ऐसे उपन्यासों को अभी किसी निश्चित वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

विकास

हम उपन्यास का स्वरूप निरूपण करते समय कह आए हैं कि गद्य की अनेक विधाओं के समान हिंदी-उपन्यास भी आधुनिक युग की ही देन है। परन्तु कुछ आलोचक संस्कृत के 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित' आदि कथा-ग्रंथों को भी उपन्यास मानते हैं और इसी धारणानुसार हिंदी उपन्यासों की परम्परा का सम्बंध वहीं से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान इस परम्परा का प्रारम्भ सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्य-ग्रंथों से मानते हैं परंतु उक्त सभी ग्रंथों को ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें औपन्यासिक तत्वों का पूर्ण अभाव है। अतः उन्हें हम उपन्यास नहीं मान सकते। "संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिक हिंदी-काव्य तक की परम्परा अविच्छिन्न चली आई है परंतु हिंदी का उपन्यास, साहित्य का वह पौधा है जिसे यदि सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका कलम बंगला से तो लिया ही गया था न कि संस्कृत के कथाकार सुबंधु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।" संस्कृत एवं सूफी ग्रंथों में आधुनिक उपन्यास के कोई भी लक्षण नहीं मिलते। हाँ, बंगला के उपन्यासों का हिंदी-उपन्यासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गद्य के अन्य अङ्गों के समान हिंदी-उपन्यास-साहित्य का जनक भी भारतेंदु युग ही रहा है। इसकी परम्परा वहीं से प्रारम्भ होती है। विवेचन की सुविधा के लिए हम इस विकास को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं जो निम्नलिखित हैं—

१—प्रथम अवस्था (सन् १८५० से १९०० तक)
२—द्वितीय अवस्था (सन् १९०० से १९१५ तक)
३—तृतीय अवस्था (सन् १९१५ से १९३६ तक)
४—आधुनिक काल (सन् १९३६ से आज तक)

१—**प्रथम अवस्था**—(सन् १८५० से १९०० तक) कुछ आलोचक इंशाअल्लाखाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। यद्यपि उपन्यास कला की दृष्टि से इस छोटी सी कथा पुस्तक का कोई मूल्य नहीं है तथापि सर्व प्रथम प्रारम्भिक कृति होने के नाते इसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। आचार्य शुक्ल कथावस्तु और वर्णन प्रणाली की

दृष्टि से लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' को हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। परन्तु हिंदी का प्रथम उपन्यासकार वे पंडित किशोरीलाल गोस्वामी को ही स्वीकार करते हैं जो लालाजी के परवर्ती उपन्यासकार हैं। इस विषय में शुक्लजी का मत द्रष्टव्य है। आप लिखते हैं—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते हैं। पर गोस्वामीजी वहीं घर कर के बैठ गये।" परन्तु, आजकल 'परीक्षागुरु' ही सर्व सम्मति से हिंदी का सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। आधुनिक अर्थ में यही पहला उपन्यास था। इसमें हमें सर्व प्रथम सामाजिक जीवन चित्रित करने का प्रयास मिलता है। परीक्षा गुरु से पूर्व भारतेंदु ने भी 'हमीर हठ' नामक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था जो पूर्ण न हो सका।

डाक्टर श्री कृष्णलाल हिंदी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल 'तोता-मैना' और 'सारंग-सदाबृक्ष' जैसी कहानियों में खोजते हैं। उनके अनुसार ये कहानियाँ सन् १८६० के लगभग लिपिबद्ध हुई होंगी। इनमें किसी व्यक्ति-विशेष का वर्णन न होकर केवल एक मौखिक वाद-विवाद है। "किंतु 'गुल-बकावली', 'छबीली भटियारिन' और 'हातिमताई' में व्यक्ति विशेष के दर्शन होते हैं जिनमें मानव चरित्र के सरल और सामान्य गुणों का समावेश मिलता है। ....किंतु इन उपन्यासों के रहते हुए भी देवकीनंदन खत्री के 'चंद्र-कांता' (सन् १८६१) से पहले हिंदी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी।" (डाक्टर श्रीकृष्णलाल) किशोरीलाल गोस्वामी 'चंद्रकांता' से भी पूर्व सन् १८८९ में 'कुसुमकुमारी' की रचना कर चुके थे यद्यपि उसका प्रकाशन १९०१ से पहले न हो सका। इस प्रकार डाक्टर श्रीकृष्णलाल खत्री जी को हिंदी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा करने वाला मानते हैं। परंतु भारतेंदु काल में और भी अनेक उपन्यास लिखे जा चुके थे जिनके द्वारा उपन्यास के साहित्यिक स्वरूप का श्री गणेश हो गया था। लाला श्रीनिवासदास के उपरांत ठाकुर जगमोहनसिंह ने काव्य गुणों से परिपूर्ण 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास लिखा। इसमें उपन्यास की वास्तविकता के स्थान पर काव्य-सौंदर्य ही अधिक है। इसी समय अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं से परिपूर्ण 'आश्चर्य वृत्तांत' नामक उपन्यास पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा। यह साधारण कोटि का परंतु मनोरंजक उपन्यास है। इसके पश्चात् बाबू राधाकृष्ण दास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे-छोटे उपन्यास लिखे।

इस काल में उपर्युक्त कुछ मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवादों का कार्य भी आरम्भ हुआ। ये अनुवाद विशेषतः बँगला और अँग्रेजी उपन्यासों से किए गए। अनुवादों का आरम्भ भारतेंदु ने 'पूर्ण प्रकाश' और 'चंद्रप्रभा' नामक उपन्यास से किया। तत्पश्चात बाबू गदाधरसिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेश नंदिनी' का तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता' आदि अनुवादित उपन्यास लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने 'सावित्री' 'विरजा', 'मृण्मयी' का तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इंद्रा', 'युगलांगुरीय' और 'राधारानी' के अनुवाद किए। इन अनुवादों में भाषा का स्वरूप तो उपलब्ध होता है पर वृत्त तथ्यहीन है। इन अनुवादों द्वारा एक लाभ यह हुआ कि हिंदी पाठकों को नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का परिचय मिल गया। इससे मौलिक उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति और योग्यता का श्रीगणेश हुआ।

द्वितीय अवस्था—(१९०० से १९१५ तक) इस युग में अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी खूब लिखे गए। प्रथम युग के अंतिम चरण के अनुवादों का क्रम द्वितीय युग में खूब विकसित हुआ। अच्छे मौलिक उपन्यास कुछ काल उपरांत ही लिखे गए। द्वितीय अवस्था रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी के अनुवादों से प्रारम्भ होती है। वर्माजी ने 'ठगवृत्तांत-माला', 'अकबर', 'अबला-वृत्तांत-माला', तथा 'चित्तौर-चातकी' का; खत्री जी ने 'इला', और 'प्रमिला' का तथा गहमरी जी ने 'चतुर-चंचला', 'भानुमती', 'नए बाबू', 'बड़े भाई' तथा अन्य उपन्यासों के अनुवाद किए। ऐतिहासिक अनुदित उपन्यासों में उदितनारायणलाल का 'दीपनिर्वाण', रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' और गोस्वामीजी का 'तारा' आदि उल्लेखनीय हैं। इस काल में बंगला से प्रायः सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारों बंकिम-चन्द्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, शरत् बाबू, चारुचंद्र आदि के प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हुए। रवीन्द्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि उपन्यासों का अनुवाद इसी युग में हो गया था। इस अनुवाद कार्य में योग देने वाले अनुवादकों में पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पं० रूपनारायण पाण्डेय विशेष उल्लेखनीय हैं। बंगला के अतिरिक्त मराठी, गुजराती के भी कई उप-न्यासों का अनुवाद हुआ। इसी समय अंग्रेजी से 'लंदन-रहस्य' तथा 'टामकाका की कुटिया' नामक उपन्यास अनूदित हुए। गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' तथा हरिऔध जी ने 'वेनिस का बाँका' नामक अनुवाद किए। इन अनुवादों की भाषा प्रथम अवस्था के अनुवादों की अपेक्षा अधिक सजीव और

परिमार्जित थी। लिखने का ढङ्ग भी मनोरंजक था। इन अनुवादों ने हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श ऊँचा करने में योग दिया क्योंकि इनका स्तर हिंदी के मौलिक उपन्यासों से श्रेष्ठ था।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्व-साधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।" ये इस 'द्वितीय अवस्था' से पूर्व ही नरेन्द्र मोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। इस काल में आकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता-संतति' तथा 'भूतनाथ' का सृजन किया। इन उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है, रस संचार, भाव-विभूति या चरित्र चित्रण की नहीं। आचार्य शुक्ल घटना-प्रधान रचनाओं को जिनमें जीवन के विविध पक्षों का चित्रण नहीं होता, साहित्य कोटि में नहीं मानते। परंतु खत्रीजी के इन उपन्यासों का एक ऐतिहासिक महत्व है। कहा जाता है कि हिंदी के जितने पाठक इन उपन्यासों ने उत्पन्न किए उतने और किसी ने भी नहीं किए। साथ ही इन्हें पढ़ कर कितने ही नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। प्रेमचंद खत्री जी के उक्त उपन्यासों तथा उसी प्रकार के अन्य ऐय्यारी और तिलिस्मी घटनाओं से परिपूर्ण उपन्यासों का बीजांकुर फारसी पुस्तक 'तिलस्मे-होशरुबा' से मानते हैं। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना है। खत्री जी इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—"चंद्रकांता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठकका कौतूहल वर्धन हो।" अपने इस उद्देश्य में ये उपन्यास पूर्णतः सफल हुए हैं। खत्री जी की इस परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में गोपालराम गहमरी और बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेखनीय हैं। गहमरी जी ने 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाल कर इस परंपरा को आगे बढ़ाया। गहमरी जी के उपन्यासों में कल्पना के साथ बुद्धि का भी योग है। लिखने का ढङ्ग भी अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक है। वास्तव में गहमरी जी हिंदी में जासूसी उपन्यासों की परंपरा डालने वाले हैं। इन्होंने लगभग ५०--६० उपन्यास लिखे हैं। खत्री जी और गहमरी जी के अतिरिक्त तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास लिखने वालों में देवीप्रसाद शर्मा, मदनमोहन पाठक, विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा, रामलाल वर्मा, जयरामदास गुप्त, चन्द्रशेखर पाठक आदि का भी नाम आता है।

इसी काल में "उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी हैं।" इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, ऐय्यारी

तथा जासूसी आदि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। इनके 'तारा', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम' आदि उपन्यासों में साहित्यिकता के साथ-साथ सामाजिकता के भी दर्शन हुए। इनमें—"समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रंग-रूप, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।.......इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं।" (आचार्य शुक्ल) इन्होंने लगभग ६५ उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में वासनात्मक चित्रणों एवं उद्गारों की भरमार है। विशेष रूप से 'चपला' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इस बात की बहुत आलोचना की गई थी। साथ ही आपने उपन्यास-लेखन में भाषा की विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया। कभी क्लिष्ट संस्कृत गर्भित शैली अपनाई और कभी उर्दू प्रधान शैली। इस अस्थिरता के कारण ये भाषा का एक सुव्यवस्थित रूप स्थिर करने में असमर्थ रहे। शैली की दृष्टि से देवकीनंदन खत्री की शैली अत्यन्त सरल और सरस रही। उसे 'हिंदुस्तानी' का पूर्व रूप कह सकते हैं। गोस्वामीजी के उपन्यासों में सामाजिक तत्व मिलते अवश्य हैं परंतु उनका महत्व सामाजिक जीवन और मानव-चरित्र की गहराइयों में पैठने पर अवलम्बित न होकर कथानक की चतुराई, घटना बाहुल्य द्वारा मनोरंजन उत्पन्न करने के कारण ही विशेष है। इस प्रकार खत्री जी, गहमरी जी एवं गोस्वामीजी भारतेंदु युग के अन्तिम चरण एवं द्वितीय अवस्था के प्रथम चरण के प्रमुख उपन्यासकार हैं। इनके उपरांत हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास लिखकर भाषा के सरलतम रूप के प्रयोग किए। इनमें औपन्यासिक कौशल नहीं है। इसी समय लज्जाराम मेहता ने "प्राचीन हिंदू मर्यादा, हिंदू धर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाने के लिए" 'धूर्त रसिकलाल', 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति' आदि छोटे बड़े अनेक उपन्यास लिखे। बाबू ब्रजनंदनसहाय ने बँगला शैली में 'राधाकांत' और 'सौंदर्योपासक' दो उपन्यास लिखकर हिंदी में भाव प्रधान उपन्यास लिखने की परम्परा डाली।

इस प्रकार इस काल में उपन्यास कला का प्रारम्भ तो हो गया परंतु उसमें गंभीरता नहीं आ पाई। इन उपन्यासों में जीवन की समस्याएँ नहीं थीं, उनके समाधान नहीं थे, उपदेश या नीति के प्रचार में कला नहीं थी और न जीवन के गम्भीर पक्षों का ही कोई चित्रण था। इसलिए इनका मूल्य उपन्यासों के विकास की परम्परा जानने की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है।

तृतीय अवस्था —(१९१५ से १९३६ तक) इस काल में आकर हिंदी उपन्यास साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। "त्रिलोचन शर्मा का यह

कथन है कि—"समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है, जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में"। उपन्यास की दूसरी परिभाषा बनाते हुए इसी बात को इस प्रकार कहा गया है कि उपन्यास, "औद्योगिक क्रांति के युग का महाकाव्य" है। इसीलिए विकास की इस तृतीय अवस्था में उपन्यास-कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। भारतेंदु युग में सामाजिक उथल पुथल प्रारम्भ हुई थी लेकिन उसका पूर्ण अतिक्रमण द्विवेदी युग और छायावादी युग में आकर हुआ। इससे पूर्व उपन्यास के क्षेत्र में विभिन्न परन्तु साधारण प्रयोग मात्र किए जा रहे थे। परंतु प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के लगभग हमारे साहित्यकार देश और समाज की समस्याओं के प्रति अधिक सचेत हो उठे। प्रेमचंद इस नवीन क्रांतिकारी चेतना के अग्रदूत बनकर उपन्यास क्षेत्र में आए। हिंदी उपन्यासों का वास्तविक प्रारम्भ प्रेमचंद से ही मानना चाहिए। क्योंकि उन्हीं के समय में उपन्यास, प्रेम कथा, तिलिस्मी, एयारी, जासूसी चमत्कारों तथा धार्मिक और उपदेशात्मक क्षेत्रों को छोड़कर समाज में आया। प्रेमचंद के उपन्यासों में इस युग का राजनीतिक और सामाजिक भारत साकार हो उठा है। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्दजी हिंदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देषक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो मार्गों के उतार-चढ़ाव हैं।" उनके उपन्यास मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। "प्रेमचन्द में हिंदी उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं।" प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में मानव-जीवन दर्शन उनका लक्ष्य बना। साथ ही भाषा, कला तथा विधान के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। आदर्श और यथार्थ के चित्रण द्वारा जीवन संघर्ष और चेतन जगत का सुंदर चित्रण हुआ। इसी कारण प्रेमचन्द इस युग के जन्मदाता और उपन्यास-सम्राट माने गए। उन्होंने सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, ग़बन, गोदान आदि मौलिक सामाजिक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाया। इन उपन्यासों में वस्तुचित्रण, कथोपकथन आदि के प्रौढ़तम रूप के दर्शन हुए। इनके माध्यम से निम्न और मध्यवर्ग के सुंदर चित्र सामने आए और साथ ही राष्ट्रीय भावना को बल मिला। उन्होंने द्विवेदी युग में लिखना प्रारम्भ किया, छायावादी युग में उनकी कला ने पूर्ण विकास पाया और सन् १९३६ के बाद प्रगतिशील विचारधारा के साथ आगे बढ़े। इसका मुख्य कारण था, तत्कालीन भारतीय जीवन की असाधारण गतिशीलता, प्रेमचंद

का इस जीवन से घनिष्ठ परिचय और उनकी अनन्य प्रतिभा।

इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकारों में प्रसाद, कौशिक, उग्र, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरणवर्मा, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा आदि प्रमुख हैं। काव्य और नाटक के आदर्शवादी प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो यथार्थवादी उपन्यास लिखे। उधर सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' ने वर्जित विषयों पर 'दिल्ली का दलाल', सरकार तुम्हारी आँखों में', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'शराबी' आदि अनेक उपन्यास समाज की दुर्बलताओं को नग्न रूप में प्रकट करने के लिए लिखे। कुछ आलो-चकों ने इन घोर अश्लील यथार्थवादी उपन्यासों को 'घासलेटी साहित्य' के नाम से पुकारा। इन दोनों कलाकरों का यह विरोधाभास साहित्य की एक अनोखी वस्तु है। प्रसाद के उपन्यासों में प्रेमचंद की अपेक्षा बौद्धिक सघनता अधिक है। इनके अतिरिक्त कौशिक के 'मां' और भिखारिणी, प्रतापनारायण श्री वास्तव के विदा, निकास, विजय और विसर्जन; भगवतीचरण वर्मा के चित्र लेखा, तीन वर्ष, टेढ़े मेढ़े रास्ते, आखरी दांव; चतुरसेन शास्त्री के परख, हृदय की प्यास, वैशाली की नगर वधू, सोमनाथ आदि सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास; राजा राधिका रमणप्रसादसिंह के राम रहीम, सूरदास, टूटा तारा आदि अनेक प्रसिद्ध उपन्यास निकले। इनके अतिरिक्त इसी काल में इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, नरोत्तम नागर आदि ने कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' तथा अँचल का 'चढ़ती धूप' भी सुन्दर उपन्यास है। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उप-न्यासों गढ़कुण्ढार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी कचनार, सोना आदि लिख कर हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र को समृद्ध बनाया और आगे बढ़ाया। इस काल के छायावादी कवियों ने भी उपन्यास-साहित्य को विकसित किया। प्रसाद का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'निराला' ने भी कई उपन्यास लिखे जिन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। 'अप्सरा' आदि मूलतः प्रेम कथाएँ हैं। सन् ३६ के बाद उन्होंने 'कुल्ली भाट', बिल्लेसुर बकरिहा आदि यथार्थवादी उपन्यास लिखे जिनमें जीवन की कठोर, निर्मम वास्तविकता कथा के प्रवाह को सबल बनाती है। इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उपर्युक्त उपन्यासकारों में से अनेक प्रेमचंद काल से लेकर अब तक बराबर लिखते चले आ रहे हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण अब भी वही है। इसलिये उनकी और उनके उपन्यासों की गणना आधुनिक काल में न कर उसी काल में कर दी गई है। उपर्युक्त जीवित कलाकारों में से लगभग

साथी अभी तक नवीन उपन्यासों की रचना कर इस क्षेत्र को समृद्ध बना रहे हैं।

आधुनिक काल—(सन् १६३५ से अब तक)—प्रेमचंद की विरासत को उनके उत्तराधिकारी सम्हालने में असमर्थ रहे। उनके पश्चात् यह वेगवती धारा कई शाखाओं में बंट गई। प्रेमचंद के बाद कुछ दिनों जैनेन्द्र की खूब चर्चा रही परंतु आगे चल कर वे अध्यात्म के चक्कर में पड़ कर लोक-परलोक की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हो गये और अब भी हैं। प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यास-साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए प्रकाशचंद्र गुप्त ने लिखा है कि—"प्रेमचंद की किसान परम्परा को तज कर हिंदी-उपन्यास अनेक नई दिशाओं में बढ़ा-तत्व और रूप दोनों ही दृष्टि से। एक धारा निम्न मध्यवर्ग के जीवन, उसकी निराशाओं और असफलताओं को अपनाती है। इसके प्रमुख परिचायक जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, अश्क आदि हैं। दूसरी धारा व्यक्तिवादी अहंवादी, नाशवादी दृष्टिकोण को अपनाती है, इसके प्रतिनिधि भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि हैं। एक धारा मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव में कुंठित अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि पं० इलाचंद्र जोशी रहे हैं। एक अन्य धारा भारतीय श्रमजीवी वर्ग की अग्रगामी शक्तियों से सम्बन्ध जोड़ती है और भविष्य की धरती को सजोती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि यशपाल, राँगेय राघव, पहाड़ी, भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन आदि हैं।" उपर्युक्त वक्तव्य से आधुनिक काल की विभिन्न औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस युग में प्रधान रूप से प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास लिखे गए, जिन पर मार्क्सवादी विचारधारा का अत्यंत गहरा प्रभाव है। इस विचारधारा के लेखकों का नेता यशपाल को माना जा सकता है। यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' 'दिव्या' आदि सुन्दर उपन्यास हैं जिनका दृष्टिकोण साम्यवादी है। राहुल साँकृत्यायन के सिंह सेनापति, जय यौधेय आदि उपन्यासों में इतिहास का वही प्राचीन वर्ग संघर्ष किंचित अनैतिकता के पुट के साथ उभर आया है। राँगेय राघव ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक अनेक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में खूब काम किया है। आपकी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। आपका दृष्टिकोण वैज्ञानिक सामाजिक है। घरौंदे, अँधेरे के जुगनु, मुर्दों का टीला एवं नव प्रकाशित पांच औपन्यासिक जीवनियाँ आदि आपकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इस तरुण कलाकार से हिंदी को बहुत आशा है। उपेन्द्रनाथ अश्क के दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' और 'गर्मराख' विशेष

प्रसिद्ध हो चुके हैं। धर्मवीर भारती ने 'गुनाहों का देवता' एवं 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' लिखकर इधर उपन्यासकार के रूप में अच्छी ख्याति पाई है। नागार्जुन के 'बलचनमा' और 'रतिनाथ की चाची' भी मार्क्सवादी विचार धारा के उपन्यास हैं। अमृतलाल नागर ने 'बूंद और समुद्र' तथा 'महाकाल' नामक उपन्यासों में इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। अभी हाल में आगरे के तरुण उदीयमान कलाकार राजेन्द्र यादव ने 'प्रेत बोलते हैं' नामक अपना प्रथम उपन्यास लिखकर नवीन प्रमुख उपन्यासकारों में अपना स्थान बना लिया है। उपरोक्त सभी कलाकारों ने अपने उपन्यासों में वर्ग संघर्ष, सामाजिक विषमता, दरिद्रता आदि का अत्यंत मनोवैज्ञानिक और साम्यवादी विचार धारा से प्रभावित चित्रण किया है। प्रेमचंद के 'गोदान' की अस्पष्ट भावना का यहाँ आकर विकास हुआ है। जीवन की यथार्थता का अँकन इन उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य है। इसी कारण इनमें व्यंग का आधिक्य है। इस वर्ग के लेखकों का मत है कि हमारा वर्तमान समाज सड़ गया है, अतः उसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए। इसी भावना से प्रेरित होने के कारण इस काल के अधिकाँश उपन्यासों में क्राँति की एक विध्वंसक ज्वाला के दर्शन होते हैं। परंतु जीवन की यथार्थता के आधिक्य से कला प्रारंभ में कुछ उपेक्षित सी होने लगी थी परंतु बाद में ये लोग सम्हल गए और अब नवीनतम उपन्यासों में पुनः सुन्दर कला के दर्शन होने लगे हैं। कुछ उपन्यासों में सेक्स की प्रधानता होने के कारण अश्लीलता का भी समावेश होने लगा है।

उपरोक्त उपन्यासों के अतिरिक्त हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक अनोखा उपन्यास लिखा है। यह हिंदी में अपने ढङ्ग का प्रथम उपन्यास है। हिंदी की महिला लेखिकाओं में श्रीमती उषादेवी मित्रा और कुमारी कंचनलता सब्बरवाल बहुत प्रसिद्ध हैं। मित्रा जी के उपन्यासों में रोमाँटिसिज्म तथा कुमारी सब्बरवाल के उपन्यासों में भारतीय नारी का सुन्दर चित्रण मिलता है।

संक्षेप में आज का हिंदी-उपन्यास-साहित्य निरंतर विकसित होता आ रहा है। आज समाज में साहित्य के इस अङ्ग की अत्यधिक माँग है। दिन प्रतिदिन अनेक नये उपन्यास और उपन्यासलेखक प्रकाश में आते जारहे हैं। औपन्यासिक शैली तथा टेक्नीक में नये प्रयोग हो रहे हैं। इस प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यासों का भविष्य उज्ज्वल और महान् है।

६—कहानी : स्वरूप और विकास

स्वरूप

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव में आदि काल से लेकर आज-तक बराबर एक सी रही है। "फिर क्या हुआ ?" की भावना, सभ्य और असभ्य सभी जातियों में समान रूप से पाई जाती है। जिन जातियों या भाषाओं का कोई साहित्य नहीं है उनमें भी दन्तकथाओं के रूप में कहानियों का प्रचलन है। बाल्यावस्था से ही मानव में कहानी सुनने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। बचपन में हम 'नानी की कहानी' सुना करते हैं जिनमें मुख्यरूप से "एक था राजा, एक थी रानी" की कहानियाँ ही होती हैं। बड़े होने पर जैसे जैसे हमारी जिज्ञासा और ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है वैसे-वैसे हमारी कहानियों के विषय भी बदलते जाते है। आज बालकों को शिक्षा देने का सबसे सुन्दर, रोचक और सरल माध्यम कहानी ही माना जाता है। आज कहानी हमारे साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अङ्ग है क्योंकि इनके द्वारा पाठकों को बहुत थोड़े समय में मनोरञ्जन और ज्ञान की एक साथ उपलब्धि होती है। इसी भावना को लेकर कहानी मानव के आदि-काल से होकर अनेक परिवर्त्तनों और परिवर्धनों को पार करती हुई आज तक चली आ रही है। असाहित्यिक बोलियों में कुछ सीमा तक कहानी का वही पुराना रूप प्रचलित है परन्तु आज के साहित्य में उसका विकास एक स्वतंत्र कला के रूप में हो चुका है।

आज हमारे कथा-साहित्य के दो प्रमुख अङ्ग हैं—कहनी और उपन्यास। इन दोनों में कुछ समानताएँ होने के कारण हिन्दी के पूर्ववर्ती कुछ आलोचकों ने यह मत प्रकट किया था कि-"कहानी को कटा-छटा उपन्यास और उपन्यास को विस्तारपूर्वक कही गई कहानी कहा जासकता है।" इसी बात को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते है कि एक ही चीज का कहानी लघु संस्करण है और उपन्यास बृहद् संस्करण। यहाँ तुलना का आधार केवल 'आकार' है। यदि हम इस कथन को ही प्रामाणिक मान लें तो तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। आज कहानी और उपन्यास कला की दृष्टि से कुछ समानताएँ रखते हुए भी दो पूर्णतः भिन्न विधाएँ मानी जाती हैं।

विभिन्न विद्वानों ने कहानी की एक परिभाषा निश्चित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु जब हम कहानी के विकास को देखते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की कहानी हमारी बूढ़ी दादी और नानी की कहानियों की वंशज होती हुई भी उससे सर्वथा भिन्न अपना स्वतन्त्र विकास करने में समर्थ हुई है। जो वस्तु इतनी लचीली और परिवर्तन शील हो उसे परिभाषा के कठोर बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। इसी कारण कहानी की, विभिन्न विद्वानों द्वारा निश्चित की हुई विभिन्न परिभाषाएँ एक जागरूक पाठक को सन्तोष नहीं दे पातीं और न उनके द्वारा कहानी-कला से अपरिचित किसी सामान्य व्यक्ति को कहानी की समस्त विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान ही कराया जा सकता है। नीचे दिये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

पाश्चात्य जगत में कहानियों के जन्मदाता एडगर एलेन पो के शब्दों में कहानी—"रसोद्रेक करने वाला एक आख्यान है जो एक ही बैठक में पढ़ा जा सके।" दूसरे लब्ध प्रतिष्ठ कलाकार एच० जी० वेल्स का भी यही मत है कि—"कहानी तो बस वही है जो लगभग बीस मिनट में साहस और कल्पना के साथ पढ़ी जाय।" उक्त परिभाषाओं द्वारा केवल कहानी के आकार पर ही प्रकाश डाला गया है। इसी मत की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध आलोचक हडसन ने कहानी को उपन्यास का आने वाला रूप कह कर उपन्यास और कहानी के बीच विषय और शिल्पगत अभेदत्व स्थापित किया है। परन्तु हमारे वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"ऐसा कहना वैसा ही असङ्गत होगा जैसा चौपाया होने की समानता के आधार पर मेंढक को एक छोटा बैल और बैल को बड़ा मेंढक कहना।" वस्तुस्थिति यह है कि कहानी और उपन्यास में आकार-प्रकार का भेद तो है ही, साथ ही उनकी विषयवस्तु, शिल्प और शैली में भी पर्याप्त अन्तर है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास कहानी का विवेचन करते हुए कहते हैं कि "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है।" परन्तु आधुनिक एकांकियों में भी 'एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव' की ही अवतारणा की जाती है। इसलिए यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो एकांकी और कहानी के बीच एक विभाजक-रेखा खींचना असम्भव हो जायगा। इसी प्रकार अपने स्वरूप और लक्ष्य में आज की छोटी कहानी वैयक्तिक निबन्ध, शब्दचित्र और रिपोर्ताज से भी भिन्न है।

कहानी के स्वरूप का विवेचन करते हुए हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार प्रेमचंद ने लिखा था कि "कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के

किसी एक अङ्ग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है।...... उपन्यास की भांति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता। न उनमें उपन्यास की भांति सभी रसों का सम्मिश्रण ही होता है। वह एक रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भांति भांति के फूल, बेल बूटे सजे हुये हैं बल्कि एक ऐसा गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।" इस कथन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी जीवन का एक खण्डचित्र है जो सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या न कर केवल उसके एक घनीभूत क्षण (Frozen moment) को अनावृत्त कर हमारे सम्मुख रख देता है। अच्छी कहानी केवल जीवन के उन घनीभूत क्षणों को ही सामने रख कर लिखी जा सकती है। हमारे जीवन में सदैव घटनाएं घटती रहती हैं परंतु हम प्रत्येक घटना को याद नहीं रखते। कुछ घटनाएँ ही ऐसी होती हैं जो हमारे ऊपर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं। जब ऐसी घटनाएं कहानी के रूप में अपने सम्पूर्ण घनत्व के साथ पाठकों के सामने आती हैं तो पाठक उससे अभिभूत हो उठता है। यही कहानी का सबसे बड़ा प्रभाव और सफलता है।

कहानी में मानसिक संघर्ष की प्रधानता रहती है क्योंकि अज्ञेय के शब्दों में—"कहानीकार एक प्रकार से मानसिक संघर्ष में जीता है। संघर्ष कला की जननी है।" इसलिये कहानीकार का संघर्ष पूर्ण मानव-जीवन से निकट का परिचय होना आवश्यक है। साथ ही उसमें उन विशिष्ट संघर्ष पूर्ण क्षणों को पकड़ने की क्षमता भी होनी चाहिये अन्यथा उसकी कहानी प्रभावहीन और निष्पन्द हो जायगी। उसमें अपेक्षित तीव्रता और प्रभाव नहीं उत्पन्न हो सकेगा। वह उन संघर्ष पूर्ण विशिष्ट क्षणों को अपने पूर्ण घनत्व के साथ चरित्र और कथावस्तु के परिपार्श्व पर आधारित कर अत्यन्त प्रभावशाली बना देता है। इसलिये कहानी में चरित्र और कथावस्तु का इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता जितना कि उस चरम बिन्दु—लक्ष्य-का। कहानी की उपरोक्त विशिष्टता को लक्ष्य कर आधुनिक अँग्रेजी आलोचकों ने कहानी को जीवन का 'स्नेप-शॉट' (Snap Shot) माना है। दूसरे शब्दों में हम उसे जीवन का टुकड़ा भी कह सकते हैं और बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"वह टुकड़ा ऐसा होता है कि छिपकली की पूंछ की भांति बिल्कुल सफाई से अलग हो जाता है", और फिर उसमें प्राणों का स्पन्दन होता रहता है। उसमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाहर से कोई घटना नहीं जोड़नी पड़ती। वह छोटी होते हुये भी किसी बड़े तथ्य का उद्घाटन करती है और जितना ही वह तथ्य व्यापक होता है, उतनी

की कहानी उत्तम होती है। उस बड़े तथ्य के उद्घाटन में कहानीकार का वैय-क्तिक दृष्टिकोण प्रधान रहता है। इसीकारण उसकी तुलना गीति-काव्य से की जा सकती है क्योंकि कहानी में भी वैयक्तिक दृष्टिकोण की वही प्रधानता और वही तन्मयता रहती है।

सर ह्यू वाल पोल के शब्दों में—"कहानी कहानी होनी चाहिए अर्थात उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिए और वह आकस्मिकता से पूर्ण हो। उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरम बिंदु और संतोषजनक अन्त तक ले जाय।" इस परिभाषा से सिद्ध होता है कि कहानी की सभी घटनाएं एवं पात्र सार्थक होने चाहिए। साथ ही उसमें तीव्रता और कौतूहल भी हो। बाबू गुलाबराय की निम्नलिखित परिभाषा से कहानी का स्वरूप और उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं। "छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक दिन या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परंतु कुछ-कुछ अप्रत्या-शित ढङ्ग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रोंके चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहल पूर्ण वर्णन हो।" इस प्रकार कहानी एक ही निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख होने के कारण उपन्यासों से भिन्न अपनी एक नई शैली बनाने में समर्थ हुई है। उपन्यासों से ही नहीं, पुरानी कहानियों से भी आधुनिक कहानी की शैली नितांत भिन्न हो गई है।

आज कहानी का आधार जीवन का कोई रहस्य, मनोवैज्ञानिक सत्य या जीवन के यथार्थ स्वभाव का चित्रण करना बन गया है। प्रेमचंद इस बात को जानते थे। उन्होंने कहा भी है—"वर्तमान आख्यायिका का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल ही गौण है।........कहानी एक घटना, मनः स्थिति या बाह्य परिस्थिति है जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो।" आज का कहानी-साहित्य अपने समष्टि रूप में इसी सत्य का उद्घाटन कर रहा है। आज के समाज में कथा-साहित्य के अङ्गों में जितनी कहानी लोकप्रिय है उतना उपन्यास भी नहीं। इस अङ्ग की प्रभाव डालने की शक्ति अपरिमित है। इसलिए कहानीकारों को बहुत सँभलकर इसका प्रयोग करना चाहिए। आचार्य शुक्ल कहानी के इसी प्रभाव को स्वीकार कर उथली कहानियाँ लिखने वाले कहानीकारों को सावधान करते हुए कहते हैं कि—"आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। वे समाज की प्रवृत्तियों को जहाँ अभिव्यक्त करती हैं, वहाँ उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा

निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकतीं हैं। इसलिए कहानी में नंगापन और फूहड़पन कहानी कला की कोई सेवा नहीं कर सकता।" कहानी द्वारा कुरुचि उत्पन्न करना, व्यक्ति, समाज को देश को बहुत बड़ी हानि पहुँचाना है। सस्ती भावुकता का चित्रण मन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल पाता। जिस प्रकार शाश्वत साहित्य के निर्माण के लिए मानव-मन की चिरंतन और सार्वकालिक भावनाओं का आश्रय लेना आवश्यक है, उसी प्रकार उत्कृष्ट कहानी को भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर ही आधारित होना चाहिए। इन चिरन्तन भावनाओं की अभिव्यक्ति भी उच्च स्तर पर और उत्कृष्टतम शैली द्वारा होनी चाहिए। प्रेम एक चिरन्तन भावना है। आधुनिक अधिकाँश कहानियों का मुख्य विषय प्रेम के विविध स्वरूपों का चित्रण करना बन गया है। "उसने कहा था" नामक कहानी में भी गुलेरीजी ने इसी भावना को अपना आधार बनाया है किंतु आज की प्रकाशित असंख्य कहानियोंमें से ऐसी कितनी हैं जो प्रभावोत्पादकता और कलात्मक उत्कृष्टता में उसकी सीमा को भी छू सकें। आज की अधिकाँश कहानियों में क्रम हीनता, चरित्र की अस्पष्टता, संवादों की अस्वाभाविकता, वातावरण के सृजन करने वाले वर्णन का अभाव, आकर्षण और प्रभाव शून्य आदि और अन्त, कहानी के मध्य में ही रहस्योद्-घाटन, कल्पना की ऊँची उड़ान और प्रवाह रहित बोझिल भाषा आदि के भयङ्कर दोष भरे रहते हैं जिनके कारण कहानी नीरस और कलाशून्य बन जाती है।

कहानी के उपर्युक्त विवेचन के साथ यह भी आवश्यक है कि उसके आकार पर भी एक दृष्टि डाल ली जाय। प्रारम्भिक विदेशी आलोचकों ने समय के अनुसार कहानी का आकार निर्धारित कर रखा था कि कहानी इतनी बड़ी होनी चाहिए जो एक घण्टा, या कम से कम बीस मिनट में समाप्त करली जाय। आधुनिक कुछ आलोचक जीवन की भीषण व्यस्तता को देखकर यह कह उठे हैं कि कहानी केवल पाँच मिनट में ही समाप्त हो जानी चाहिए। परन्तु यथार्थ में कहानी के आकार की कोई निश्चित सीमा नहीं बाँधी जा सकती। हाँ, इतना अवश्य है कि कहानी का आकार बढ़ते-बढ़ते कहीं उपन्यास न बन जाय। ऐसा होने पर लेखक कहानी के प्राण-लक्ष्य या प्रभाव से बहुत दूर जा सकता है और वहीं कहानी की कलात्मकता नष्ट हो जाती है। कहानी का प्राण उसका प्रभाव है। श्रेष्ठ कलाकार इस प्रभाव को कभी-कभी अत्यन्त संक्षेप में ही स्पष्ट कर जाते हैं। कहानी छोटी होते हुए भी श्रेष्ठ बन सकती है। संसार की सबसे छोटी कहानी केवल तीन वाक्यों में ही समाप्त हो गई है। वह इस प्रकार है—

"दो व्यक्ति रेलगाड़ी के पहले दर्जे के डिब्बे में बैठे यात्रा कर रहे थे। उनमें से एक ने दूसरे से पूछा—"तुमने प्रेत देखा है?"

दूसरे ने कहा—'तुमने नहीं ... ...?' —और गायब हो गया।

इन वाक्यों में इस लघु अवतरण में बड़ी उत्सुकता, बड़ी तीव्रता और [illegible] वर्तमान है जो कहानी की जान होता है। अतः कहानी के आकार पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। परंतु आज के अवकाश हीन अत्यन्त व्यस्त जीवन में यदि कहानी आकार में छोटी हो तो अच्छा है क्योंकि आज के मनुष्य के पास इतना अवकाश नहीं है कि वह लम्बे-लम्बे उपन्यास और भीम काय महाकाव्य आद्योपान्त पढ़ सके। इसलिए आज उसके मनोरंजन, ज्ञान-वर्द्धन आदि के लिए छोटी कहानियाँ, एकाकी नाटक आदि ही मुख्य साधन बन सकते हैं।

तत्वों की दृष्टि से विद्वानों ने कहानी के छः प्रमुख तत्व माने हैं—१—कथावस्तु, २—चरित्र चित्रण, ३—कथोपकथन, ४—देश, काल तथा वातावरण, ५—वर्णन शैली और ६—उद्देश्य। इन तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से है—

कथानक—कथानक के विकास की पाँच अवस्थाएं मानी गई हैं—१—प्रारम्भ—कहानी का प्रारम्भ किसी पात्र के परिचय, वातावरण के वर्णन या दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा होता है। इसका रोचक होना आवश्यक है। २—आरोह—इसमें पात्र की मानसिक अवस्था, स्थिति या भावना का विकास दिखाया जाता है। ३—चरम स्थिति—जहाँ पर कहानी की रोचकता अथवा सुन्दरता में क्षण भर में स्तब्धता आ जाती है और पाठक के हृदय में कम्पन होने लगता है। कुछेक कहानियों में यह स्थिति अन्त में आती है। ४—अवरोह (पतन)-'आगे क्या हुआ' की जिज्ञासा या उत्सुकता का समाधान ही अवरोह है। ५—अन्त या उपसंहार—इसमें कहानी का परिणाम निहित रहता है। वातावरण, घटना और चरित्रों के पूर्ण विकास के अनन्तर कथानक का अन्त होता है। कुछ कहानियों में इस अवस्था पर आकर सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर दिया जाता है तथा कुछ में यह परिणाम अस्पष्ट रह कर पाठकों को मनन करने की सामग्री देता है। आजकल की कुछ कहानियों में कहीं कहीं कथानक की समाप्ति चरमस्थिति या क्लाइमेक्स पर पहुंच कर हो जाती है। कथानक का चुनाव जीवन की किसी भी घटना से किया जा सकता है। हमारी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण-शक्ति के द्वारा नगण्य से नगण्य घटना भी उत्कृष्ट कथावस्तु का आधार बन सकती है।

२—चरित्र चित्रण—यह कहानी का महत्वपूर्ण अङ्ग है। पात्रों का चरित्र चित्रण लेखक की अनुभूति, जीवन सम्बन्धी ज्ञान एवं अनुभव और उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर निर्भर करता है। पाठक के हृदय में पात्रों के प्रति सहानुभुति का उदय होना सफल चरित्र चित्रण का प्रतीक है। पात्र यद्यपि लेखक की कल्पना की उपज होते हैं किंतु यदि उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र न होकर लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाता है तो वे व्यर्थ हैं। उन्हें सफल पात्र नहीं माना जा सकता। पात्र के चारित्रिक विकास को स्पष्ट करने के लिये पात्र की वैयक्तिक, मानसिक और सामाजिक परिस्थितियों का विवरण अवश्य होना चाहिये। चरित्र चित्रण चार प्रकार से किया जाता है—१—वर्णन द्वारा, २—संकेत द्वारा, ३—वार्तालाप द्वारा, ४—घटनाओं द्वारा। चरित्र निरुपण में चार बातों का प्रमुख स्थान होता है—वास्तविकता, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता और आंशिकता।

३—कथोपकथन-यह पात्रों के चरित्र-चित्रण तो में सहायक होता ही है साथ ही इसके द्वारा कहानी में रोचकता और सजीवता का भी समावेश हो जाता है। इससे चरित्र-चित्रण में बल मिलता है। इनके द्वारा ही हम पात्रों के दृष्टिकोण, आदर्श तथा उद्देश्य से परिचित हो सकते हैं। विशेष रूप से कथोपकथन कहानियों में तीन प्रकार की सहायता करता है—चरित्र चित्रण में, घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा भाषा-शैली का निर्माण करने में। इस लिए भाषा की स्वाभाविकता के साथ साथ कथोपकथन स्थान, समय और परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर ही वह कहानी में प्रवाह, सजीवता और उत्सुकता उत्पन्न कर सकता है। इसके द्वारा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का भी सुन्दर चित्रण होता है इसलिए यह जितना ही मनोभावों के अनुकूल होगा उतना ही उस कहानी की कलात्मकता और उत्कृष्टता में सहायक होगा। अधिक लम्बे, भावुकतापूर्ण और कवित्वमय कथोपकथन कहानी की स्वाभाविक गति को शिथिल बना देते हैं।

४—देश, काल तथा वातावरण—उपन्यास के समान कहानी में भी इसकी आवश्यकता होती है। देश, काल तथा वातावरण के चित्रण स्वाभाविक, आकर्षक, यथासम्भव पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुकूल परन्तु छोटे होने चाहिए। ऐतिहासिक कहानियोंमें तो इसकी आवश्यकता और भी अधिक होती है। सामाजिक कहानियों में प्रवृत्ति विशेष के अनुसार और उससे सम्बन्धित आचार-विचार, रीति नीति का ध्यान रखना अनिवार्य है। भाव प्रधान कहानियों में प्रकृति का सचेतन और संवेदन शील चित्रण कर वातावरण का

निर्माण किया जाता है।

५—शैली—इसका सम्बन्ध कहानी के सम्पूर्ण तत्वों से रहता है। इसलिए कहानी की वर्णन शैली सरल, सुबोध, सरस, प्रवाहपूर्ण और धारावाहिक होनी चाहिए। सुन्दर शैली द्वारा ही लेखक गूढ़ से गूढ़ भावनाओं और सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में सफल होता है। लक्षणा, व्यंजना इत्यादि शब्द शक्तियाँ तथा अलङ्कार और मुहावरों द्वारा वर्णन शैली को उत्कृष्ट रूप दिया जा सकता है। हास्य, व्यंग्य, प्रवाह और चित्रोपमता शैली की अन्य विशेषताएं हैं। भाषा की सजीवता और शक्तिमत्ता कहानी में गति उत्पन्न कर देती है। अपनी संक्षिप्तता के कारण कहानी की शैली अधिक व्यंजना प्रधान होती है। उसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है। कहानीकार के पास इतना समय नहीं कि वह ठहर कर प्रत्येक घटना और दृश्य का विस्तृत वर्णन दे सके। वह संक्षेप में बहुत कुछ कह जाता है। उसमें 'गागर में सागर' भरने की प्रवृत्ति होती है। कहानीकार की शैली को प्रत्यक्ष शैली कहा जा सकता है। वह शैली पाठक के अन्तरंग मित्र की सी होती है। वह घरेलू आदमी की तरह गपशप करता है। कहानियों के विषय के अनुरूप ही शैली में परिवर्तन होता रहता है। व्यंग्य प्रधान कहानियों की शैली व्यंग्यपूर्ण होती है और भावात्मक तथा वर्णनात्मक कहानियों में भावुकता और विवरण की प्रधानता रहती है।

कहानी की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसमें सफल चित्रण खड़े करने की सामर्थ्य हो और ओज और माधुर्य गुणों की अवस्थिति विषयानुकूल और रसानुकूल हो। भाषा के विषय का जहाँ तक सम्बन्ध में वहाँ हिंदी-कहानी-साहित्य में चार प्रकार की भाषा शैलियाँ प्रचलित हैं।

१—शुद्ध संस्कृत गर्भित भाषा—प्रसाद जी इसके प्रतिनिधि हैं। इनके विदेशी पात्र भी शुद्ध साहित्यिक हिन्दी बोलते हैं। भाषा-विषयक प्रसाद जी का कथन था कि—"भिन्न भिन्न देश और वर्गवालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से रचनाओं को अजायबघर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है।........अतएव भाषा विविधता के लिए तर्क न करना ही हितकर है स्वरूप भिन्नत्व केवल वेशभूषा से ही व्यक्त कर देना चाहिए।" अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रसाद जी ने इसी विचारधारा का निर्वाह किया है।

२—दूसरी शैली के प्रतिनिधि प्रेमचंद हैं। आपकी भाषा सरल, सरस

और पात्रानुकूल है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में आपने—"किसानों की बातचीत में असाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है जबकि शहर के मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कार पूर्ण है उतनी ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।"

३—तीसरी भाषा-शैली उग्र जी की फड़कीली लाक्षणिक शैली है। उनकी लोचदार भाषा पाठकों के हृदय में गड़कर रह जाती है।

४—अज्ञेय और यशपाल की रोचक भाषा जो सरल से सरल और गहन से गहन भावों को मूर्त कर देने में पूर्ण सफल है।

५—आजकल कहानी लिखने की पाँच प्रणालियाँ या शैलियाँ हैं—आत्म चरित्र प्रणाली, ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक प्रणाली, कथोपकथनात्मक प्रणाली, पत्रात्मक प्रणाली, डायरी प्रणाली।

६—उद्देश्य—कहानी का उद्देश्य साधारण रूप से मनोरंजन होता है साथ ही उसमें जीवन सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या भी रहती है। संक्षेप में कहानी के उद्देश्य निम्नलिखित माने जा सकते हैं—(१)—किसी विशिष्ट प्रवृत्ति को जगा कर हृदय को सम्वेदन शील बनाना, (२) विचार या सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन और प्रचार करना, (३) सुन्दर भाव चित्रों द्वारा मनोरंजन करना। इसके अतिरिक्त कहानीकार का सबसे बड़ा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह यथार्थ के सुरुचिपूर्ण सन्देश द्वारा उच्च आदर्श का अव्यक्त परंतु स्पष्ट उपदेश दे सके। आज के युग की यही माँग है।

कहानी के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम सकते हैं कि—"एक तत्व, एक संवेदना, एकार्थी प्रेरणा, एक प्रयोजन, एक स्वरूप तथा एक प्रकार की सर्वत्र मनोहरता कहानी की विशेषता है।" (सद्गुरु शरण अवस्थी) कहानी में किसी भी सशक्त विचारधारा का प्रभाव या किसी भी वाद का समन्वय मिल सकता है। परंतु जहाँ उसे प्रचार भावना ने छू लिया वहीं उसकी कला मलिन हो जाती है। ऐसी स्थिति में चाहे टाल्स्टाय हों चाहे प्रेमचन्द, सफल कहानी नहीं लिख सकते।

विकास

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव में आदिकाल से चली आ रही है। हमारा प्राचीन वाङ्मय वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि में अनेक कथाएँ बिखरी पड़ी हैं। इसी प्रकार बौद्ध जातक, पञ्च-तंत्र, हितोपदेश, बृहत् कथा, कथा सरित्सागर, वैताल पंचविंशतिका, शुक

सप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, दशकुमार चरित्र, आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अनेक प्रकार की कथाओं का संग्रह है। इसके उपरांत ब्रजभाषा गद्य में, दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में कदाचित हिंदी की पहली गद्यमय कहानियाँ लिखी गई। सं० १७६० के लगभग लिखे गए 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थ में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई कहानियाँ किसी अज्ञाता माना लेखक ने लिखी थीं। सम्वत् १७६७ में सूरति मिश्र ने संस्कृत के 'बैताल पंच विंशतिका' की कहानियाँ लेकर ब्रजभाषा में 'बैताल पच्चीसी' नामक कहानियों का ग्रन्थ लिखा। खड़ीबोली गद्य में लिखे गए लल्लूजीलाल, सदल मिश्र और इंशा अल्लाखाँ के ग्रन्थ भी एक प्रकार से विभिन्न कथाओं के संग्रह मात्र माने जा सकते हैं। अगर 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का अर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी मानी जा सकती है। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी उनका सामाजिक तटस्थता तथा तत्कालीन परिस्थितियों से एक अजीब सा बिरस विलगाव। इनमें कथा को छोड़कर कहानी के तत्वों का पूर्ण अभाव था।

'रानी केतकी की कहानी' के निर्माण काल के आसपास ही लल्लूजीलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' का उर्दू में रूपांतर किया। सम्वत् १८६६ में इन्होंने 'हितोपदेश' की कहानियों का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया। परन्तु हिंदी के उपर्युक्त तीनों गद्य प्रवर्त्तकों की रचनाओं का उद्देश्य भाषा का स्वरूप स्थिर करना था। इसी कारण वर्ण्य विषय की साहित्यिक उत्कृष्टा और उसके कलात्मक रूपों की अभिव्यंजना की ओर इनका ध्यान नहीं गया। इन तीनों लेखकों के उपरांत ५० वर्ष तक गद्य साहित्य की विशिष्ठ रचनाएं उपलब्ध नहीं होतीं। कहानियों का वास्तविक आरम्भ तो इनके प्रायः सौ वर्ष बाद होता है।

भारतेंदु युग में यद्यपि 'कहानी कला' जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव चाहे भले ही न हो सका किंतु लघु-कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे थे। राजा शिवप्रसाद लिखित 'राजा भोज का सपना' राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेंदु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'मूसा पैगम्बर' आदि रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं। परन्तु जिस अर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें इन कथाओं को भी शामिल नहीं किया जा सकता। इनमें चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का अभाव था। यहाँ आकर केवल एक परिवर्तन यह दिखाई दिया कि लेखकों

की पूर्व उल्लिखित सामाजिक तटस्थता भंग होगई। प्राचीन उपदेशात्मक तथा गम्भीरतम रूपरेखा के स्थान पर स्वच्छन्द एवं तीखे व्यंग का जन्म हुआ। कथाएं थीं तो यद्यपि यमलोक और स्वप्नलोक की परन्तु लेखक क्षण भर के लिए भी संसार के कटु यथार्थ से दूर नहीं हुआ। फिर भी गद्य की अन्य विधाओं के समान हिंदी कहानी को भारतेंदु युग की उपज नहीं माना जा सकता।

जिस प्रकार हिंदी उपन्यास-रचना पर बँगला और अंग्रेजी का प्रभाव काम कर रहा था उसी प्रकार हिंदी कहानी भी इन दोनों भाषाओं से प्रभावित थी। हिंदी में सर्व प्रथम कहानी लाने का श्रेय एकमात्र 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को ही है। इसी पत्रिका के माध्यम से हिंदी कहानी कला के आरम्भ के अविकल प्रयत्न और प्रयोग हुए जिनसे उसमें मौलिकता आई। सरस्वती के प्रथम अङ्क में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी प्रकाशित हुई जिस पर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' के इतिवृत्त की छाया थी। आचार्य शुक्ल ने 'इन्दुमती' (सम्वत् १९५७) को ही हिंदी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी माना है। यह कहानी गोस्वामीजी का मौलिक प्रयास था। गोस्वामीजी की दूसरी मौलिक कहानी 'गुल बहार' सम्वत् १९५९ में निकली। इस पर बंगला शैली का प्रभाव था। गिरजाकुमार घोष ने 'पार्वतीनंदन' के नाम से बंगला की अनेक कहानियों का हिन्दी में भावानुवाद किया। इसी समय (सम्वत् १९७४) बंगमहिला नामक एक महिला ने कुछ मौलिक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दुलाई वाली' विशेष प्रसिद्ध है। प्रसंगानुकूल कथोपकथन, स्वाभाविकता और मार्मिकता के कारण इसे उस युग की अत्यन्त सफल कहानी कहा जा सकता है। इससे भी पहले भगवानदास 'प्लेग की चुड़ैल', पं० रामचंद्र शुक्ल 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा गिरिजादत्त वाजपेयी 'पण्डित और पण्डितानी' नामक कहानियाँ लिख चुके थे। इनमें से मार्मिकता की दृष्टि से इन्दुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली कहानियाँ हिंदी की पहली मौलिक और साहित्यिक कहानियाँ मानी जा सकती हैं। यह काल एक प्रकार से हिंदी-कहानी का प्रयोग काल था। इस काल से आगे हिन्दी कहानी की भावी प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रसाद युग, प्रेमचन्द युग और प्रगतिवादी युग।

प्रसाद युग—हिंदी-कहानी-कला के विकास की दृष्टि से 'इन्दु' द्वारा जयशंकर प्रसाद, 'सरस्वती' द्वारा चंद्रधर शर्मा गुलेरी और 'हिंदी गल्पमाला' द्वारा इलाचंद जोशी के अभ्युदय ने समीष्ट रूप से एक नए और अपूर्व स्वरूप

युग-द्वार को खोला। 'इन्दु' के प्रकाशन ने द्विवेदीकालीन एकरसता के अन्त का आभास दिया। रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अत्यन्त उर्वर प्रमाणित हुई। प्रसाद के इस क्षेत्र में आने से हिंदी कहानी का भाग्य चमक उठा। सन् १९११ में उन्होंने 'इन्दु' में अपनी 'ग्राम' नामक सर्व प्रथम मौलिक कहानी छपवाई। उस समय तक विकसित हिंदी-कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी सम्भावनाएं काफी आशाप्रद थीं। उनकी 'तानसेन', 'रसिया बालम' आदि कहानियों पर बंगला का प्रभाव था। इसके उपरान्त उनकी अनेकानेक उच्चकोटि की कहानियाँ प्रकाशित हुई जिनमें छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, बिसाती, इन्द्रजाल, मधुवा, पुरस्कार, स्वर्ग के खण्डहर आदि हिंदी साहित्य की अमूल्य निधियाँ मानी गई है। उनकी अधिकाँश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक झङ्कार में डूबी हुई है। उनमें कौतूहल की प्रधानता है। इन कहानियोंकी ओजपूर्ण संस्कृत निष्ट शैली उचित वातावरण उत्पन्न कर उसके प्रभाव को अत्यधिक घनीभूत बना देती है। अन्तर्द्वन्द्व और भावानुकूल प्रकृति का चित्रण इसकी विशेषता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि के कलात्मक रूप ने इनकी कहानियों में अपूर्व नाटकीय रमणीयता का समावेश कर दिया है। इन कहानियों में भावुकता का प्राधान्य है। हास्यरस सम्राट जी० पी० श्रीवास्तव ने अपनी हास्यरस पूर्ण कहानिया इसी समय लिखनी आरम्भ की। इनकी सर्व प्रथम कहानी 'पिकनिक' 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानोंमें कंगना' नामक कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की पहली कहानी 'रक्षा बन्धन' सन् १९१३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस काल के अन्य कहानी लेखकों में ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ जिज्जा आदि का नाम उल्लेखनीय है। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण और मनन अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर हैं। उनकी 'ताई' हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में मानी जाती हैं। सन् १९१५ में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की द्वितीय कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। इससे पूर्व वे 'सुखमय जीवन' नामक एक और कहानी लिख चुके थे। 'उसने कहा था' में लहनासिंह की आत्मसमर्पण की करुण कहानी, पवित्र प्रेम के लिए किए गए निस्वार्थ बलिदान की कहानी है। अपने सहज पुलकित रसोद्रेक के कारण ही यह हिन्दी-कहानी साहित्य का 'माइल स्टोन' बन सकी। 'उसने कहा था' के साथ हिन्दी कहानी ने अपने विकास की नई मंजिल शुरू की। शुक्लजी इसे हिन्दी की सर्व श्रेष्ठ कहानी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि —"इसमें यथार्थवाद

के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है।'''''''इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" इसी एक कहानी ने गुलेरी जी को अमर बना दिया है। हिंदी की यही सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है जो कला की प्रत्येक कसौटी पर पूर्ण रूप से खरी उतरती है।

प्रसाद युग में कहानी की कई शैलियाँ सामने आईं। इस काल में प्रधान रूप से चार प्रकार की कहानियाँ लिखी गईं। १—प्रसाद और राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह की आदर्शवादी भावुकतापूर्ण कहानियाँ, २—कौशिक और ज्वालादत्त शर्मा की घटना पूर्ण पारिवारिक कहानियाँ, ३—गुलेरी और चतुरसेन शास्त्री की यथार्थवादी कहानियाँ, ४—जिज्जा और जी० पी० श्रीवास्तव की हास्यरसपूर्ण कहानियाँ। प्रेमचंद भी इस युग के अन्तिम चरण में कहानियाँ लिखने लगे थे। इस प्रकार प्रसाद, गुलेरी और प्रेमचंद का अभ्युदय, हिंदी-कहानी कला की अनन्त साधना, जो पिछले पचास वर्षों से की जा रही थी, के फलस्वरूप थे। प्रेमचंद और प्रसाद, इन दो महान् कथा-शिल्पियों से दो पृथक और अनन्य कला-संस्थानों के निर्माण हुए, जिनके अन्तर्गत हिंदी के अनेकानेक विकासयुगीन कहानीकारों ने अपनी अमूल्य कलाकृतियाँ दीं।

प्रेमचंद युग—प्रसाद युग के अंत तक आते-आते इस बात की काफी सम्भावना थी कि हिंदी कहानी अपने सामने फैले हुए विस्तृत मार्गों में से कोई सरल और हल्का मार्ग चुन कर आगे बढ़ती। उसके सामने भावुकता, रहस्य-रोमाँच, दर्शन आदि अनेक तरह के विकल्प आ चुके थे। हृदयेश की अपार भावुकता से लेकर गहमरी की जासूसी कहानियों तक में से कोई भी मार्ग चुना जा सकता था। उस समय बहुत कम कलाकार ऐसे थे जो कहानी कला की सम्भावनाओं के विषय में काफी दूर तक सोचते थे। इसी समय एक नये विश्वास के साथ प्रेमचंद ने कहानी को अपनी विचारधारा के प्रकटीकरण का माध्यम चुना। उन्होंने उसे एक साधारण सी शैली की सीमा से ऊपर उठाकर जीवन के संघर्षों को व्यक्त करने के लिए एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभर कर सामने आने से सभी विकल्प मिट गए।

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव, हिन्दी-कहानी-साहित्य की सबसे अभूतपूर्व घटना थी। सामयिक सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने वाली प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रकाश में आईं। प्रेमचन्द से पूर्व हमारा कहानी-साहित्य दूसरे

साहित्यों के ऋण से अपना काम चला रहा था। प्रेमचन्द ने आकर उसे स्वावलंबी बनाया। उन्होंने विभिन्न साहित्यों की टेकनीक का अध्ययन कर स्वयं अपनी कहानी कला की टेकनीक बनाई और उसे चरम विकास दिया। वे जनता के लेखक थे। अपनी कहानियों द्वारा उन्होंने सहस्रों मूक और दीन किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जो पहले साहित्य में अछूत माने जाते थे। इनकी कहानियाँ प्रायः घटना प्रधान हैं। इनका सांसारिक जीवन का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत और सूक्ष्म था। इसीसे वे अपनी कहानियों में हमारी सामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का सफल चित्रण करने में समर्थ हो सके। 'कामना तरु', 'आत्माराम' और शतरञ्ज के खिलाड़ी' इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियां मानी जाती हैं।

"प्रेमचन्द यथार्थवादी परम्परा के कर्णधार है, अतएव इनकी कहानी कला में समस्त शिल्पगत प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जो वस्तुतः कहानी कला की आधार शिलाएँ हैं।""इनके शिल्प विधान में कथानक, चरित्र और शैली तीनों में आश्चर्यजनक सुगमता और कला का सहज आकर्षण मिलता है।" इस दृष्टि से ये कहानियाँ हिन्दी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती हैं। वे कला और विषय की दृष्टि से विश्व की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कहानियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

प्रेमचन्द के समय में ही उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगन में उज्ज्वल नक्षत्रों के समान प्रदीप्त हो उठा था। इनमें सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, नवीन, हृदयेश, उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, विनोदशंकर व्यास, निराला, इलाचन्द्र जोशी आदि उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन एक प्रकार से प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक कहानियाँ लिख कर इस क्षेत्र को त्याग दिया। हृदयेश की कवित्वपूर्ण कहानियाँ भी इसी युग में लिखी गईं। इस युग के प्रायः सभी उपन्यासकारों ने कहानियां लिखी हैं। कुछ कवियों ने भी कहानियाँ लिखी हैं जैसे पन्त, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा आदि।

प्रगतिवादी युग—प्रेमचन्द-युग के कहानीकारों से थोड़ी अलग हट कर एक नई पीढ़ी ऐसी उठ रही थी जिसने मनोविश्लेषण को अपनी कहानियों का आधार बनाया। इलाचन्द्र जोशी इसका प्रारम्भ अपने उपन्यासों में पहले ही कर चुके थे पर कहानी के क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। उनकी अधिकांश कहानियाँ 'डायरी के पन्ने' बन कर ही रह गईं। उनके पश्चात्

अज्ञेय ने इस धारा को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया। उनकी पगोडा, अकलङ्क, शत्रु, रोज, शरणार्थी आदि कहानियों में शैली की एक नई ताजगी दिखाई दी। अज्ञेय तथा 'प्रतीक' (मासिक पत्रिका) के साथ कवियों एवं लेखकों का एक नया मण्डल उठा जिसने काफी विश्वास के साथ मनोविश्लेषण के क्षेत्र में नए प्रयोग किये। 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की आरम्भिक रचनाओं में उनकी रोमानी प्रवृत्ति काफी उभर कर सामने आई। धर्मवीर भारती ने भी कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी। इनके अतिरिक्त शम्भूनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, देवी-दयाल चतुर्वेदी, आरसीप्रसादसिंह, बलवन्तसिंह आदि ने इस दिशा में अच्छा प्रयास किया। इन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, युद्ध जनीन प्रभावों से काफी हद तक अपनी कला को अप्रभावित रखा परन्तु ये लोग प्रेमचन्द की विशेषता की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

इसी समय अन्य लेखकों का एक दूसरा वर्ग सामने आया जिसने न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक सङ्घर्षों का उचित निराकरण किया है अपितु एक नवीन दृष्टिकोण के बल पर इन्होंने समाज के स्तर-भेद करके छोटे से छोटे संबंधों का निराकरण प्रस्तुत किया है। स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्म गत रूढ़ियाँ, धारणायें सबको नई कसौटी पर कस कर निर्णय देने के ये विश्वासी रहे हैं। इन पर मार्क्सीय विचारधारा का प्रभाव रहा है। इन नवीन कलाकारों में यशपाल, राहुल, रांगेयराघव, कृष्णदास, अमृतलाल नागर, ख्वाजा अहमद अब्बास, प्रभाकर माचवे, राजेन्द्र यादव, अमृतराय, नरेन्द्र शर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द्र के बाद यशपाल ने साहित्य के इस अङ्ग की समृद्धि में सर्वाधिक योग दिया है। प्रेमचन्द का 'हंस' (मासिक पत्रिका) इस नवीन मंडल का केन्द्र रहा था। राहुल, भगवत शरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। विचार प्रधान कहानी लेखकों में सियाराम शरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, कन्हैयालालमिश्र, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, रावी आदि उल्लेखनीय हैं। रावी अपने ढङ्ग की विचित्र लघुकथाएँ लिख रहे हैं जो प्रायः उपदेश प्रधान रहती हैं। बिहार प्रान्त में रामवृक्षबेनीपुरी तथा नलिन विलोचन शर्मा ने कहानी लिखने का प्रयोग किया है। देवेन्द्र सत्यार्थी के भी कई सुन्दर कहानी संग्रह सामने आए हैं।

आज कहानी क्षेत्र में कुछ महिलाएँ भी अपनी लेखनी का उपयोग कर रही हैं। इनमें तेजरानी पाठक, कमला चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक प्रसिद्ध हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ', द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा-साहित्य को कुछ नए सुन्दर रेखाचित्र दिए हैं। इसके अतिरिक्त आज-

कल पाश्चात्य श्रेष्ठ कहानीकारों की कहानियों का भी अनुवाद किया जा रहा है। सन्तोष गार्गी, कान्तिचंद्र सोनरिक्सा ने मोपासां, टाल्स्टाय चेखव, पर्लबक आदि की सुंदर कहानियों के अनुवाद किये हैं। इधर गोर्की की श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। इतनी प्रगति होते हुए भी आज की कहानी की प्रगति संतोषजनक नहीं है। अभी उसमें प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। इन कहानियों ने कला के अनेक विधानों के साथ सामयिक जीवन, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अङ्गों का स्पर्श किया है। बङ्गाल के अकाल, कलकत्ते और पञ्जाब के जनसंहार, युद्ध- कालीन एवं युद्धोत्तर कालीन अव्यवस्था, मध्य वित्तों के आर्थिक और नैतिक सङ्घर्ष, स्वतत्रता आदि का चित्रण इन कहानियों में हुआ है। कहानियों की बीसियों सस्ती मासिक पत्रिकायें निकल रही हैं। इनका दृष्टिकोण केवल व्यवसाय है। नई परिस्थिति के कारण कहानी लेखकों की बाढ़ सी आ गई है। उसके व्यावसायिक रूप का विकास हो रहा है। परंतु लोकप्रिय कहानियाँ प्रेम, सेक्स समस्याओं और जीवन के छोटे मोटे चित्रों तक ही सीमित हैं।

प्रसिद्ध आलोचक ठाकुरप्रसादसिंह ने कहानी साहित्य का सिंहावलोकन करने के उपरात निम्नलिखित निष्कर्ष दिया है—"हिन्दी के कथा-साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियों से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचन्द सा कोई व्यक्तित्व इस बीच नहीं हुआ, किंतु समस्याओं का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति इस वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र से शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना और दृढ़ होने से ही यह सम्भव हो सकेगा।"

१०—निबन्धः स्वरूप और विकास

स्वरूप

निबन्ध का विवेचन करते हुये आचार्य शुक्ल ने लिखा था कि—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है इसलिए भाषा की दृष्टि से निबन्ध गद्य-साहित्य का सबसे अधिक परिपक्व और उन्नततम रूप है। अन्य गद्य रूपों में भाषा केवल माध्यम न होकर साध्य का एक प्रमुख अँग बन जाती है। साधारण लेख तथा निबन्ध में पर्याप्त अन्तर होता है। साधारण लेख में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है और निबंध में यह व्यक्तित्व सबसे ऊपर उभर कर सामने आता है। यही वैयक्तिकता निबंध का सबसे प्रधान और महत्वशाली गुण है। केवल एक इसी गुण द्वारा हम साधारण लेख से निबंध को अलग करने में सफल हो जाते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल से बौद्धिक तथा तार्किक विषयों की विवेचना के लिये निबंध का ही आश्रय ग्रहण किया जाता रहा है किंतु अपने उस रूप में वे आधुनिक निबंध की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ पाते। आजकल हिंदी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न आलोचनात्मक लेखों में से बहुत कम ऐसे होते हैं जिन्हें शुद्ध निबंध माना जा सके क्योंकि उनमें न लेखक की वैयक्तिक शैली का प्रकाशन होता है, न लेखक का व्यक्तित्व ही उभर पाता है और न उनमें रसात्मकता ही होती है।

साहित्य-रूप की दृष्टि से निबंध सबसे अधिक आधुनिक रूप है। हिंदी साहित्य में काव्य, नाटक, कथा-साहित्य आदि की पूर्व-परम्परा विकसित, अर्ध-विकसित अथवा केवल अभिप्रायः की दृष्टि से अवश्य मिलती है। यहाँ तक कि एकांकियों का पूर्ण रूप भी हमारे संस्कृत साहित्य में किसी न किसी रूप में प्राप्त हो ही जाता है। परंतु निबंध ही साहित्य का एक ऐसा अँग है जिसके पूर्व रूप के दर्शन हमें हिंदी भाषा और साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में ढूंढने से भी, भारतेंदु युग से पूर्व कहीं भी नहीं होते। जब हमारे यहाँ पहले

गद्य ही नहीं था तो उसका उत्कृष्टतम रूप निबंध कहाँ से मिलता ।

संस्कृत में 'निबंध' शब्द का अर्थ है 'बांधना' अर्थात् निबन्ध वह है जिसमें विशेष रूप में बन्ध या संगठन हो तथा जिसमें अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रन्थन हो । 'हिंदी-शब्द-सागर' में इस शब्द का अर्थ है—"बन्धन वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो ।" परंतु आज का 'निबंध' अपने पर्यायवाची अँग्रेजी शब्द 'ऐसे' (Essay) के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है जिसका अर्थ हैं 'प्रयत्न' । 'ऐसे' शब्द की उद्भावना फ्रॉस के मौनटेन नामक सज्जन द्वारा हुई थी जो आधुनिक निबंध साहित्य का जनक माना जाता है । उसका कहना था कि "मेरी इस प्रकार की रचना साहित्य की एक विशिष्ठ नूतन पद्धति के सम्बन्ध में प्रयास मात्र है ।' यह प्रयत्न 'प्रयास मात्र' होने के कारण मौनटेन की रचनाओं में विशृङ्खलता है । उनमें व्यक्त विभिन्न विचारों में सम्बद्धता नहीं है । परंतु मौनटेन ने निबंध की सबसे बड़ी विशेषता 'वैयक्तिकता' को प्रधानता देकर अपने निबंध लिखे थे । उसने स्पष्ट लिखा था कि–"यह मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इनके द्वारा किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने आप को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ ।" प्रारम्भ में निबन्ध में गम्भीरता या तर्कपूर्ण विवेचन का कोई स्थान नहीं माना जाता था । प्रसिद्ध अँग्रेजी समालोचक डा० जानसन के शब्दों में "निबंध मन की उस शिथिल तरंग का नाम है जो अनियमित और अपरिपक्व है तथा जिनमें क्रमबद्धता नहीं होती ।" यह परिभाषा निबंध के सम्पूर्ण महत्व को गौण बना देती है । अगर क्रमबद्धता न हो तो माना जा सकता है परंतु बुद्धि के अजीर्ण को उसमें कैसे स्वीकार किया जा सकता है । एक अन्य विद्वान ने निबंध को—"किसी मजेदार और बहुश्रुत व्यक्ति के भोजनोत्तर एकान्त सम्भाषण' की संज्ञा दी है । इसी के आधार पर किसी ने निबन्ध को—"हंसी हंसी में ज्ञान वितरण करने वाला' कहा है । बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो ।"

प्रारम्भ में जब निबन्ध-लेखन आरम्भ हुआ तो उसके विषय में आम धारणा यह थी कि उसमें लेखक को अपना व्यक्तित्व नहीं प्रदर्शित करना चाहिये । इसी कारण उस समय निबंधों में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग वर्जित माना जाता था । हास्य अथवा व्यंग को भी तब कोई महत्व पूर्ण स्थान निबंध में

नहीं दिया जाता था। परंतु कालान्तर में यह धारणा बदल गई। स्वाभाविकता के साथ अपने भावों को प्रकट कर देना ही जिसमें दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे, सच्चे निबध का लक्षण समझा गया। जिस निबंध में वर्ण्य-विषय तो हो परंतु व्यक्ति नदारद हो उसे सच्चा निबंध नहीं माना जा सकता। सच्चे और सुन्दर निबंध में वर्ण्य-विषय का प्रस्फुटन इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि निबंध-लेखक के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन लेखक का व्यक्तित्व जितना ही आकर्षक होगा, उतना ही वह हमें अधिक प्रभावित करेगा। लेखक का विषय पर अधिकार होता है न कि विषय का लेखक पर। निबन्ध-लेखन के लिये यह आवश्यक नहीं कि विषय महत्वपूर्ण ही हो। विश्व की तुच्छ से तुच्छ वस्तु निबन्ध का विषय बन सकती है। लेखक के व्यक्तित्व के स्पर्श मात्र से स्पन्दित होकर वह महत्वपूर्ण बन जाती है। निबन्ध लेखक किसी भी प्रकार के विषय को मानकर नहीं चलता परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी कृति विश्रृङ्खलित और निरर्थक वस्तु है। मौनटेन अपने निबन्धों में विषयांतर सा करता जान पड़ता है किंतु अन्तमें वह सूत्र को इस प्रकार घुमाता है कि विषयांतर नहीं रह जाता उसमें भी एक प्रकार की कलात्मक सम्पूर्णता आ जाती है। अच्छे और सुन्दर निबन्ध लिखने के लिये पाँच चीजों की आवश्यकता है— १—लेखक का व्यक्तित्व आकर्षक हो; २—उसका हृदय संवेदनशील हो; ३—सूक्ष्म-निरीक्षण की उसमें असाधारण शक्ति हो; ४—जीवन की विशद अनुभूति हो; ५—मनुष्यों तथा समाज के रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय हो।

बाबू गुलाबराय के मतानुसार निम्नलिखित बातें प्रायः सभी निबन्धों में पाई जाती हैं।

(१) निबन्ध अपेक्षाकृत आकार में छोटी गद्य रचना के रूप में होता है। अधिकाँश निबन्ध गद्य में ही लिखे जाते हैं परंतु कुछ निबन्ध पद्य में भी लिखे गये हैं, जैसे Popes essay on man और महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' नामक निबंध। निबंध के आकार की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती वह बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी।

(२) निबन्ध में लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक का व्यक्तित्व कुछ अँशों तक ओझल रह सकता है किंतु निबन्ध में नहीं। कारण यह है कि निबन्ध में लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजीपन के रूप अथवा अपने विशेष दृष्टिकोण से लिखता है। उसमें उसके व्यक्तिगत अनुभव रहते हैं।

(४) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुए भी वह स्वतः पूर्ण होता है। उसे कुछ अंशों में गद्य का मुक्तक काव्य भी कह सकते हैं जिसमें प्रगीत काव्य का सा निजीपन और तन्मयता रहती है। जिस प्रकार कहानी जीवन के एक अङ्ग की झाँकी है उसी प्रकार निबन्ध भी जीवन का एक दृष्टिकोण है। वह जीवन की एक नई झलक लेकर आता है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह विषय का पूर्ण प्रतिपादन ही करे। वह अपनी रुचि के अनुसार विषय का कोई एक अंश चुन लेता है।

(५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। वह केवल वर्णन मात्र न होकर लेखक की प्रतिभा की चमक दमक से पूर्ण होता है। यहाँ तक कि दार्शनिक या सैद्धाँतिक निबन्ध दर्शन और सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक सजीव होता है। उसमें उत्तम शैली का उभार लाने के लिये ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता और कुछ अलङ्कारों का प्रयोग भी होता है। वह अपनी प्रतिभा से सामान्य विषय को भी असामान्य और नगण्य को महान् बना देता है।

निबन्ध को हम गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का 'स्वगत भाषण' भी कह सकते हैं। उसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होने के कारण ऐसे निबन्धों को साहित्य के अन्तर्गत गृहीत नहीं किया जा सकता जिनमें दार्शनिक वाद-विवाद, विधान अथवा राजनीति क. ऐसा विवेचन किया गया हो जिनमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं हो सका है। इसलिये आत्म निवेदन अथवा निजी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में ही निबन्ध कला का चरम उत्कर्ष माना गया है। इसमें लेखक को अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का पूर्ण अवसर मिलता है। उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर 'साहित्य-विवेचन' के लेखक द्वय ने निबन्ध की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की है—"निबन्ध गद्य-काव्य की वह विधा है जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप-जगत के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।"

विषय की दृष्टि से निबन्धों की कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। हम पहले कह आये हैं कि विश्व की तुच्छ से तुच्छ वस्तु निबन्ध का विषय बन सकती है। प्रत्येक वस्तु, भाव और क्रिया निबन्ध का विषय बनाई जा सकती है। हिंदी में विषयों की विविधता के लिये भारतेंदु युग सबसे आगे है। द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण होने के कारण विषयों में वह मनमौजीपन, आकर्षण और विविधता नहीं मिलती जो भारतेंदु युग में थी। यहाँ विविध विषयों पर लिखे गये निबन्धों की तालिका देने से निबन्ध का आकार अत्यन्त विस्तृत

और उबा देने वाला हो जायगा। इसलिए पाठकगण इतने से ही सन्तोष कर लें कि उनकी छींक और खांसने तक पर निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। इसी विषय-विभिन्नता को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने निबन्धों को चार वर्गों में बाँट दिया है—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive essays)

(२) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative essays)

(३) विचारात्मक निबन्ध (Reflective essays) इन्हें 'विवेचनात्मक' भी कह सकते हैं।

(४) भावात्मक निबन्ध (Emotional essays)

उपर्युक्त चारों वर्गों में से वर्णनात्मक का सम्बन्ध अधिकतर देश से, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क (मस्तिष्क) से तथा भावात्मक का हृदय से होता है। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व कल्पना, राग, बुद्धि और शैली—सभी प्रकार के निबन्धों में आवश्यक होते हैं तथापि विवरणात्मक एवं वर्णनात्मक निबन्धों में कल्पना-तत्त्व का प्राचुर्य रहता है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व तथा भावात्मक निबन्धों में राग तत्व की प्रधानता रहती है। शैली तत्त्व चारों में समान रूप से रहता है।

वर्णनात्मक निबन्ध—इनमें प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से रहता है। इनकी वर्णन-शैली व्यास-शैली कहलाती है जिसमें वर्ण्य विषय की लम्बी चौड़ी विवेचना होती है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को विदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्द-दायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जलकण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्र धनुष बनाते हैं।" (कृष्णबलदेव वर्मा)

डा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न' तथा मिश्र-बन्धुओं का 'रूसी-जापानी-युद्ध' ऐसे ही निबन्ध हैं।

विवरणात्मक निबन्ध—इनका सम्बन्ध अधिकांश में काल से है। इनमें वस्तु को उसके स्थिर रूप में न देखकर उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा, साहसपूर्ण कृत्य आदि का वर्णन इन निबन्धों का वर्ण्य-विषय रहता है। वर्णनात्मक निबन्धों के समान इनमें भी व्यास-शैली का ही प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण:—"आकाश बादलों से घिरा था। रात अंधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आसपास और पूरे डिब्बे में पतङ्गों की भरमार थी। इन बिना टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था।" (सियारामशरण गुप्त : 'हिमालय की झलक')

श्रीराम शर्मा के शिकार सम्बन्धी, राहुलजी के यात्रा सम्बन्धी निबन्ध इसी वर्ग के हैं।

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध—इनमें बौद्धिक-विवेचन की प्रधानता रहती है इसी कारण इनका सम्बन्ध बुद्धि से माना गया है। दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान आदि की विवेचना इनमें होती है। यह निबन्धों का सबसे गम्भीर और सुलझा हुआ रूप होता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा दबा कर ठूँसे गए हों और एक एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो।" ऐसे निबन्धों के लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियाँ जितनी विस्तृत होंगी, उसका मानव जीवन का अध्ययन जितना गम्भीर होगा उतनी ही उसे सफलता मिलेगी। इन निबन्धों में व्यास-शैली और समास शैली दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद, द्विवेदी और डा० श्यामसुन्दरदास के विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली में तथा आचार्य शुक्ल के समास-शैली में लिखे गए हैं।

समास-शैली का उदाहरण :—"दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है।" (करुणा : आचार्य शुक्ल)

व्यास-शैली :—"कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता।" (महावीरप्रसाद द्विवेदी)।

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक

आदि कई प्रकार होते हैं।

भावात्मक निबन्ध—इनमें बुद्धि-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व की प्रधानता होती है क्योंकि इनका सम्बन्ध भावना अर्थात् हृदय से है। इनमें रागात्मकता अधिक होने से कवित्वपूर्ण उद्गार एवं शैली का सौंदर्य आ जाता है जिससे इनमें एक विशेष हार्दिक सौंदर्य, तड़प और सजीवता का समावेश हो जाता है। इनमें प्रायः तीन प्रकार की शैलियों का उपयोग किया जाता है। धारा शैली, तरंग शैली और विक्षेप शैली। "धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रह कर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरंग शैली में वे भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं, तरंग की भाँति वे उठते और गिरते प्रतीत होते है। विक्षेप शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियंत्रण का अभाव रहता है।" (गुलाबराय—काव्य के रूप)

धारा-शैली का उदाहरण—"जो धीर है, जो उद्वेग रहित है, वही संसार में कुछ कर सकते हैं। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही में गर्म हो जाते है और जरा ही में ठण्डे पड़ जाते हैं, उनके किए क्या हो सकता है, मसल है—जो बादल गरजते है, वे बरसते नहीं।" पद्मसिंह शर्मा एवं सर्दार पूर्णसिंह के निबन्धों में धारा शैली का उत्कृष्टतम रूप मिलता है।

तरंग शैली—"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो। किंतु हृदय और मसि पात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम मात्र होगा।"

(माखनलाल चतुर्वेदी—साहित्य देवता)

विक्षेप-शैली—"आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है मैं भूला नहीं हूँ। आज भी उन पत्थरों से न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूंद प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर और निर्जीव पत्थर भी प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुण कथा के इस दुखान्त को देखकर पिघल जाते हैं और इन पत्थरों में से अनजाने एक आंसू ढुलक पड़ता है।" (महाराज कुमार रघुबीरसिंह-ताज)

विकास

हिंदी में नाटकों के समान निबंध-साहित्य की उत्पत्ति और विकास का श्रेय भी भारतेंदु युग को दिया जाता है। यह वह समय था जब भारतीय समाज में एक नवीन सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। इस नवीन चेतना का प्रतिनिधित्व और प्रकाशन तत्कालीन हिंदी की पत्र-पत्रि-

कार्य जैसे हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि, प्रदीप आदि कर रहीं थीं। हिंदी के प्रारम्भिक निबंध छोटे-छोटे लेखों के रूप में, जो समाचार पत्रों के आवश्यक अङ्ग होते है, इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इन समाचार-पत्रों के सम्पादक ही इन लेखों के लेखक होते थे। उस समय इन लेखों में साधारण विषयों, सामयिक आन्दोलनों, धार्मिक समस्याओं आदि पर प्रकाश डाला जाता था। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के साथ जिस साहित्य-रूप का जन्म और विकास हो उसमें पत्रकारिता की झलक आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक था। पत्रकारिता के इसी प्रभाव के कारण उन निबन्धों में विषय की विविधता, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गम्भीरता, गौरव का अभाव आदि गुण आ गए थे। ये सम्पादक और लेखक इस नवीन चेतना के प्रतिनिधि थे। इसी कारण उनका सामाजिक व्यक्तित्व अनेक मुखी था। उन्हें साहित्य के नवीन और प्राचीन अङ्गों को पुष्ट बनाना था, नाट्य-कला की ओर ध्यान देना था, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधि की टीका टिप्पणी करनी थी, शिक्षा का प्रसार करना था। इन सब कार्यों के लिए निबन्ध ही उनका सबसे अच्छा और सशक्त साधन बन सकता था। इसी कारण उस युग में खूब निबन्ध लिखे गए। भारतेंदु-युग के साहित्य स्वरूपों में से इसी-लिए निबन्ध सबसे अधिक उन्नत और विस्तृत अङ्ग बन सके। भारतेंदु और उनके मंडल के लेखकों ने निबंध को अपने प्रचार का अस्त्र इसलिए और भी बनाया था कि साहित्य के अन्य अङ्गों के माध्यम से अपनी बात कहने में अनेक कलात्मक विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता है परंतु निबंध में इन बधनों को मानने की विशेष जरूरत नहीं होती।

भारतेंदु-काल के लेखकों ने साधारण से साधारण और गम्भीर से गम्भीर विषयों पर निबंध लिखे। उस समय गद्य का कोई एक सर्व स्वीकृत रूप न होने के कारण उनकी शैलियों में गद्यशैली निर्माण के वैयक्तिक प्रयास ही अधिक हुए। उनकी भाषा सर्व-साधारण की थी जिसमें प्रांतीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया था। भारतेंदु युग के निबन्ध 'ऐसे' (ESSAY) शब्द के वास्तविक अर्थ को ध्वनित करने वाले प्रारंभिक 'प्रयास' थे। उनमें न बुद्धि-वैभव है और न पांडित्य प्रदर्शन। ये प्रारम्भिक निबंध लेखक सभी जिंदादिल, सजीव और कल्पना शील थे इसी कारण इनके निबंधों में वैयक्तिक विशेषताओं, हास्य विनोद, व्यंग्य, निश्छलता आदि गुण स्वभा-वतः आगए थे। इनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक उनसे घुलमिल जाना चाहता है।

विवेचन की सुविधा की दृष्टि से विद्वानों ने निबंध-साहित्य के इतिहास को भी तीन उपकालों में विभाजित कर दिया है :—

१—भारतेंदु युग।

२—द्विवेदी युग।

३—आधुनिक युग या शुक्ल युग।

भारतेन्दु युग या प्राथमिक प्रयास—भारतेंदु के निबंध निबंध-साहित्य के क्षेत्र में प्रथम प्रयास हैं जिनमें निबंध के वास्तविक गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार भारतेंदु हिंदी के सर्व प्रथम निबंध लेखक माने जा सकते हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर निबंध लिखे थे परंतु उनके उच्चकोटि के सुंदर एवं कलात्मक निबंध अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाए हैं। सम्भवतः इसी कारण डा० श्रीकृष्णलाल ने भारतेंदु को हिंदी का प्रथम निबंध लेखक न मानकर बालकृष्ण भट्ट को माना है। डा० रामविलास शर्मा ने भारतेंदु के अप्रकाशित निबंधों का एक संग्रह वृन्दावन में एक सज्जन के पास देखकर यह मत प्रकट किया था कि भारतेंदु युगीन निबंधों में वे सर्वश्रेष्ठ हैं। भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से उनमें यथेष्ठ प्रौढ़ता है। इस प्रकार हम भारतेन्दु को उस युग का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और निबन्ध साहित्य का जन्मदाता मान सकते हैं। विषय और शैली की दृष्टि से इन निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढङ्ग अत्यधिक प्रभावात्मक है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे संधानों और अतिशयोक्ति के द्वारा अद्भुत चमत्कार आ गया है।

इस काल के अन्य निबन्ध-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख हैं। इनमें से पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र और बाबू बालमुकुंद गुप्त की वृहद्त्रयी को हम इस काल के निबंध लेखकों का प्रतिनिधि मान सकते हैं। ये तीनों लेखक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। मिश्रजी का सा उल्लास और मस्ती आज तक किसी अन्य लेखक में देखने को भी नहीं मिली। वे लिखते समय नियमों का बंधन स्वीकार नहीं करते थे। उनकी भाषा अकृत्रिम, सजीव और ग्रामीण है। उसमें गाम्भीर्य का अभाव है। परंतु कहावतों, मुहावरों, अनुप्रास और श्लेष के चमत्कार द्वारा वे पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। वे बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात करते हैं जैसे उनका यह निबन्ध कि—"तो भला बतलाइये तो आप क्या हैं ?" निबंध का विषय उनकी विचारधारा की निय-

त्रित न कर स्वयं ही विचारधारा से नियंत्रित होता है। विषय जो मन में आया उठा लिया और फिर उसके माध्यम से अपने मन की बातें कह दीं। 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'मरे को मारे शाह मदार' आदि निबंध उनकी सुंदर व्यक्तिनिष्ठ शैली के उदाहरण हैं।

भट्ट जी मिश्रजी के श्रेष्ठ सहयोगी थे। वे गम्भीर विद्वान थे। भारतेंदु की विचारात्मक तथा व्याख्यात्मक शैली ने भट्टजी के निबंधों में विकास पाया। इनके निबंधों में विनोद प्रियता एवं गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढंग से कहने का प्रयास मिलता है। हास्य को वे बहुत महत्व देते थे। उन्होंने अपने समय में नव प्रकाशित 'सरस्वती' की गम्भीरता मिश्रित नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि—"सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुंद की कली समान दांत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या।" उनके निबंधों में कहीं कहीं सुंदर भावात्मक शैली का भी सुंदर उपयोग मिलता है। वे पाठक से आत्मीय ढङ्ग से बात अवश्य करना चाहते हैं परंतु इसके लिए मिश्रजी की ग्रामीणता को नहीं अपनाते। उन्होंने विभिन्न विषयों जैसे साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि पर निबंध लिखे हैं। इनकी शैलीके भी कई रूप मिलते है जैसे, विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि। इनके विचारात्मक निबंध तर्क पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढङ्ग से लिखे गए हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख निबंध लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त है। इन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्राजलता प्रदान की। इनका व्यंग्य अधिक शालीन, सांकेतिक और व्यंजक है। इसलिए गद्य शैली के विकास में गुप्त जी का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। गुप्तजी द्वारा सम्पादित 'हिंदी बंगवासी' 'भाषा गढ़ने की टकसाल' कहलाता था। हिंदी गद्य शैली को लेकर इनमें और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में खूब नोंक-झोंक चलती रहती थी। विषय की दृष्टि से गुप्तजी ने अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे जैसे जीवन चरित्र, हिंदी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्र भाषा आदि परंतु इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण उनकी व्यंग्यात्मक गद्य रचनाएं 'शिव शम्भु का चिट्ठा' और 'खत' हैं। इनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई हैं जिससे इनके राजनीतिक व्यंग्य अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक बन गए है। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढङ्ग से हंसे-हंसते अपने हृदय का क्षोभ और दुख अत्यंत संयत और प्रवाहपूर्ण ढङ्ग से कह देना इनकी विशेषता है। इस युग के अन्य निबंधकारों ने कोई विशेष महत्वपूर्ण निबंध न लिखकर साधारण निबंध और टिप्पणियाँ ही लिखीं हैं

जिनमें उपर्युक्त प्रमुख लेखकों का ही अनुसरण है।

भारतेंदु युग के निबंध-लेखकों के विषय में डाक्टर रामविलास शर्मा का निम्नलिखित मत उनकी सम्पूर्ण विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है "जितनी सफलता भारतेंदु युग के लेखकों को निबंध रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य-प्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबंध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।........उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे।........साहित्य की सच्ची सप्राणता उसी शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसी-लिये भारतेंदु युग को गद्य शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबंधों में ही मिलते है।" आचार्य शुक्ल ने इस युग की इसी निश्छलता और तन्मयता को लक्ष्य कर कहा था कि 'यह युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था। जिसमें बच्चों की सी ही निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी।' भारतेंदु युग के बाद आज तक हिंदी निबंधों में ऐसी सरलता और आत्मीयता फिर कभी न मिल सकी। बाबू गुलाबराय के शब्दों में निबंधों की पृष्ठ भूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलते पन के लिए हरिश्चंद्र युग चिर स्मरणीय रहेगा।

द्विवेदी युग—भारतेंदु युग वृद्धि, फैलाव और भाषा के परिमार्जन का युग था। द्विवेदी युग ने उस एकत्रित सामग्री को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। बीसवीं शताब्दी में शिक्षितों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। हिंदी लेखकों का ध्यान 'सामाजिक मनुष्य' की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि इस युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गई। दूसरे शब्दों में इसे 'आभिजात्य भावना' का आरम्भ भी कह सकते हैं। लेखकों से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे भारतेन्दु युगीन उच्छृङ्खलता को छोड़ कर संस्कृत ढङ्ग से, शिष्टतापूर्वक बात करें। अब लेखक का पाठक से पूछना—"तो भला बतलाइये आप क्या हैं?" स्वप्न में भी असम्भव हो गया। फलस्वरूप नैतिक निबंध लिखे जाने लगे जिनमें पत्रकारिता की स्वच्छन्दता के स्थान पर

विवेचना और गाम्भीर्य की वृद्धि हुई। निबंध का रूप सार्वजनिक न रहकर शिष्ट समाज की वस्तु बन गया। भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नये रूप में सामने आया। विषय की दृष्टि से निबंधों का पर्याप्त विस्तार हुआ। इस विषय विभिन्नता के कारण भाषाकी शक्ति बढ़ी। अब निबंध मात्र मनोरंजन के साधन न रह कर उपयोगिता के आधार माने जाने लगे। इसके साथ ज्ञान-विस्तार की प्रवृत्ति आई। फलस्वरूप पुरातत्व संबंधी एवं आलोचनात्मक लेख लिखे गये। अंग्रेजी और मराठी के सुन्दर निबन्धों के अनुवाद हुए। हिंदी-निबन्धों में हार्दिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो चला। लेखकों ने साहित्य की अपेक्षा नैतिक आदर्शों का ध्यान अधिक रखा।

द्विवेदीजी के निबन्ध 'ज्ञान राशि के सचित कोष' ही हैं। साहित्य की महत्ता, कवि और कविता, प्रतिभा, नाटक, उपन्यास आदि निबन्ध सरल और सुबोध शैली में पाठकों की ज्ञान वृद्धि करते है। इस कालके अन्य निबन्धकारों में पं० गोविंदनारायण मिश्र, पण्डित माधवप्रसाद मिश्र, पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पण्डित पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह प्रभृति हैं। डा० श्यामसुंदरदास, बाबू गुलाबराय एवं मिश्र-बन्धु भी इसी युग और श्रेणी के हैं परंतु वे प्रेरणा प्राप्त करने में द्विवेदीजी के ऋणी न होकर स्वयं ही प्रभाव के केन्द्र थे। श्यामसुंदरदास ने 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन' आदि अनेक निबन्ध लिखे जिनमें पांडित्यपूर्ण ओज, अर्जित ज्ञान का गांभीर्य है पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से उनकी कोई रचना उच्चकोटिका निबंध कहला सके। मिश्र बंधुओं के निबंध भी शिक्षामूलक अधिक हैं। "उनके निबंधों में शिक्षक का अहं अनुचित रूप में तो नहीं था किंतु वह सहज में परिलक्षित हो जाता है।" बाबू गुलाबराय के 'समाज और कर्तव्य पालन' जैसे निबंधों की अपेक्षा उनके 'फिर निराश क्यों', 'मेरी कलम का राज' जैसी रचनाओं में उच्चकोटि की निबंध कला के दर्शन होते हैं। उन्होंने अनेक आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं परंतु उनमें वह रोचकता और प्रवाह नहीं मिलता जो उनके लिखे हुए विनोद मयी शैली के संस्मरणात्मक निबंधों में है। ये निबंध अत्यंत उच्च कोटि के माने जाते हैं। साहित्यिक विषयों पर बख्शी जी ने भी कई सुंदर निबंध लिखे हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के फड़कती शैली में लिखे गये निबंधों की भावुकता भी दर्शनीय है। बनारसीदास चतुर्वेदी' ब्रजमोहन वर्मा, मोहनलाल महतो आदि ने भी इसी काल में कुछ सुंदर संस्मरणात्मक और चरितात्मक निबंध लिखे हैं।

उपर्युक्त निबन्धकारों में से द्विवेदी युग में तीन निबन्धकार ऐसी उच्चकोटि,

के हुए हैं जिनकी तुलना हिन्दी साहित्य के किसी भी निबन्धकार से नहीं की जा सकती। उनकी विशिष्टता केवल उन्हीं तक सीमित होकर रह गई। उनकी शैली का अनुकरण न हो सका। ये तीन निबन्धकार है पं० माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह। मिश्रजी के निबन्धों में त्यौहारों एवं तीर्थ स्थानों के प्रति अतीव निष्ठा के साथ देश प्रेम और सनातन धर्म के प्रति अटूट आस्था के दर्शन होते हैं। इनके 'सब मिट्टी होगया' जैसे निबन्ध में एक मार्मिक, उच्चकोटि के निबन्धकार का रूप मिलता है। विचार और शैली की दृष्टि से गुलेरीजी इस युग के सर्वाधिक प्रगतिशील निबन्धकार हैं। इनका व्यंग्य अन्य निबंधकारों की अपेक्षा अधिक तीव्र और मार्मिक होता है। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में थी। 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाँव' और 'संगति' जैसे निबन्धों में इनकी चमत्कारपूर्ण शैली का पूर्ण उभार दिखाई देता है। सरदार पूर्णसिंह ने एक नई लय और गति के साथ निबन्धों की परम्परा को नये मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया। सभ्य आचरण और प्रेम के द्वारा ये समाज का कल्याण देखते थे। 'श्रम' का महत्व हिन्दी-साहित्य को इनकी एक सर्वथा नवीन देन थी। इनकी भाषा में एक नवीन लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति का चमत्कार है। भावों को मूर्त रूप देने की इनकी क्षमता अद्भुत है। इनके निबन्ध 'प्रभावाभिव्यंजक' शैली के निबन्ध माने जाते हैं क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव व्यञ्जना, गम्भीर विचार संकेत और भाषा की ओजस्विता एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

आधुनिक युग—"आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबंध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी।" (गुलाबराय-काव्य के रूप)

शुक्लजी के रूप में हिन्दी को सर्व प्रथम एक महान् निबन्ध लेखक मिला। इनके गम्भीर निबन्ध 'चिन्तामणि' और 'विचार वीथी' के नाम से संग्रहीत हुये हैं। 'शुक्लजी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है और जीवन अध्यापक का है।' हृदय की सरसता और मस्तिष्क की गम्भीरता उनके लेखों में कल्याण-भावना के साथ घुली मिली है। साथ ही गहन विचार वीथियों के बीच-बीच सरस भाव स्रोत मिलते हैं। उनकी यह तन्मयता दर्शनीय होती है। निबन्धों में गठन, भाषा का गम्भीर रूप, प्रवाह एवं ओज प्रचुर मात्रा में पाया जाता

है। कहीं-कहीं गम्भीर हास्य के छींटे भी मिल जाते हैं। जो उनके निबन्धों को 'लोहे के चने' बनने से बचाते रहते हैं। विचारधारा शृङ्खलाबद्ध और तर्कपूर्ण होती है जिसका प्रकटीकरण समास-शैली द्वारा होता है। उन्होंने द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य शैली को एक नया रूप देकर उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें एक वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि बहुत दूर तक जाती है। इनके निबन्ध 'शैली ही व्यक्ति है' (Style is the Man Himself) की उक्ति के पूर्ण प्रतीक हैं। इनके निबन्धों के किसी भी अंश को देखकर हम तुरन्त कह उठते हैं कि 'यह तो शुक्लजी बोल रहे हैं।' इसी कारण आलोचकों ने उन्हें आलोचक सम्राट के साथ हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ लेखक घोषित किया है। उनका व्यक्तित्व युगान्तरकारी था। आज का हिन्दी संसार उनके लिये तरस रहा है।

शुक्ल जी की परम्परा में उन निबन्धकारों का उल्लेख किया जा सकता है जो शैली और विचार की दृष्टि से तो उनसे नहीं मिलते पर साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनमें नन्ददुलारे बाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि प्रमुख हैं। हजारीप्रसाद में एक विशेष सॉंस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ साथ विनोद प्रियता भी है। नगेन्द्र के निबंधों में पाश्चात्य अनुशीलन की छाप है। रामविलास शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरल और व्यंग्यपूर्ण होती है। भारतेंदु युग के उपरांत इन्हीं के निबंधों में व्यंग्य का विकसित रूप प्रथम बार दिखाई दिया है। यहाँ शांतिप्रिय द्विवेदी का उल्लेख भी आवश्यक है। उनकी प्रकृति आलोचक से अधिक निबंधकार की है। जो स्वच्छन्दता और संवेदन शीलता निबंधकार के लिये अपेक्षित है वह इनमें मौजूद है। छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवि प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबंधों के लेखक के रूपमें स्वीकार किया जासकता है। ये लेख फुटकर निबंध और पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में है।

भावात्मक शैली के निबंधकारों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुर सेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं। यात्रा संबंधी निबन्धों के लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रमुख हैं। श्रीराम शर्मा के शिकार सम्बन्धी निबंध भी हिंदी में अपने ढङ्ग के अकेले हैं। जैनेन्द्र ने भी अनेक निबंध लिखे हैं लेकिन वे दार्शनिक की बोझिलता से नीरस हो गए हैं। इनके अतिरिक्त सद्गुरु शरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदंत आनंद कौशल्यायन

आदि ने भी सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। इधर प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, प्रकाश चंद्र गुप्त, नामवर सिंह, पद्मसिंह शर्मा कमलेश के भी विभिन्न प्रकार के साहित्यिक निबन्ध देखने में आ रहे हैं। संस्मरणात्मक निबन्धों के लेखकों में बाबू गुलाबराय और महादेवी वर्मा विशिष्ट स्थान रखते हैं। गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' ऐसी ही रचना है। महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाओं' में अपने ऐसे ही निबन्धों को संग्रहीत किया है।

वर्तमान आधुनिकतम निबन्धों को देखकर यह आशा की जाती है कि "आगे साहित्य में विषय-वैविध्य ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा 'विशेषज्ञ' लेखक भी बढ़ते जाँयगे। इन विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक निबन्ध भी अलग अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासापूर्ति के साधन बनते जाँयगे।" (विजय शंकर मल्ल) समष्टि रूप से हमारा निबंध साहित्य क्रमशः समृद्ध होता जा रहा है परंतु आधुनिक निबंध लेखकों की रुचि सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबंध लिखने में अधिक रमती है। आज आलोचनात्मक लेखों की भरमार हो रही है। उनमें विषय-वैविध्य का अभाव सा है। आज ऐसे निबंध लेखकों की आवश्यकता है जो केवल आलोचनात्मक निबंध ही न लिखकर सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न प्रकार के निबंध लिख सकें।

११—नाटक : स्वरूप और विकास

स्वरूप

"काव्येषु नाटकं रम्यम् ; नाटकान्तं कवित्वम्" संस्कृत के इन वाक्यों के अनुसार काव्य कला का नाटक सर्व श्रेष्ठ अङ्ग माना गया है। इसका कारण यह है कि नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति वांगमय के अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक स्थायी, गहरी और व्यापक होती है क्यों कि उसमें हम वास्तविकता का अनुभव करते हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं परन्तु दृश्य काव्य में हमें कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता। वहाँ कल्पना की कमी को पात्रों की भाव-भंगी पूरी कर देती है। श्रव्यकाव्य में अमूर्त का विधान होता है और दृश्यकाव्य में मूर्त का। साधारण बुद्धि के लिए मूर्त और प्रत्यक्ष जितना बोधगम्य होता है उतना अमूर्त नहीं। इसलिये नाटक साहित्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा साधारण जनता के अधिक नजदीक होने के कारण उसकी अपनी चीज है। शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्व समस्त काव्यांगों से अधिक है। संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका प्रदर्शन नाटक में न हो सके। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥"

अर्थात् 'योग, कर्म, सम्पूर्ण साहित्य, सारे शिल्प और संसार के विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय।' साथ ही इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार लोकहित तथा लोक-रंजन के उद्देश्य को लिए हुए शिक्षित-अशिक्षित सब का समान रूप से मनोरंजन करने वाला एवं विविध कलाओं से संयुक्त होने के कारण नाटक साहित्य का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है।

विद्वानों ने नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति को मुख्य माना है। अनुकरण की प्रवृत्ति मानव की स्वाभावगत प्रवृत्ति है। हम बचपन से अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। बच्चों के गुड्डे-गुड़ियों के, राजारानी के खेल, मदारियों द्वारा बन्दर-भालुओं के नाच आदि में इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन होता

है। नाटक में भी हम अपने पूर्व पुरुषों, देवी-देवताओं एवं समकालीन व्यक्तियों का अनुकरण देखते है। अनुकरण के साथ ही नाटक के मूल में तीन मनोवृत्तियाँ और काम करती है। अनुकरण द्वारा मानव अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। बच्चा अपनी संकुचित सीमाओं से ऊपर उठना चाहता है। इसलिये बड़ों का अनुकरण करता है। साथ ही नाटक द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति का अन्य वर्ग के व्यक्तियों से परिचय हो जाता है। मजदूर राजा-महाराजाओं के जीवन से परिचित हो जाता है और राजा-महाराजा मजदूर के जीवन को देख लेते हैं। इस प्रकार मानव-सभ्यता के संपूर्ण रूपों का वहाँ प्रदर्शन हो जाता है। इसमें मानव-जाति की रक्षा का भाव भी सम्मिलित रहता है। उसमें हम अपनी जाति के भूत और वर्तमान को देखकर अनुप्राणित हो उठते हैं जो हमारे हृदय में जाति की रक्षा का भाव उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त दूसरों के अनुकरण में एक प्रकार से हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति भी हो जाती है। इसमें पात्र अभिनय द्वारा और दर्शक नाटक को देखकर अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर पा जाते हैं। इस प्रकार नाटक के मूल में मानव की चार मनोवृत्तियाँ काम करती रहती हैं —

१—अनुकरण।

२—पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार।

३—जाति की रक्षा।

४—आत्माभिव्यक्ति।

कथा-साहित्य की भाँति नाटक का मूल्य उद्देश्य भी मनोरंजन ही है, प्रकारान्त से चाहे वह उपदेश दे या किसी समस्या को सुलझाये, यह दूसरी बात है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति क्यों और कैसे की, इस बात का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखी हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका रंजन होसके। इस पर ब्रह्माजी ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से 'पंचम वेद' नाटक की रचना की। इसके लिए उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि नाटक में संवाद, गान, नाट्य और रस प्रधान तत्व हैं। साथ ही नाटक कथा-साहित्य का एक अङ्ग है इसलिये उसमें कथानक भी होता है और उस कथानक को आगे बढ़ाने वाले पात्र भी। इसमें इस कथानक के वर्णन की रीति भी उपन्यास कहानी से भिन्न होती है। इस तरह

नाटकीय कथावस्तु और औपन्यासिक कथावस्तु के तत्वों में पर्याप्त समानता है। भारतीय प्राचीन आर्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्व माने हैं—वस्तु, नायक और रस। यूरोपिय विद्वानों ने इन तत्वों की संख्या ६ मानी है—१—कथा-वस्तु, २—पात्र, ३—कथोपकथन, ४—देश-काल, ५- उद्देश्य और ६—शैली। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ये ६ तत्व भारतीय आचार्यों के तीन तत्वों में ही समाहित हो जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने 'अभिनय' को भी एक तत्व माना है। कोई-कोई 'वृत्ति' को भी एक तत्व मानते हैं परन्तु वृत्तियाँ क्रिया प्रधान शैलियाँ होने के कारण अभिनय के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। यूरोप में रस को न मानकर उद्देश्य को प्रधानता दी जाती है परन्तु हमारे यहाँ रस ही नाटक का प्राण माना गया है। आधुनिक हिंदी नाटकों में प्रधान रूप से यूरोपीय शैली का ही अनुकरण किया गया है (यद्यपि उनपर भारतीय शैली का भी पर्याप्त प्रभाव है)। इसलिये यूरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित तत्वों का भारतीयकरण का विवेचन ही यहाँ अपेक्षित होगा जो निम्नलिखित है—

कथावस्तु (Plot)—नाटक की कहानी को कथावस्तु, वस्तु या कथानक कहते हैं। नाटककार को अपनी कथावस्तु के चयन में उपन्यास लेखक के समान अधिक से अधिक सामग्री का प्रयोग करने का अधिकार नहीं होता। उसे अभिनय के लिये निश्चित समय का ध्यान रखते हुए एक निश्चित मर्यादा का पालन करते हुए चलना पड़ता है। उसकी कथावस्तु इतनी बड़ी होनी चाहिये जिसका तीन-चार घण्टों में पूरा अभिनय हो सके। इसलिये नाटककार को कथानक की विस्तृत सामग्री में से अपने मतलब के तथ्य चुन लेने पड़ते हैं। कथावस्तु दो प्रकार की होती है आधिकारिक अर्थात् मुख्य कथा और प्रासङ्गिक अर्थात् प्रसङ्गवश आई हुई या गौण। यह मुख्य कथा के विकास और सौंदर्य-वर्धन में सहायक होती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी। मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली 'पताका' तथा बीच में ही समाप्त हो जाने वाली 'प्रकरी' कहलाती है। जैसे रामायण में राम की कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली सुग्रीव की कथा 'पताका' और शकुन्तला-नाटक के छठे अङ्क में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप 'प्रकरी' कही जायगी। आधार के भेद से कथावस्तु के तीन प्रकार माने गए हैं—१—प्रख्यात, जिसका आधार इतिहास, पुराण या जनश्रुति होता है, २—उत्पाद्य, जो नाटककार की अपनी कल्पना होती है; ३—मिश्र, जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण होता है।

नाटकों में कार्य या व्यापार की दृष्टि से पांच अवस्थाएँ मानी गईं हैं— १—प्रारम्भ—इसमें किसी फल के लिये इच्छा होती है जिसे प्राप्त करने के लिये दो व्यक्तियों (नायक और प्रतिनायक) में विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों, सिद्धान्तों आदि के कारण संघर्षमयी घटना का प्रारम्भ होता है। २—विकास इसमें उस संघर्ष का विकास एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है। इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न होता है। ३—चरम सीमा उक्त संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और किसी एक पक्ष की विजय प्रारम्भ होने लगती है। फल प्राप्ति की सम्भावना दिखाई देने लगती है। ४—उतार—यहाँ फल प्राप्ति की सम्भावना में निश्चितता आ जाती है। ५—अन्त या समाप्ति—यहाँ संघर्ष का अन्त होकर फल की प्राप्ति हो जाती है। यह वर्गीकरण यूरोपीय विद्वानों का किया हुआ है। भारतीय प्राचीन आचार्यों का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है, केवल नाम का भेद है जो उसी क्रम से इस प्रकार है—१—प्रारम्भ, २—प्रयत्न, ३—प्राप्त्याशा, ४—नियताप्ति और ५—फलागम। उक्त दोनों दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है अन्तर केवल संघर्ष के विषय में है। संघर्ष पाश्चात्य नाटकों का प्राण माना जाता है जब कि हमारे यहां इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। प्राचीन अध्यात्म प्रधान आदर्शवादी नाटकों में इसका अभाव नहीं खटकता परन्तु आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में संघर्ष के अभाव में नाटक निष्प्राण रह जायगा। इसलिये उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

उक्त अवस्थाओं की सहायता के लिये संस्कृत के आचार्यों ने पाँच अर्थ प्रकृतियाँ और पाँच सन्धियाँ और मानी हैं। कथानक को मान्य फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अंश को 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। ये पाँच मानी गईं हैं १—बीज, २—बिन्दु, ३—पताका, ४ प्रकरी, ५—कार्य। अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है। ये विभिन्न सन्धियाँ विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं और उनके अनुकूल अर्थ-प्रकृतियों से उनका मेल कराती हैं। इनकी संख्या भी पाँच है—१—मुख, २—प्रतिमुख, ३—गर्भ, ४—अवमर्श या विमर्श, ५—निर्वहण या उपसंहार। इस प्रकार अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और सन्धियाँ रूपक-रचना से सम्बन्धित हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार माना गया है—

	अर्थ प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१—	बीज	प्रारम्भ	मुख

२—	बिन्दु	प्रयत्न	प्रतिमुख
३—	पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४—	प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
५—	कार्य	फलागम	निर्वहण या उपसंहार

इसी प्रकार कथावस्तु के भी दो भेद किए हैं—दृश्य और सूच्य। 'दृश्य' घटनाओं का रंगमञ्च पर अभिनय दिखाया जाता है। 'सूच्य' में रंगमंच पर घटित न होने वाली घटनाओं की सूचना मात्र दिला दी जाती है। 'सूच्य' कथावस्तु की सूचना देने वाले साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं जिनकी संख्या भी पाँच है—१—विष्कम्भक, २—चूलिका, ३-अङ्कास्य, ४-अंकावतार, और ५-प्रवेशक।

उपर्युक्त अवस्थायें, सन्धियां, अर्थ-प्रकृतियाँ एवं अर्थोपक्षेपक आदि का उपयोग प्राचीन नाटकों में किया जाता था परन्तु आज का नाटक सर्वथा स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा है। उसमें आजकल एक ही प्रधान कथा रहती है। आकार में भी वे छोटे होते हैं। प्रायः तीन अङ्कों में ही नाटक समाप्त हो जाता है। इसलिये उनमें कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं का तो निर्वाह हो सकता है परन्तु सन्धियाँ और अर्थ-प्रकृतियों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं रहा है। इसी कारण हमने ऊपर अवस्थाओं का तो संक्षिप्त विवेचन दे दिया है और सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों तथा अर्थोपक्षेपकों का केवल उल्लेख करके छोड़ दिया है। आज उनकी कोई उपयोगिता नहीं है तो उनका विवेचन भी व्यर्थ है।

पात्र—नाटक में घटनाओं का आधार पात्र रहते हैं। प्रमुख पात्र 'नायक' कहलाता है। वह कथा का नेता होता है जो कथा को फल की ओर अग्रसर करता है। वही फल-प्राप्ति का अधिकारी भी होता है। नायक की पत्नी या प्रेमिका 'नायिका' कहलाती है। हमारे यहाँ नायक को सर्वगुण संपन्न माना गया है। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोक प्रिय, पवित्र, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्मसम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ, और धार्मिक होना चाहिए। परन्तु आज का दृष्टिकोण बदला हुआ है। आज उसमें उपर्युक्त गुणों का होना अनिवार्य नहीं माना जाता। साधारण से साधारण और बुरे से बुरा व्यक्ति भी आज नाटक का नायक बन सकता है और बन रहा है।

संस्कृत के आचार्यों ने नायक चार प्रकार के माने हैं। १-धीरोदात्त—इसमें शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गम्भीरता, आत्म सम्मान तथा उदारता

आदि गुण होने चाहिए जैसे राम। धीर ललित--यह श्रृङ्गार प्रिय, सुखान्वेषी, कलाविज्ञ, कोमल और स्थिर चित्त वाला होता है। इसमें ललित गुणों की प्रधानता होने के कारण यह श्रृङ्गार के अधिक उपयुक्त होता है जैसे दुष्यन्त। ३- धीर प्रशान्त--यह सन्तोषी, शान्तिप्रिय और सुखान्वेषी होता है। क्षत्रियों में ये गुण नहीं पाये जाते इसलिये ऐसा नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है, जैसे 'मालती-माधव' का नायक माधव। ४--धीरोद्धत--यह मायावी, आत्म प्रशंसा परायण, धोखेबाज और चपल होता है जैसे रावण। दुर्गुणों के कारण कुछ आचार्य ऐसे व्यक्तियों को नायक नहीं मानते।

नायिका में भी नायक के से ही गुण होने चाहिए। इसके आठ प्रधान गुण माने गये हैं--

"जा कामिनि में देखिए पूरन आठौं अङ्ग।
ताहि बखाने नायिका त्रिभुवन मोहन रङ्ग॥
पहिले जोवन रूप गुन, सील प्रेम पहिचान।
कुल वैभव भूषण बहुरि, आठौं अङ्ग बखान॥

भरत मुनि ने चार प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं (१) दिव्या, (२) नृपतिनीर, (३) कुल स्त्री तथा (४) गणिका परन्तु आधुनिक विवेचक तीन प्रकार की नवीन नायिकाएँ मानते हैं--१--स्वकीया-यह नायक की विवाहिता पत्नी होती है, २--परकीया-यह नायक की विवाहिता न होकर दूसरे की पत्नी या अविवाहिता भी हो सकती है। ३--सामान्य--इसे गणिका या वेश्या भी कहते हैं। आज के नाटकों में यह आवश्यक नहीं है कि नायिका नायक की पत्नी या प्रिया ही हो। नाटक की कोई भी प्रमुख स्त्री पात्र नायिका मानी जा सकती है। नायक का विरोधी पात्र प्रतिनायक या खलनायक कहलाता है। प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक जो प्रमुख नायक का सहायक होता है 'पीठमर्द' कहलाता है। इनके अतिरिक्त विदूषक, विट और चेट भी प्रमुख पात्र होते हैं। संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' का होना अनिवार्य माना जाता था परन्तु आज नहीं माना जाता। चेट नायक का अनुचर होता है। विट वाद्य-गायन में निपुण नायक का अन्तरङ्ग सेवक होता है।

चरित्र चित्रण--नाटकों में भी चरित्र-चित्रण उपन्यास की ही तरह होता है। पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उनकी आंतरिक और बाह्य वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है। परंतु उपन्यासकार की भांति नाटककार विश्लेषात्मक या प्रत्यक्ष रूप से चरित्र चित्रण नहीं कर सकता। उसे परोक्ष या अभिनयात्मक ढङ्ग से काम लेना पड़ता है। यह

पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कह कर या तो नाटक के एक पात्र से दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है या कोई पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है। कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा नाटकीय पात्रों के चरित्र का उद्घाटन होता है। प्रमुख रूप से इस चरित्र चित्रण के तीन प्रकार माने गए हैं—

१—कथोपकथन—पात्रों की पारस्परिक वार्तालाप से हम उनके चरित्रों की विशेषताओं का अनुमान लगा सकते हैं।

२—स्वगत कथन द्वारा—यह यद्यपि आज कल अस्वाभाविक माना जाने लगा है परन्तु चरित्र-चित्रण का यह एक उत्कृष्ट प्रकार है। जब कोई पात्र एकांत में स्वयं कुछ सोचता है और अपने विचारों को व्यक्त करता है तब उसकी चारित्रिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष हो उठतीं हैं। वह एक प्रकार से उसकी आत्म स्वीकृति होती है। आंतरिक संघर्ष का चित्रण तो स्वगत-कथन द्वारा ही स्पष्ट होता है।

३—कार्य कलाप द्वारा—मनुष्य के कर्म उसके चरित्र के सबसे अच्छे परिचायक होते है। मनुष्य के अच्छे बुरे होने का अनुमान हम उसके कार्यों द्वारा ही लगा पाते हैं।

कथोपकथन—कथा-क्रम के विकास और चरित्र चित्रण के लिए कथोपकथन की अनिवार्य उपयोगिता मानी जाती है। कथोपकथन की सफलता पर एक प्रकार से नाटक की सफलता निर्भर करती है। उसमें नाटकीय वस्तु का विकास इसी के द्वारा सम्पन्न होता है। नाटकीय लाघव (Dramatic economy) लाने के लिए कथोपकथन छोटा ही न हो वरन् ऐसा हो जो चरित्र पर प्रकाश डाल सके। इसलिए नाटक में निरर्थक वार्तालाप के लिए कोई स्थान नहीं रहता। चरित्र चित्रण में कथोपकथन का महत्व ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन लम्बे और अस्वाभाविक न होकर पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल हों। साथ ही कथोपकथन अभिनय के भी उपयुक्त होने चाहिए क्योंकि उनका अभिनय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे यहाँ आचार्यों ने कथोपकथन के तीन प्रकार माने है १—नियत श्राव्य—इसमें रंगमंच पर उपस्थित प्रत्येक पात्र के सम्मुख बात न कर कुछ निश्चित पात्रों से ही की जाती है। २—सर्व श्राव्य—इसे प्रकट या प्रकाश्य भी कहते हैं। यह सब के सुनने के लिए होता है। ३—अश्राव्य—यह रंगमंच पर उपस्थित किसी भी पात्र के द्वारा न सुना जाकर केवल दर्शकों द्वारा ही सुना जाता है। इसे स्वगत कथन या स्वगत-भाषण भी कहते हैं।

आज स्वगत-कथन को अनुचित माना जाने लगा है परन्तु नाटक में इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साधारण रूप से जब कोई व्यक्ति अपने आप बोलने लगता है तो अस्वाभाविक लगता है परन्तु नाटक में तो पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाशित करने के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई उपयुक्त साधन नहीं रह जाता। परन्तु स्वगत-कथन में एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह लम्बा न होकर संक्षिप्त हो। आकाश-भाषित भी एक प्रकार का स्वगत कथन ही है। इसमें पात्र आकाश की ओर देखकर इस प्रकार बात करता है मानो कोई व्यक्ति ऊपर बैठा हुआ उसकी बात सुन रहा हो और उत्तर दे रहा हो। यूरोपिय नाटकों में स्वगत-कथन को हटा कर एक नया साधन अपनाया गया है। इसके अनुसार बोलने वाले पात्र के एक नवीन अन्तरंग मित्र की अवतारणा की जाती है जिससे वह अपने मन के सम्पूर्ण भेद और विचार निस्संकोच होकर व्यक्त कर देता है।

देशकाल तथा वातावरण—उपन्यास की भांति नाटक में भी देशकाल तथा वातावरण का चित्रण उपयुक्त, पूर्ण और हृदयग्राही होना चाहिए। इससे पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता और वास्तविकता आ जाती है। इसलिए प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेशभूषा के अनुरूप होना चाहिये। परन्तु इस चित्रण में रङ्गमंच की सुविधाओं और सीमित स्थान का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने नाटक में देश तथा काल की समस्या पर विचार कर 'संकलन-त्रय' का विधान किया था। इसके अनुसार स्थल, कार्य तथा काल की एकता पर विशेष ध्यान देना पड़ता था। उनका मत था कि किसी नाटक में घटित घटना किसी एक ही कृत्य से, एक ही स्थान से सम्बन्धित हो और एक ही दिन में घटी हो। परन्तु आज इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया जाता। वर्तमान एकांकियों में अवश्य कुछ सीमा तक इसका पालन हो रहा है।

उद्देश्य—नाटक के उद्देश्य के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में रस को प्रमुखता देते हुए ही रस-सिद्धांत की स्थापना की थी। संस्कृत के नाटकों में कोई न कोई रस अङ्गी रूप से रहता है। उसके साथ दूसरे रस भी अङ्ग-रूप से विद्यमान रहते हैं। उनमें रसों का समावेश रस-मैत्री और रस-विरोध के नियमों के आधार पर किया गया है। हमारा देश आदर्शवादी रहा है अतः यहाँ साहित्य की रचना सदैव सोद्देश्य रही है। धर्म, अर्थ और काम जीवन के तीन प्रत्यक्ष

उद्देश्य माने गये हैं, अतः यहाँ नाटक द्वारा इन तीनों की या इनमें से किसी एक की प्राप्ति नाटक का उद्देश्य माना गया है। पाश्चात्य नाटकों में व्यक्त या अव्यक्त रूप से कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा या विचार सामग्री के रूप में आता है। आन्तरिक और बाह्यसङ्घर्ष द्वारा ही दर्शक या पाठक उस उद्देश्य को समझने में सफल होते हैं। उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही संघर्ष का शमन हो जाता है। नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से स्वयं न कर कथोपकथन के द्वारा ही व्यक्त करता है। इसलिए इसमें एक अस्पष्टता रहती है। अनेक बार उद्देश्य कथानक में ही व्यंजित होता है। परन्तु अक्सर नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ठ पात्र के माध्यम द्वारा ही करता है। हम नाटककार का वास्तविक उद्देश्य भली प्रकार तभी जान सकते हैं जब पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर नाटककार के असली विचारों को समझ सकें। नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

१—नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को उपस्थित करता है? उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या है? नाटक में अभिव्यक्त उद्देश्य हमारे जीवन को किस रूप में प्रभावित करता है?

२—नाटककार द्वारा चित्रित आदर्श हमारे सामने उसके देश तथा समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं। उससे हमें यह मालूम हो जाता है कि उसका ढंग नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत और कितना पतित है।

३—नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है अथवा यथार्थवादी? उसमें निराशा का आधिक्य है अथवा आशा का?

शैली—नाटक की शैली में भी साहित्य के अन्य अङ्गों के लिए अपेक्षित शैली का ध्यान रखना पड़ता है। कथोकथकन की शैली ही नाटक की प्रधान शैली है। शैली को नाटक में 'नाट्यमातरः' अर्थात् नाटक की माताएं' कहा गया है। ये चार प्रकार की होती हैं। १—कौशिकी वृत्ति—इसका सम्बन्ध शृङ्गार और हास्य से है। इसमें गीत-नृत्य की बहुलता रहती है। गायन प्रधान होने के कारण इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है। २—सात्वती वृत्ति—इसका संबंध शौर्य, दान, दया आदि से है। यह आनन्द को बढ़ाती है। इसमें वीर, रौद्र और अद्भुतरस का समावेश रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी

गई है। ३—आरभटी वृत्ति—इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष आदि के द्वारा रौद्र रस की उत्पत्ति की जाती है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से कही जाती है। ४—भारतीय वृत्ति—इसका सम्बन्ध स्त्रियों से न होकर केवल पुरुषों से होता है। इसका सम्बन्ध शब्दों से तथा प्रायः सब रसों से होता है। इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से बताई गई है।

उक्त विवेचन के उपरान्त नाटक के अभिनय और रंगमंच का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है क्योंकि इन दोनों के अभाव में नाटक का अस्तित्व व्यर्थ है।

अभिनय—भारतीय आचार्यों के अनुसार अभिनय नाटक का प्रमुख अङ्ग है। दूसरों के अनुकरण को अभिनय कहा जाता है। इसी के साथ नाटक का उदय हुआ है। यह नाटक की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन है। भरत मुनि ने अभिनय के चार प्रकार माने हैं। १—आंगिक-इसमें शरीर के विभिन्न अङ्गों के संचालन द्वारा भाव और कार्य प्रकट किए जाते हैं। यह तीन प्रकार का माना गया है—शरीर, मुखज और चेष्टाकृत। २—वाचिक—इसका संबंध वाणी से है। इसके द्वारा आँगिक अभिनय को स्पष्टता प्रदान की जाती है। इसके लिए स्वरशास्त्र, व्याकरण, छन्द शास्त्र, बोलने और पाठ करने की विधियाँ आदि का ज्ञान आवश्यक बताया गया है। अभिनय के इस भेद के कारण ही हमारे यहाँ कथोपकथन को नाटक का पृथक तत्त्व नहीं माना गया है क्योंकि कथोपकथन सम्बन्धी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं। ३—आहार्य—इसमें वेशभूषा, आभूषण, वस्त्र तथा विभिन्न प्रकार की साज सज्जा का उल्लेख रहता है। इसके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता तथा सम्पन्न व्यक्ति आदि गौर वर्ण के होते थे। साथ ही राजे-महाराजे मुकुटधारी, विदूषक गंजे हुआ करते थे। ४—सात्विक—इसमें स्वेद, रोमाँच, कम्प, स्तम्भ और अश्रु आदि द्वारा सात्विक भावों का प्रदर्शन किया जाता था। इसका सम्बन्ध भावों से है। साधारण आंगिक अभिनय से इसमें यही अन्तर है कि उसमें गतियों का भी अभिनय हो सकता है परन्तु सात्विक में केवल भावों का ही।

रङ्गमंच—नाटक की सार्थकता उसके अभिनेय होने में ही है यद्यपि कुछ नाटक केवल पढ़ने के लिए ही होते हैं जैसे प्रसाद के अधिकांश नाटक। भरत मुनि ने नाटकों को अभिनीत करने के लिए रंगमंचों का विषद् विवेचन किया है। प्राचीन काल में नाटकों का अभिनय होता था इसलिए रंगमच की सुचारु व्यवस्था थी। रंगमंच की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की सीमायें

निश्चित थीं। परन्तु हिन्दी में नाटकों का अभाव होने के कारण रंगमंच का कोई विकास नहीं हो पाया। आधुनिक काल में आकर जब नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई तब रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रंगमंच अत्यन्त निम्नकोटि का और अव्यवस्थित था। भारतेन्दु ने इसमें कुछ सुधार किए। उसी समय से हिन्दी रंगमंच का अस्तित्व प्रारम्भ होता है। कुछ समय तक इसका विकास हुआ परन्तु बहुत थोड़े रूप में। उसे पूर्णता कभी न प्राप्त हो सकी। सिनेमा के आविष्कार ने तो उसे प्रायः समाप्त ही कर दिया है। इधर एकाँकियों के प्रचलन से पुनः रंगमंच की उन्नति की ओर हिंदी संसार का ध्यान गया है।

विकास

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डाक्टर रिजवे नाटकों की उत्पत्ति के मूल में मृतक वीरों की पूजा को ही प्रधान मानते हैं। उनके अनुसार मृतात्माओं की प्रसन्नता तथा उनके प्रति अपना आदर भाव प्रकट करने केलिये नाटक किये जाते थे। यह कथन आंशिक रूप से सत्य है। यदि इसे पूर्णरूप से सत्य मान लिया जाय तो नाटक की सीमाओं को बहुत संकुचित कर देना पढ़ेगा। डाक्टर पिशेल पुतलियों के नाच से नाटक की उत्पत्ति मानते हैं। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दों द्वारा इस मत की पुष्टि होती है। कठपुतलियों का उल्लेख बृहत्कथा, बाल रामायण तथा महाभारत आदि में मिलता है। अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान नाटक की उत्पत्ति वेद से मानते हैं। वेदों में आये हुए कुछ सम्वादों को नाटक का मूल रूप माना जा सकता है। हमारे यहाँ वाल्मीकि रामायण, हरिवंश पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी नाटकों का उल्लेख आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा नाट्य-साहित्य संसार का प्राचीनतम साहित्य है।

भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति के विषय में अनेक विदेशियों की यह भी धारणा है कि यह यूनानी नाट्यकला की नकल है या उससे प्रभावित है। इस विचारधारा के लोग 'यवनिका', 'यवनी' और शकारि आदि शब्दों के आधार पर यह कहते हैं कि इन शब्दों का यूनान पर प्रभाव है। लेकिन 'यवनिका' की व्युत्पत्ति 'युमि अमर्णो' के अर्थ में और 'जवनिका' की 'जवाच्छदेन' के अर्थ में पाई जाती है। प्रसादजी ने 'जवनिका' को मूल शब्द माना है। 'जव' का अर्थ है त्वरा। जो त्वरापूर्वक उठाया या गिराया जाय वह 'जवनिका'। यवनिका इसी से बना है। दूसरी बात यह है कि यूनानी नाटकों में 'जवनिका' (ड्रापसीन) कोई थी ही नहीं। 'यवनी' और 'शकारि' पर भी यूनानी प्रभाव नहीं

है। तीसरी बात यह कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्वों में भी पर्याप्त अन्तर है। यूनानी नाटक दुखान्त होते हैं, जबकि हमारे नाटक सुखान्त हैं। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र चित्रण की प्रधानता रहती है जब कि हमारे यहाँ प्रकृति-चित्रण और रस की प्रधानता है। यूनानी नाटक बहुधा खुले हुए मैदानों में खेले जाते थे और ऐसे अखाड़ों आदि के मध्य में होते थे जिनमें और भी अनेक प्रकार के खेल तमाशे होते थे जब कि भारतीय नाटकों का अभिनय विशेष प्रकार के प्रेक्षागृहों में होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाट्यकला भारतीय मनीषियों की स्वतन्त्र चिन्तन की उत्पत्ति है न कि यूनानी नाट्यकला से प्रभावित।

साथ ही हमारी नाट्यकला संसार की प्राचीनतम नाट्यकला है। भरतमुनि के अनुसार, जैसा हम ऊपर उल्लेख कर आए हैं, स्वयं ब्रह्मा ने इसकी रचना कर इसे पंचम वेद माना था क्योंकि इसके द्वारा शूद्रों के मनोरञ्जन का भी विधान किया गया था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से भी पूर्व नाटकों का उल्लेख मिलता है। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, जिसका रचना काल ४०० ई० पू० माना जाता है, में 'कृशाश्व' और 'शिलालिन' नामक दो नाटककारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के कुछ काल बाद रचित हरिवंश पुराण में लिखा है कि 'वज्रनाभ' नगर में 'रामजन्म' और 'कौवेरारम्भभिसार' नामक नाटकों का सफल अभिनय हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग 'भास' ने 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि १३ नाटक लिखे। ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी में कालिदास ने नाट्यकला को चरम विकास पर पहुँचा दिया। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाट्यकला अत्यन्त प्राचीन और मौलिक है।

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतया दो मत ठहरते हैं। पहला यह कि भारत में नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ और दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। यह विदेशी विद्वानों की धारणा है। परन्तु वे यह भेद करते समय यह भूल जाते हैं कि हमारे यहाँ धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में कभी कोई भेद नहीं रहा है। यहाँ एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। भारत में धर्म मानव जीवन का अङ्ग रहा है। इसलिए जीवन में आनन्द के जितने साधन हैं उनका मूल धर्म में ही है। नाटक की रचना के मूल में भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही प्रधान उद्देश्य माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्य, सम्वाद आदि से हुआ। बाद में रामायण, महाभारत,

काव्य ग्रन्थों आदि से उसे अन्य सामग्री मिली जिससे उसका रूप पूर्ण हो गया जिसका विकास संस्कृत नाटकों में मिलता है। परन्तु संस्कृत नाटकों की यह परम्परा हिन्दी में विकास नहीं पा सकी। बीच में सैकड़ों वर्षों के लिए उसका स्रोत प्रवाह रुक गया।

गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान नाटक-साहित्य का विकास भी भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। भारतेन्दु से पूर्व सब मिलाकर हिंन्दी में एक दर्जन भी नाटक नहीं मिलते। और जो हैं भी उनमें वार्तालाप, प्रवेश और प्रस्थान के अतिरिक्त नाटकत्व के कोई भी प्रधान लक्षण नहीं हैं। यद्यपि हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत नाटकों की अमूल्य पैतृक सम्पत्ति प्राप्त थी तथापि हिन्दी के साहित्यकार उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व उसका उपभोग न कर सके। इसके कई कारण थे। कुछ विद्वानों का मत है कि हमारे यहाँ कोई राष्ट्रीय रङ्गमञ्च नहीं था। अन्य लोग नाटक का अभाव गद्य साहित्य के अभाव और हीनता के कारण भी मानते हैं। हिन्दी का गद्य न के बराबर था और नाटकों में गद्य की प्रधान आवश्यकता होती है। तीसरा मत यह है कि मुसलमान शासकों ने नाटकों को नहीं पनपने दिया क्योंकि इस्लाम में किसी की नकल उतारना पाप माना गया है। परन्तु ये तीन कारण प्रधान न होकर गौण कारण हैं। मुसलमानी शासन में हिन्दुओं ने अनेक सुन्दर राज-प्रासाद, मंदिरों आदि का निर्माण किया था यदि वे चाहते तो राष्ट्रीय रङ्ग-मंच का भी निर्माण कर सकते थे। 'दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता' आदि गद्य-ग्रंथों में प्रयुक्त गद्य का भी विकास किया जा सकता था। मुसलिम शासकों में औरङ्गजेब को छोड़ कर अन्य कोई भी शासक इतनी संकीर्ण धार्मिक बुद्धि का नहीं था जो नाटकों के विकास में बाधा डालता। हिन्दी का प्रथम नाटक 'इन्दरसभा' एक मुसलमानशासक की अभिभावकता में लिखा और खेला गया था। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास न होने के कारण इनसे भिन्न थे।

हिंदी में नाटक-साहित्य का विकास न होने के कारणों में सर्व-प्रमुख कारण यह था कि ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत नाटकों का स्तर बहुत गिर गया था। मौलिकता और परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से यह काल अत्यन्त दरिद्र माना जाता है। इस काल के प्रमुख संस्कृत-नाटककारों मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि के नाटकों में नाटकीय तत्वों का पूर्ण अभाव है। इनके सभी नाटकों में शिथिल कथानक, वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की भरमार है। ये नाटक चरित्र, सम्वाद, अन्तर्द्वन्द्व आदि सभी दृष्टियों से

खोखले हैं। हिंदी को यही छिछली परम्परा विरासत के रूप में मिली थी। इसी कारण बनारसीदास का 'समय-सार' सं० १६९३, प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक' (सं० १६६७), रघुराय नागर का 'सभासार' (सं० १७५७) और लच्छिराम का 'करुणा भरण' (सं० १७७२) आदि सभी नाटक प्रायः छन्दोबद्ध हैं। इसका दूसरा कारण यह था कि सन्तों की निराशामूलक वाणी के कारण नाट्य-सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई थी। सभी सन्तों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि संसार में केवल दुःख ही दुःख है। इस दुःखवाद की प्रधानता के कारण ऐहिक जीवन के प्रति उत्साह समाप्त हो गया। नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है अजगरकी भाँति आलस्यमय जीवन बिताने वालों के जीवन का नहीं। अतः ऐसी दशा में नाटकों की क्या आशा की जासकती थी। तीसरा कारण यह था कि हिंदी का प्रारम्भिक काल मारकाट से परिपूर्ण क्षुब्ध वातावरण का काल था। इस अशान्ति के युग में नाटक का विकास असम्भव था। बहुत समय की अशान्ति और उत्पीड़न ने जातीय जीवन को निरुत्साहित कर दिया था। परन्तु सोलहवीं सदी में आते आते वैष्णव आंदोलन ने जन-जीवन को झकझोर कर उठा दिया। इसी आन्दोलन ने रामलीला और रासलीला के रूप में जनता को उनकी नाट्यशालाएं भेंट कीं। इन्हीं के द्वारा तुलसी और सूर की रचनाएँ झोंपड़ियों तक पहुँच सकीं। परंतु रीतिकाल में चिंतनहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। कवियों और जनता के बीच दुर्लंघ्य खाई थी। संस्कृत नाटकों की पिछली परम्परा का स्रोत भी सूख गया था। ऐसी दशा में कौन नाटक लिखता।

अँग्रेजी राज्य के आगमन से जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ। उस शांतिपूर्ण युग में हमारी समस्याओं की अभिव्यक्ति नाटकों द्वारा होने लगी। भारतेंदु युग में नाटक साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। भारतेंदु से पूर्व भी हिंदी में कई नाटक लिखे गये थे जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', देव कवि का 'देवमाया प्रपंच', महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनंद रघुनंदन', महाराज जसवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय', ब्रजवासीदास का 'प्रबोध चंद्रोदय', नेवाज कवि का 'शकुन्तला' तथा हरिराम का 'सीता स्वयंबर' आदि नाटक भी पूर्व भारतेंदु काल में लिखे गये थे। उपर्युक्त नाटकों में से कुछ नाटकीय कविता तथा कुछ अनुवाद हैं। इसी समय के दो रंगमंचीय नाटक और मिलते हैं— अमानत का लिखा हुआ 'इन्दर सभा' तथा एक अन्य कवि का लिखा हुआ

'जानकी मंगल'। 'इन्दर सभा' गीति-नाट्य परम्परा का प्रथम नाटक माना जा सकता है। इसकी रचना १८५० ई० के लगभग हुई थी। यह अपने गीतों के कारण बहुत लोकप्रिय रहा था। इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता और नाटकीय नियमों का अभाव था। साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य नगण्य है। भारतेंदु से पहले के मौलिक नाटकों में दो उल्लेख योग्य है—महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन' तथा भारतेंदु के पिता बाबूगोपालचन्द्र का 'नहुष'। अनुवादित नाटकों में राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिंदी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ जिसमें मूल कृति का सौंदर्य पाया जाता है। इसका गद्य खड़ी बोली का और पद्य ब्रज भाषा का है। एक प्रकार से खड़ी बोली में लिखा गया यह हिंदी का सर्व प्रथम अनुवादित नाटक है। कालक्रमानुसार इनके उपरान्त भारतेंदु का नाम आता है।

भारतेन्दु से पूर्व पारसी थियेटरों का युग भी महत्वपूर्ण है। सन् १८७० के लगभग पेस्टनजी फ्रामजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली जिसके उपरान्त अनेक अन्य कम्पनियों की स्थापना हुई। इन्होंने कोई प्रसिद्ध नाटककार तो नहीं उत्पन्न किया परन्तु हमें एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु दी-रङ्गमञ्च। प्रत्येक कम्पनी का अपना नाटककार होता था जो कम्पनी के लिए नए नाटक लिखता था। इनके 'रौनक' बनारसी, विनायक प्रसाद तालिब बनारसी, अहसान लखनवी बहुत प्रसिद्ध हैं। 'रौनक' का 'गुलबकावली' और 'इन्साफे महमूद' प्रसिद्ध नाटक है। संक्षेप में भारतेंदु पूर्व युग की यही नाटक परम्परा है।

भारतेंदु के हिन्दी साहित्य में पदार्पण करते ही उसका प्रत्येक क्षेत्र एक नवीन चेतना से भर उठा। नाटक-साहित्य भी इसके प्रभाव से न बच सका। हिंदी नाटकों का वास्तविक विकास भारतेन्दु युग से ही माना जाना चाहिए। भारतेंदु का युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। उनके नाटकों में इस संघर्ष की तीव्र प्रतिध्वनि है। भारतेन्दु ने दो प्रकार के नाटक लिखे-मौलिक और अनूदित। मौलिक नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नील देवी, अँधेर नगरी, प्रेमजोगनी आदि है। इन नाटकों में उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नीलदेवी में ऐतिहासिक वृत्त, भारत दुर्दशा में देश-दशा आदि का चित्रण है। उनके अनूदित नाटकों में विद्या सुन्दर, पाखण्ड विडम्बना, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, भारत जननी आदि हैं। उनका सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक नाटक माना जाता है परन्तु आचार्य शुक्ल उसमें

एक बंगला नाटक की छाया देखते हैं। इनके नाटकों पर बंगला और संस्कृत के नाटकों का प्रभाव है। बंगला नाटक अँग्रेजी से प्रभावित हैं। इस तरह इनके नाटकों में अज्ञात रूप से भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला का सुन्दर समन्वय हुआ। जिन्दादिली भारतेंदु के नाटकों की विशेषता हैं। सभी नाटक अभिनेय हैं।

भारतेन्दु के प्रभाव से उनके समकालीन सभी साहित्यकारों ने नाटक लिखे जिनमें भारतेन्दु के अतिरिक्त दो लेखक प्रतिभाशाली थे—प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास। मिश्र जी ने गौ संकट, कलि प्रभाव, जुआरी खुआरी और हमीर हठ नामक चार नाटक लिखे। राधा कृष्णदास ने महारानी पद्मावती, महाराणा प्रताप, दुखिया बाला आदि अनेक सुन्दर नाटकों का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास ने 'रणधीर प्रेममोहिनी, संयोगिता स्वयंवर, तप्तासम्बरण; प्रेमघन ने भारत सौभाग्य; बाबू गोपालचंद्र ने 'बूढ़े मुँह मुहासे लोग चले तमाशे', बाबू केशवदास ने सज्जाद सम्बल, शमशाद सौसन, गजाधर भट्ट ने मृच्छकटिक; अम्बिकादत्त व्यास ने 'ललिता' आदि नाटक इसी काल में लिखे। साहित्यिक दृष्टि से उक्त नाटकों का मूल्य अधिक नहीं माना जाता। इनमें मौलिकता और नाटकीय गुणों का अभाव है। इन नाटकों की दो विशेषताएँ हैं। १—देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी पात्रों का अभाव और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और भावों के चमत्कार का प्रदर्शन। इस प्रकार इस काल में नाटक साहित्य का मनुष्य के जीवन से निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया। २—पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग। आलोचक बच्चनसिंह के शब्दों में "शैली की दृष्टि से इस पूरे काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका। बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि के नाटकों के कथानक अत्यन्त शिथिल हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतन्त्र स्थिति न बन सकी। संस्कृत का स्वगत भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी बहुत कुछ ज्यों का त्यों रह गया। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। हाँ, जहाँ तक वस्तु-चयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी पिटी परिपाटी को काफी पीछे छोड़ चुके थे।"

इस काल के उपरान्त महावीरप्रसाद द्विवेदी का सुधारवादी युग आया। इसमें नाटक के विकास में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ थोड़े बहुत अन्तर के साथ यथावत् चलतीं रहीं। इस काल में ऐतिहासिक नाटक विशेष रूप से अधिक लिखे गए। इन नाटकों के नायक

सात्विक वृत्ति वाले महापुरुष रहे। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामने', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। प्रेमचन्द ने 'कर्बला' नाटक लिख कर सर्व प्रथम मुस्लिम संस्कृति पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया। इसके अतिरिक्त अन्य नाटकों के विषय बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मुकद्दमेबाज़ी आदि सामाजिक बुराइयों के निराकरण के लिए चुन गए। बद्रीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिका' और 'विवाह विज्ञापन' नामक प्रहसन लिखकर क्रमशः रीतिकालीन अश्लीलता और पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता पर प्रकाश डाला। जी० पी० श्रीवास्तव ने भी कुछ प्रहसन लिखे जिनका स्तर काफी नीचा रहा।

इस काल में मौलिक नाटकों के अभाव में अनुवादों की परम्परा चली। अनुवाद बङ्गला, संस्कृत और अंग्रेजी से हुए : बाबू सीताराम ने नागानन्द, मृच्छकटिक, मालती-माधव आदि का तथा सत्यनारायण कविरत्न ने उत्तरराम चरित और मालती माधव का संस्कृत से अनुवाद किया। ये अनुवाद भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हुए हैं। बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का रूपनारायण पांडेय और रामकृष्ण वर्मा ने अनुवाद किया। ये अनुवादित नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुए। नाथूराम प्रेमी और धन्यकुमार जैन ने भी अनेक बंगला नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेजी नाटकों के हिंदी अनुवादकों में गंगाप्रसाद पांडेय, पुरोहित गोपीनाथ, मथुराप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं। इन्होंने विशेष रूप से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया है।

उपरोक्त अनुवादों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मौलिक नाटकों का सृजन भी इस काल में हुआ। इनमें से एक प्रकार के नाटक वे थे जिनके नायक सात्विक वृत्ति वाले थे (इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है)। दूसरे प्रकार के नाटक वे थे जिन पर पारसी नाट्यकला का प्रभाव था। इनमें राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहरी प्रमुख हैं। तीसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के गुण अधिक हैं। इनमें मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन'; बदरीनाथ भट्ट का चन्द्रगुप्त, वेनचरित्र, दुर्गावती आदि; राय देवीप्रसाद पूर्ण का चन्द्रकला-भानुकुमार; मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नाटक विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ तक प्रायः भारतेन्दु की मिश्रित शैली पर ही नाटक लिखे गए। इसके उपरान्त नाटककारों ने भारतेन्दु पद्धति का त्याग कर अंग्रेजी पद्धति अपनाई। इसके प्रभाव स्वरूप नाटकों में से प्रस्तावना, विष्कंभक आदि को उड़ा दिया गया। अङ्कों को दृश्यों में विभाजित

किया गया। दृश्य और सूच्य का भेद भी गायब हो गया। मंच पर उपस्थित करने वाले दृश्यों में कोई बन्धन नहीं स्वीकार किया गया। यहीं से हिंदी नाटकों का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। इस काल में नाटक जगत में जयशङ्कर प्रसाद का आविर्भाव हुआ। इसे नाटकों का उत्थान युग या प्रसाद युग कह सकते हैं।

जिस प्रकार कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के पदार्पण करने से एक युगान्तरकारी परिवर्तन आया था उसी प्रकार प्रसाद के नाटक-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिंदी-नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हो गया। आधुनिक हिन्दी नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन इन्हीं के नाटकों में दिखाई दिया। इन्होंने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा का चित्र उपस्थित करने वाले नाटक लिखे। इन्होंने अपने नाटकों के कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट हर्षवर्धन के काल तक के लिए क्योंकि यही काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल है। प्रसादजी के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी नाट्यकला में बहुत परिवर्तन हुए। नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया। प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ। वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों को खुलकर दिखाया गया। इन्होंने मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण को अपना आधार बना कर पात्रों का अङ्कन किया। इनकी नाट्यकला में भारतीय और यूरोपिय दोनों प्रणालियों का सुन्दर समन्वय हुआ। इन्होंने जहाँ भी कोई उपयोगी तत्व देखा उसे निस्संकोच ग्रहण कर लिया। परन्तु इस में अन्धानुकरण की भावना नहीं थी। इसी कारण योरोप में प्रचलित शील वैचित्र्यवाद का पूर्ण अनुसरण न कर के रस-विधान और शील वैचित्र्य का सामंजस्य रखा। प्रसाद के नाटक निम्नलिखित हैं—स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित्त और एक घूंट।

प्रसाद का युग राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उथल पुथल का युग था। इस परिस्थिति ने हमें बाध्य किया कि हम अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विषय में सोचें। उस समय कोई हल नहीं सूझता था। प्रसाद ने इसीलिए प्रेरणा ग्रहण करने के लिए अतीत की ओर देखा। पद दलित जाति के लिए उसका अतीत बड़ा आकर्षक होता है। दूसरा कारण यह था कि प्रसाद मूलतः दार्शनिक थे। शैवागम के 'आनन्द' की उपासना के कारण उन्होंने

घबड़ाना नहीं सीखा था। उनका दृढ़ विचार था कि अन्तः भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो प्राचीन भारतीयता के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए। इसके लिए वे प्राचीन भारत और नवीन यूरोप को एक साथ लेकर चले। ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के योग से उन्होंने नाट्यकला में नवीनता की उद्‌भावना की। नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता यूरोप की देन थी। प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता होते हुए भी इसी कारण आधुनिकता की छाप है। इस प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति उत्कट आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज करना आदि ऐसी बातें हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं।

प्रसाद जी के पश्चात् हिंदी में दो नाटककारों ने विशेष कार्य किया है—हरिकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुग़लकालीन राजपूती गौरव की झलक और हिंदू-मुस्लिम एकता का चित्रण किया। 'रक्षाबन्धन' इनका प्रसिद्ध नाटक है। अन्य नाटकों में 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'विषपान' आदि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी ने अधिकांशतः पौराणिक नाटक लिखे। सगर विजय, अम्बा, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इसके अतिरिक्त इसी काल में उग्र, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्दवल्लभ पन्त, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, पंत, सत्येन्द्र, रामनरेश त्रिपाठी, चतुरसेन शास्त्री आदि ने अनेक नाटकों का सृजन कर हिंदी नाटक साहित्य को आगे बढ़ाया। उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त दो नाटककार विशेष रूप से और उल्लेखनीय हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास। मिश्रजी ने इब्सन और शॉ से प्रभावित होकर नवीन प्रकार के समस्या-नाटक लिखे जिनमें सिन्दूर की होली, सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें संस्कृत नाट्य शास्त्र के नियमों के उल्लंघन के साथ साथ पात्रों की संख्या भी कम है। संगीत और स्वगत-कथनों का पूर्ण बहिष्कार है। साथ ही रंगमंच के निर्देश ब्यौरे के साथ दिए हैं। ये चरित्र प्रधान यथार्थवादी नाटक हैं। सेठजी भी इसी पथ के अनुगामी हैं। उनके प्रकाश, हर्ष और कर्तव्य तीन नाटक प्रसिद्ध हैं। इनमें मिश्र जी के नाटकों की अपेक्षा अभिनेयता अधिक है।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त इस काल में कई अन्य शैलियों में लिखे गए नाटक भी मिलते हैं जैसे नाट्य रूपक, गीति नाट्य, भावनाट्य एवं एकांकी।

आजकल एकांकियों का प्रचलन बहुत बढ़ रहा है। साथ ही रेडियो नाटकों का भी खूब प्रसार हो रहा है। आधुनिक नाटककार बड़े बड़े नाटक लिखने की अपेक्षा छोटे छोटे नाटक लिखना अच्छा समझते हैं क्योंकि आज जनता में इन्हीं की मांग है और इन्हीं का सबसे अधिक अभिनय होता है।

१२—आलोचना : स्वरूप और विकास

स्वरूप

प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुण दोष निश्चित करने की प्रवृत्ति हरेक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी भी वस्तु के लिए "अच्छी है या बुरी है, या इस श्रेणी की है" इस प्रकार कोई न कोई मत निश्चित करना होता है। आलोचना उन विभिन्न रूपों की विश्लिष्ट व्याख्या कर उनके सत्य स्वरूप का उद्घाटन करती है। कला के सम्पर्क से उत्पन्न रसानुभूति की आलोचना मौलिक व्याख्या है। आलोचक विश्लेषण करता है, वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बनाते हैं। काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही आलोचना है। इसकी सहायता से पाठक सत्-असत् साहित्य के विधायक तत्वों की सचेत अवगति प्राप्त करता है। इसके द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्ध व्यापार न रहकर चेतना मूलक व्यापार बन जाता है। आलोचनाशास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है। इससे हमारी रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार होता है।

आलोचना की परिभाषा करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि—"साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। ...."यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।" आलोचना के कार्य और प्रभाव को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय कहते है कि—"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।"

संस्कृत आचार्यों ने कवि की सृष्टि को 'नियतिकृति नियम रहिताम्' मानकर भी उसे 'व्यवहार विदे' और 'कान्तासम्मतियोपदेशयुजे' भी माना है। इस कवि की सृष्टि के रहस्य से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक

का कार्य और कर्त्तव्य है। यदि कोई मनीषी कलाकार जीवन की व्याख्या करता है तो एक निष्पक्ष और विद्वान् आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। इसीलिए विद्वानों ने आलोचना के दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए हैं—सत्साहित्य के निर्माण का प्रोत्साहन तथा असत् साहित्य का निराकरण। परन्तु यदि दोष छिद्रान्वेषण के लिए ही आलोचना की जाती है तो उसका स्तर अत्यन्त छिछला और सत्साहित्य के लिए घातक हो उठता है। यदि आलोचना के मूल में परस्पर राग-द्वेष की भावना कार्य कर रही हो तो वह कभी भी हमारी मार्ग दर्शक नहीं बन सकती। सम्भवतः अपने समय की इसी राग-द्वेष पूर्ण आलोचना को देखकर भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यों को यह चेतावनी देनी पड़ी थी कि—'वादं जातं नो उपेति', अर्थात् जहाँ वाद हो रहा हो—आलोचना हो रही हो वहाँ कभी न जाना चाहिए। इसलिए आलोचक के लिए विद्वान, आलोच्य वस्तु का पूर्ण ज्ञाता, उदार हृदय और निष्पक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि आलोचना होगी अवश्य। उसे रोका नहीं जा सकता। साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीन काल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में आलोचना भी है। इसलिये भगवान बुद्ध के आदेशानुसार उसके प्रति उपेक्षा तो नहीं दिखाई जा सकती। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आलोचक अपने विवेक को सदैव जाग्रत रखे। वह पाठक और लेखक के मध्य मध्यस्थ का कार्य करता है। "उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वास-पात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है। लोक व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिये अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिये भी।" इस प्रकार आलोचक का महत्व और कृति कवि या लेखक के महत्व और कृति से किसी भी दशा में न्यून नहीं होती। दोनों का उत्तरदायित्व समान है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आलोचना को साहित्य का एक अङ्ग माना है।

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिये प्रयुक्त होता है जो अँग्रेजी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (Literary criticism) का समानार्थी है। 'क्रिटिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस', जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है, से मानी जाती

है । यूरोप में इस शब्द की परिधि में किसी कृति विशेष के समुचित अध्ययन के साथ ही उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि सभी बातों का समावेश माना जाता है । पश्चिमी आलोचना के आदि गुरु प्लेटो साहित्य में ही नहीं वरन् साहित्यकार में भी श्रेष्ठ चरित्र, श्रेष्ठ आचरण तथा सत्यानुसरण का समावेश चाहते थे । उनके लिये वही साहित्य श्रेष्ठ तथा पठनीय था जो सत्य सन्देश द्वारा श्रेष्ठाचरण में सहयोग दे सके । यह आलोचना का नैतिकता वादी मानदण्ड था जिसका आधार 'आदर्श' था । परंतु इसकी दृष्टि सीमित थी । अरस्तू ने इस दृष्टिकोण का परिष्कार और परिवर्धन कर साहित्य के 'सम्भावित सत्य' की स्थापना की । उनके अनुसार साहित्यकार जिस सत्य की अभिव्यक्ति करता है उसमें हमें विज्ञान की सत्यता के दर्शन नहीं होंगे । उसकी सत्य की अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार की होगी । उसमें हमें वैज्ञानिक सत्य के दर्शन न होकर सम्भावित सत्य के दर्शन होंगे । यह यथार्थवादी दृष्टिकोण था । इस प्रकार यूरोपिय समीक्षा पद्धति में रचना के विषय, सौन्दर्य सिद्धान्त, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण दोषों और रचनाकार की अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है ।

भारतीय अलोचना या समीक्षा, अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी, पश्चिमी अलोचना से भिन्न और विलक्षण है । संस्कृत के समीक्षा शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ विच्छेद' मात्र माना जाता रहा है । इसी कारण समीक्षकों का ध्यान प्रधानतः आलोच्य ग्रन्थों तक ही सीमित रहता आया है । संस्कृत साहित्य में आलोचना उस भाव या ज्ञान को कहते हैं जिसकी सहायता से आलोचित ग्रन्थ का उचित ज्ञान प्राप्त हो सके । इसमें काव्य-तत्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्यादि, अथवा अधिक से अधिक रचना शैलियों की परीक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया है । परन्तु पाश्चात्य आलोचना में क्रमशः साहित्य कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरी महत्ता प्रदान की गई है । अतएव भारतीय समीक्षा का क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित रहा है वहाँ पश्चिमी आलोचना एवं उससे प्रभावित हिन्दी आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित हो गया है जिससे उसने एक स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है ।

संस्कृत साहित्य में आलोचना की छः पद्धतियाँ प्रचलित थीं जिनका थोड़ा बहुत अनुकरण हिन्दी के वर्तमान साहित्यकारों ने भी किया है । ये छः पद्धतियाँ

निम्नलिखित हैं-(१) आचार्य पद्धति, (२) टीका पद्धति, (३) शास्त्रार्थ पद्धति, (४) सूक्ति पद्धति, (५) खण्डन पद्धति और (६) लोचन पद्धति। इन पद्धतियों का दृष्टिकोण केवल एक पुस्तक अथवा साहित्य के किसी एक विशेष गुण की आलोचना करना ही रहा है। ये विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सर्व कालीन साहित्य को अपना आधार बनाने में असफल रही हैं। परन्तु इनकी इस सीमित एवं एकाङ्गी आलोचना को विस्तृत क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता था और किया जाता है। इन पद्धतियों की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—

१—आचार्य पद्धति—संस्कृत के आचार्य अपने लक्षण ग्रन्थों में व्याख्यादि के लक्षणों का निरूपण करते थे। जिन लक्ष्य ग्रन्थों को वे उत्कृष्ट समझते थे उन्हें रस, अलङ्कार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और जिन्हें निकृष्ट समझते थे उन्हें अधम काव्य या दोषों के रूप में उद्धृत करके उनके गुण दोषों की यथोचित समीक्षा करते थे। 'काव्यप्रकाश', 'काव्यदर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। मध्ययुगीन हिन्दी आचार्यों ने अपने रीतिग्रन्थों में अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दिए और दोषों की अवहेलना की। आधुनिक काल में भी इस पद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जैसे—गुलाबराय का 'नवरस', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', शुक्लजी का 'रस मीमांसा', रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण', हरिऔधजी का 'रस-कलश' आदि।

२—टीका पद्धति—इसमें सिद्धान्त की अपेक्षा आलोच्य ग्रन्थ को अधिक महत्व दिया गया था। टीकाकार टीका लिखते समय कवि के आशय को तो स्पष्ट करके बताते ही थे साथ ही उसकी उक्तियों की विशेषताओं तथा रस-ध्वनि, अलङ्कार आदि का भी उल्लेख करते थे। इस पद्धति ने रचनागत अर्थ पर ही अधिक ध्यान दिया। संस्कृत में मल्लिनाथ की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी की सतसई', रत्नाकर का 'बिहारी रत्नाकर', दीनजी की 'बिहारी बोधिनी' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं। इस पद्धति पर हिन्दी साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ हुईं—अर्थ परिचय, रचना परिचय और रचनाकार के परिचय के रूप में।

३—शास्त्रार्थ पद्धति—पूर्ववर्ती समीक्षकों से असहमत होने पर परवर्ती आलोचकों ने तर्कपूर्ण उक्तियों के द्वारा दूसरों के मत का खण्डन और अपने मत का मण्डन करने के लिए शास्त्रार्थ पद्धति चलाई। इन लोगों ने विपक्ष के दोषों और स्वपक्ष के गुणों को ही देखने की चेष्टा की। 'रस गङ्गाधर' तथा 'व्यक्ति विवेक' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। हिंदी साहित्य में 'बिहारी और देव' 'देव और बिहारी' इसी पद्धति की रचनाएँ हैं। लेख रूप में भी शास्त्रार्थ

पद्धति पर आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। संस्कृत साहित्य में इस पद्धति पर लिखित आलोचना का विषय समीक्षा सिद्धान्त था किन्तु हिन्दी में अधिकतर लक्षण ग्रन्थों को ही लेकर विवाद उठा है।

४—सूक्ति पद्धति—सुन्दर लगने वाली वस्तु की प्रशंसा करना मनुष्य का स्वभाव है। संस्कृत काव्यों और कवियों के विषय में प्रशंसात्मक उक्तियाँ कही गई हैं। यथा—

"उपमा कालिदासस्य भारवेर्यगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥"

संस्कृत की यह परम्परा हिंदी में भी अविराम बनी रही। यथा—"सूर सूर तुलसी ससी उडगन केसवदास" आदि। आधुनिक हिंदी साहित्य में सम्पादकों और भूमिका लेखकों ने ही ऐसी आलोचनाएँ लिखीं हैं।

५—खंडन-पद्धति—मनुष्य के जो लोचन केवल गुण ग्राही ही होते हैं वे केवल दोष ग्राही भी हो सकते हैं, इसी सहज बुद्धि ने पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'चित्र-मीमांसा-खण्डन' आदि को जन्म दिया। यह पूर्णरूपेण दोष दर्शन प्रणाली है। हिंदी में ऐसे आलोचकों में स्वर्गीय द्विवेदी जी को माना जा सकता है।

६—लोचन-पद्धति—आलोचना का उत्कृष्टतम रूप इसी पद्धति में प्रकट होता है। इसमें आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम करके रचना की अन्तर्दृष्टि की विशद समीक्षा करता है। संस्कृत में 'ध्वन्यालोक' आदि ऐसी ही रचनाएं हैं। आचार्य शुक्ल के इतिहास आदि की समीक्षा शैली इसी लोचन पद्धति और पश्चिमीय समालोचना प्रणाली का मिश्ररूप है। प्राचीन भारतीय आलोचकों ने आलोच्य रचना सुन्दर या असुन्दर क्यों है—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए रचनाकर की जीवनी, विषय का इतिहास एवं तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना नहीं की। ये विशेषताएँ यूरोपीय समीक्षा शैली ने ही हिंदी को प्रदान कीं।

संस्कृत की उपर्युक्त विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों के सीमित और एकांगी दृष्टिकोण के कारण उसका उपयोग विस्तृत क्षेत्र में नहीं हो सका फिर भी तत्वों की दृष्टि से आधुनिक हिंदी आलोचना पद्धति और प्राचीन संस्कृत-समीक्षा पद्धति में विशेष अंतर नहीं है। यूरोप में आलोचना के तीन तत्व माने गए हैं—वस्तु, रीति और आदर्शीकरण। भारतीय आलोचना के भी तीन तत्व हैं-शब्द, अर्थ और रस। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई

पड़ता । आदर्शीकरण रस का एक अंग है । यूरोपीय कल्पना का स्थान हमारी प्रतिभा ले सकती है । वहाँ का 'कला जीवन के लिए' वाला सिद्धान्त हमारे 'कला का प्राण है पुरुषार्थ' वाले सिद्धांत का ही प्रतिरूप है । भारतीय आलोचना ने रस अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या चमत्कार को ही कवित्व माना और तदनुकूल काव्यों की उत्तमता और अनुत्तमता का विवेचन किया । यूरोपिय आलोचकों ने काव्यगत सुन्दरता या असुंदरता की कारणभूत परिस्थितियों पर भी उदारता पूर्वक विचार किया । कलाकृतियों की समीक्षा करते समय वे रसादि तक ही नहीं रहे । उन्होंने यह भी विवेचन किया कि कलाकार ने अपनी कृति में मानव और प्रकृति के विविध रूपों की कितनी और कैसी व्याख्या की है, हृदय और मस्तिष्क की विविध प्रवृत्तियों का कितना सूक्ष्म और सुंदर विश्लेषण किया है, जीवन और जगत को कितनी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है ।

आज के हिंदी आलोचक का दृष्टिकोण साहित्य के विशिष्ट गुणों या अङ्गों की सीमित आलोचना से हटकर विश्व साहित्य को आधार मानकर आलोचना करने का बन चुका है । आज हिंदीसाहित्य में पश्चिम और पूर्व की दोनों विचार-धारायें आकर मिल गई हैं, फलस्वरूप साहित्य-समीक्षा में कई नवीन दृष्टिकोणों का उदय हुआ है । इन सम्पूर्ण दृष्टिकोणों को हम चार मोटे विभागों में बांट सकते हैं - १—रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि पुनरुत्थान करने वाली सैद्धान्तिक समीक्षा, २—आत्म प्रधान या प्रभाववादी समीक्षा, ३—व्याख्यात्मक समीक्षा; और ४—निर्णयात्मक समीक्षा ।

सैद्धान्तिक समीक्षा—इसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है । जब लोक रुचि सूत्र बद्ध हो जाती है और युग प्रवर्त्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूनों के आधार पर सिद्धांत और नियम निर्धारित किए जाते हैं तब सैद्धांतिक आलोचना का जन्म होता है । इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण । साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? लक्ष्य क्या है ? यह पद्धति इसका स्वरूप निर्धारित करती है । यह समालोचना का शास्त्रीय रूप है । प्लेटो और अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लेकर कॉलरिज, एडीसन, वर्ड्सवर्थ, रिचर्ड्स, क्रोचे, इलियट, जेम्स कार्ड आदि के सैद्धान्तिक ग्रंथ और हमारे यहाँ के भरत मुनि का नाट्य शास्त्र, दण्डी का काव्यादर्श, मम्मट का काव्य प्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ का रस गंगाधर आदि इसी प्रकार के आलोचना ग्रंथ हैं । हिंदी में रीतिकाल के लक्षण ग्रंथ, श्यामसुन्दर दास का

'साहित्यालोचन', शुक्लजी की 'चिंतामणि' (दोनों भाग), सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण', गबूगुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। सदैव से गम्भीर आलोचनाओं में इन्हीं ग्रंथों का विशेष महत्व रहा है। इसी कारण श्यामसुन्दरदास सैद्धान्तिक आलोचना को समालोचना का चिरंतन स्वरूप मानते हैं। अन्य प्रकार की आलोचनाएं नवीन युग की उपज हैं।

आत्मप्रधान समीक्षा—इसमें आलोचक आलोच्य विषय का विवेचन करते हुए उसमें इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचना को छोड़ कर भाव लहरी में बह जाता है। आलोच्य रचना या विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है। ऐसी आलोचनाएं इसी कारण रचनात्मक साहित्य का अंग बन जाती हैं। इसमें आलोचक किसी विशिष्ट विवेचना पद्धति को न अपना कर अपनी रुचि अथवा आदर्श के अनुरूप ही आलोच्य ग्रन्थ की आलोचना कर अपना निर्णय देता है। इस आलोचना के समर्थक यह कहते हैं कि आलोचना के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि कृति हमको अच्छी लगी या बुरी। इसीलिए ऐसे आलोचक किसी भी शास्त्र का आधार न लेकर अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभावों एवं अपने विचारों का ही सहारा लेते हैं। वह एक प्रकार की 'सत् असत् विवेक बुद्धि' में विश्वास रख अपनी ही रुचि को अन्तिम प्रमाण मानते हैं। अनेक विद्वान इस आत्म प्रधान आलोचना को विशेष उपादेय नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार इनसे आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। हिंदी में जैनेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। इस आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसे समझने के लिए एक दूसरी आलोचना पुस्तक चाहिए। जब तक इनका भाष्य न हो तब तक वे पाठकों की समझ में नहीं आतीं। केवल प्रभाव को समझने में ही जब इतनी कठिनाई है तब कृति की रचना-विधि या शिल्प विधान तथा अन्य बातों को कैसे समझा जा सकता है।

व्याख्यात्मक—इसमें आलोचक सिद्धांतों और आदर्शों को त्याग कर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयता पूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचन करता है। इस कार्य में आलोचक का रूप न्यायाधीश का न होकर शुद्ध रूप से एक अन्वेषक का रहता है। वह रचयिता के दृष्टिकोण और मत से

उदारतापूर्वक अपने विचारों का सामजस्य स्थापित करके उसकी आलोचना करता है। अतः वह न्यायपूर्ण और बुद्धि-संगत होती है। इसमें विभिन्न कलाकारों की रचनात्मक आलोचना होती है परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उनका स्थान नहीं निर्धारित किया जाता। इसका सबसे सरल और प्रारम्भिक रूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है।

बाबू गुलाबराय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायिका रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना पद्धतियों को मानते हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक और समाज वादी। ऐतिहासिक आलोचना में कवि का मूल स्रोत ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थतियों में खोजकर कवि पर उसका प्रभाव आंका जाता है और साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाती है। तुलनात्मक आलोचना में पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों के साथ कवि और उसके साहित्य की तुलना कर उसके महत्व को स्थापित किया जाता है। इसमें मूल्य या स्थान-निर्धारण की भावना रहने से, रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात के परिणाम स्वरूप, किसी भी कवि के प्रति अन्याय किया जा सकता है। हिंदी में 'देव बड़े कि बिहारी' विवाद इसी का परिणाम था। यह पद्धति तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब कि आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति से विवेचना करे।

मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव के कृति का आधार देखा जाता है। इस वर्ग के आलोचक काव्य को मनःस्थिति का चित्रण या अङ्कन मानते हैं। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी विवेचना में इतने खो जाते हैं कि कृति की उपेक्षा हो जाती है। आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचक तो प्रभाव को काव्यात्मक ढङ्ग से व्यक्त कर देते हैं पर मनोवैज्ञानिक अन्तर्मन की गुत्थियाँ सुलझाने में कृति के रहस्य की ओर से उदासीन रहते हैं। उनकी भाषा-शैली प्रभाववादियों से भी दुरूह होती है। समाजवादी आलोचना में साहित्य को वर्ग-विशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। इसमें वर्ग संघर्ष के आदर्शों और विचारधाराओं की प्रमुखता दी जाती है। यह आलोचना अपेक्षाकृत स्पष्ट होती है। लेकिन समाजवादी आलोचक प्रायः राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं। संघर्ष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ग्राम्यताग्राही के आधार पर आलोचना करना और साहित्यिकता की उपेक्षा

करना इनका फेशन है। इस आलोचना से एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जन-जीवन से दूर रहकर मनमाने ढङ्ग से साहित्य-सृजन करने वाले लेखक और कवियों की ऊल-जलूल, आडम्बर पूर्ण, थोथी रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है क्योंकि यह उनकी कलई खोल कर रख देती है।

निर्णयात्मक-आलोचना—इसमें सामान्य शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर आलोच्य ग्रन्थों के गुण दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता है और उन्हीं के अनुकूल उनको श्रेणीबद्ध भी किया जाता है। इसमें समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है। वह निर्णय देता है। कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागूकर उसकी रचना की परीक्षा करता है। उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था', के रूप में होती है। यूरोप में कुछ समय तक अरस्तू के नियम ईश्वरीय वाक्य समझे जाते रहे थे और भारत में मम्मट और विश्वनाथ के सिद्धांत हमारी आलोचना के आधार रहे थे। इस आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। परंतु कुछ आलोचक शास्त्रीय नियमों की अवगणना कर कृति का अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। इसमें आलोचक की अपनी भावानुभूति प्रबल रहती है निर्णायक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है। ऐसे आलोचक उच्चकोटि के माने जाते हैं। केवल शास्त्रीय नियमों पर आधारित आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकने वाली होती है। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं की आलोचना इसी प्रकार की मानी गई है।

समालोचना के उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों के अतिरिक्त आजकल कुछ प्रमुख आलोचक इन सभी प्रकार की पद्धतियों की मिली-जुली ढङ्ग की आलोचना लिखने लगे हैं। इस नवीन मिश्रित आलोचना पद्धति के अनुसार "साहित्य-विवेचन" के लेखक द्वय ने वर्तमान काल की आलोचना के मुख्य तत्वों की निम्नलिखित विशेषताएं निर्धारित की हैं—

१—आलोचना में ऐतिहासिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के समय की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। (ख) कवि के समय में प्रचलित विभिन्न आदर्शों तथा उद्देश्यों की समीक्षा।

२—समालोचना में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि या कलाकार के जीवन, उसकी पारिवारिक परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ उसकी मानसिक स्थितियों का तादात्म्य बैठाया जाता है। (ख) कवि के काव्य की उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार व्याख्या की जाती है।

३—समालोचना में व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के काव्य का अध्ययन किया जाता है, विषय, भाषा शैली, रस-परिपाक तथा मूर्तिमत्ता इत्यादि के अनुसार साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया जाता है। (ख) आलोच्य रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है।

४—समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाता है। (क) देश तथा काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोच्य कवि या कलाकार की पूर्ववर्ती और सामयिक कवियों के साथ तुलना करके उसका साहित्य में स्थान निर्धारित किया जाता है।

आलोचना के उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र के कारण आज का आलोचक अपनी आलोचना में सार्वभौम दृष्टिकोण का संतुलन रखने में असमर्थ हो रहा है। वह रुचि विशिष्टता से एक ही तत्व को महत्व देता है।

विकास

हिंदी गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान हिंदी समालोचन भी एक प्रकार से पाश्चात्य साहित्य की ही देन है। संस्कृत आलोचना पद्धतियों का विवेचन करते हुए हम ऊपर कह आए हैं कि उसका आधार विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सार्वकालिक साहित्य नहीं था। आज उसका संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण अत्यन्त विस्तृत और व्यापक बन गया है। हम साहित्य के विशिष्ट गुणों या अङ्गों की सीमित आलोचना से हटकर आज विश्वसाहित्य को आधार मानकर उसकी आलोचना करने लगे हैं। आज हम सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक गति-विधियों के प्रकाश में अपने साहित्य का मूल्याङ्कन करते हैं। अब साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं माना जाता है। इसी कारण अब रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का विवेचन रूढ़ि का पालन माना जाता है। आज तो हम यह देखते हैं कि इस संघर्षशील युग में हमारे साहित्यकार युग की भावनाओं का प्रकाशन निष्पक्ष रूप से अङ्कित करने में सफल हैं या नहीं। अपने इस विस्तृत रूप तक आने में

हिंदी आलोचना ने मुक्त हृदय से पश्चिमी आलोचना का पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया है। इसी कारण आज इसे पाश्चात्य साहित्य की देन माना जाता है। अस्तु,

हिंदी-साहित्य में समालोचना पहले-पहल केवल काव्यगत गुण-दोषों तक ही सीमित रही है। भक्तिकाल में उसका रूप टीकाओं के रूप में मिलता है। 'मानस' की विविध टीकाएँ और उसके विभिन्न अर्थों की परम्परा काफी समय तक चलती रही। भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने तत्कालीन कृष्ण साहित्य की पद्यानुबद्ध विवरणात्मक आलोचनाएँ लिखीं। इसके लिए नाभादास का 'भक्तमाल' द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए उनका सूर विषयक पद दर्शनीय है—

> "सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।
> उक्ति चोज अनुप्रास बरन, अस्थिति अति भारी।
> बचन प्रीति निर्वाह अर्थ, अद्भुत तुक भारी॥
> प्रतिबिम्बित दिव्य दृष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
> जन्म करम गुन रूप सबै, रसना परकासी॥
> बिमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि करै।
> सूर कवित्त सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

इसके अतिरिक्त "सूर सूर तुलसी ससी" तथा "तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार" जैसे प्रशंसा अथवा अप्रशंसा सूचक सूत्रों का प्रचार था। ये आलोचनाएँ भक्ति-भावना को तो बल देती थीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं।

रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों के रूप में रस, अलङ्कार, छन्द, नायक, नायिका के विभिन्न भेदों-उपभेदों का वर्गीकरण करने में ही समालोचना का रूप समाप्त हो गया। उस समय निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी, व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण, आदि ही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गए। काव्य समीक्षा भी इन्हीं रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित रही। रीतिकाल में प्रधान रूप से दो प्रकार की समीक्षा पद्धति के दर्शन हुए—अलङ्कारवादी और रसवादी। केशव और उनके अनुयायी अलङ्कारों के विवेचन में दत्तचित्त रहे। चिंतामणि, मतिराम, देव, बिहारी आदि ने रसों को प्रमुखता दी। इन दोनों में ही समीक्षा के स्थान पर अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने

की प्रवृत्ति ही मुख्य थी। परंतु इस प्रकार की समालोचना साहित्य का अनुशासन करना तो दूर रहा, उसका मार्ग-निर्देश भी न कर सकी।

उन्नीसवीं सदी में गद्य के अन्य अङ्गों के विकास के साथ साथ समालोचना भी अपना नया स्वरूप धारण कर आगे बढ़ी। भारतेन्दु युग में आकर हिंदी साहित्य के नवीन एवं बहुमुखी विकास ने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में नए तत्वों का समावेश किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक हो गया। गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्धादि का आरम्भ हो चुका था। उनके विवेचन के लिए नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी। साहित्यिक नवीनता के कारण इस काल की समीक्षा में रीतिकालीन पद्धति का प्रभाव तो था परंतु किसी विशेष शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हो रहा था। भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण दोषों का उद्-घाटन कर रहे थे। अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था। इस नवीन समालोचना के विकास में तत्कालीन पत्रिकाएं 'कविवचन सुधा,' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन,' 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप' आदि का प्रमुख भाग रहा। इनमें प्रायः कुछ नोट समालोचना के नाम में प्रकाशित होते थे। भारतेंदु ने स्वयं 'मुद्राराक्षस' की भूमिका तथा 'नाटक' नामक पुस्तक लिखकर समालोचना का पथ-प्रदर्शन किया। परंतु ये नोट के रूप में लिखे गए निबंध समालोचना न होकर केवल पुस्तक परिचय का रूप ही ग्रहण कर सके। यह हिंदी की नवीन प्रयोग कालीन समीक्षा का स्वरूप था। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में—"हम इन्हें आने वाली समालोचना का प्रारंभिक रूप मान लें तो सम्भवतः कोई अनुचित नहीं होगा।" इस समीक्षा के प्रवर्तकों में भारतेंदु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।

गम्भीर लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत आलोचना 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका से प्रारम्भ की। उन्होंने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्बर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोना लिखी। इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी उक्त पुस्तक की आलोचना हिंदी प्रदीप में लिखी। इन दोनों आलोचनाओं में केवल दोष-दर्शन की प्रवृत्ति ही अपनाई गई। आलोचना का पुस्तक रूप में प्रारम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की आलोचना' से हुआ। इसमें संस्कृत के विद्वानों द्वारा कालिदास के काव्य सम्बन्धी भाषा और व्याकरण के दोषों को ही हिंदी में उपस्थित

किया गया। इसी प्रकार उन्होंने "नैषध चरित चर्चा' तथा 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' नामक पुस्तकों में भी इसी प्रणाली को अपनाया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों को दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिये। स्वतन्त्र समालोचना के रूप में नहीं।"

द्विवेदी जी के अनेक समकालीन लेखकों में मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि ने रीति कालीन साहित्य की विस्तृत समीक्षा में पूर्ण योग दिया। द्विवेदी जी और इन आलोचकों के उपर्युक्त दूसरे वर्ग में बड़ा अंतर था। द्विवेदी जी रीति परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। परन्तु दूसरा वर्ग रीतिकालीन साहित्य को ही वास्तविक साहित्य मानकर उसी की विवेचना में लगा रहा। इस वर्ग ने भक्तिसाहित्य की ओर आँख उठाकर भी न देखा। तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा और जायसी का आचार्य शुक्ल से। उपरोक्त दूसरा वर्ग बिहारी, केशव, पद्माकर और देव आदि को ही उत्कृष्ट साहित्य-स्रष्टाओं के रूप में स्वीकार कर उनकी पूजा करता रहा। उस समय हमारे साहित्य में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं थी जिन्होंने बिहारी की प्रतिद्वन्द्विता में देव को तो ला रखा पर कबीर, मीरा, रसखान, घनानंद और जायसी के लिए मौन धारण किए रहे।

द्विवेदी जी ने उपरोक्त ग्रंथों की आलोचना द्वारा निर्णयात्मक और परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। 'कालिदास की निरंकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के तथा अन्य दो पुस्तकों में परिचयात्मक समालोचना के दर्शन हुए। इनमें उन्होंने भाषा तथा व्याकरण के व्यतिक्रम ही दिखाए। साथ ही सामाजिक आदर्शों को प्रधानता और प्राचीन कवियों की तुलना में भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। मिश्रबंधु द्विवेदी युग के दूसरे बड़े आलोचक थे। उन्होंने अपने 'हिंदी नवरत्न' नामक ग्रंथ में हिंदी के नौ सर्वश्रेष्ठ कवियों की भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से तुलनात्मक समालोचना उपस्थित कर उनका स्थान निर्धारित किया। इसमें आपने बिहारी से देव को श्रेष्ठ प्रमाणित किया। इसके कारण 'बिहारी बड़े कि देव' नामक विवाद उठ खड़ा हुआ जिसे लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' पर एक तुलनात्मक समालोचना लिखी जिसमें सतसई-परम्परा का सुंदर उद्घाटन किया गया। शर्माजी शब्दों के अद्भुत शिल्पी और अभिव्यंजना सौंदर्य के परम पारखी थे। इसके उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने

'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इस आलोचना में तर्क और व्यक्तित्व की छाप है। इसमें यद्यपि उन्होंने देव का पक्ष लिया तथापि बिहारी के महत्व को भी पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक निकली जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं के भद्दे आक्षेपों का उत्तर देते हुए कृष्णबिहारी मिश्र की बातों पर भी सहृदयता पूर्वक विचार किया।

द्विवेदी कालीन आलोचना के विकास में दो पत्रिकाओं का विशेष हाथ रहा—'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'। इनमें 'पुस्तक-समीक्षा' या 'पुस्तक-परिचय' के साथ साथ गवेषणात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना संबंधी गम्भीर लेखों का प्रकाशन हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, रत्नाकर, अम्बिकादत्त व्यास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि के सुन्दर आलोचनात्मक निबन्ध निकले। गुणदोष प्रणाली विवेचन से भिन्न समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सर्व प्रथम ग्रन्थ के रूप में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' नामक पुस्तक इसी काल में लिखी गई। सैद्धान्तिक समालोचना का वास्तविक सूत्रपात इसी से माना जा सकता है। इसमें उन्होंने नव-प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिंदी में समालोचना प्रथा, समालोचक का ग्रन्थ सम्बन्धी ज्ञान, सहृदयता, सत्यता आदि पर प्रकाश डालते हुए बीच बीच में अंग्रेजी-समालोचना-पद्धति का भी परिचय दिया। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का एक ऐतिहासिक मूल्य माना जा सकता है।

इसी काल में बाबू श्यामसुन्दरदास ने विश्वविद्यालयों की उच्च-कक्षाओं के लिए साहित्य-सिद्धांत-सम्बन्धी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा। साथ ही आपने तुलसीदास और भारतेन्दु पर गवेषणात्मक आलोचनाएँ भी लिखीं जिनमें प्राच्य एवं पाश्चात्य समालोचना सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया गया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व साहित्य' में पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के प्रचलित मतों का दिग्दर्शन कराते हुए यूरोपीय साहित्य का परिचय कराया। इसी समय हिंदी आलोचना क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का उदय हुआ। यह हिंदी समीक्षा की आरम्भिक और नवचेतन अवस्था थी। शुक्लजी के आते ही इस क्षेत्र की कायापलट हो गई।

शुक्लजी की समीक्षा के स्पष्टतः दो क्षेत्र रहे—एक साहित्य की धाराओं का क्षेत्र और दूसरा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रचनाकारों का क्षेत्र। प्रथम में प्रधानतः उनका 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आता है और द्वितीय में प्रधानतः तुलसी, सूर तथा जायसी की समीक्षाएँ। इन समीक्षाओं द्वारा शुक्लजी ने रस और

अलङ्कार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी। इस प्रकार रस और अलंकार उस समय बहिष्कृत होने से बच गए। उन्होंने इस कार्य के लिए तुलसी और जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों को चुना और उनके श्रेष्ठ काव्य सौंदर्य के साथ रस और अलङ्कार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी उच्च मानसिक भूमि पर की कि लोग यह भूल गए कि रस और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है। आपका भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन गम्भीर और विस्तृत था इसी कारण आप इन दोनों का समन्वय करने में समर्थ हो सके। साथ ही उन्होंने हिंदी साहित्य में सर्व प्रथम कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रवृत्तियों के उद्घाटन का सफल प्रयास किया। सूर, तुलसी और जायसी की आलोचनाएँ इसका प्रमाण हैं। ये पांडित्यपूर्ण, विश्लेषणात्मक गम्भीर आलोचनाएँ मार्मिक, स्पष्ट और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। अपने 'इतिहास' में आपने इतिहास के साथ-साथ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों की अन्तरंग और बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला। ये आलोचनाएँ विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक होने के साथ ही साथ वैयक्तिक रुचि पर आधारित न होकर सर्व मान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इस क्षेत्र में शुक्लजी ने जो कार्य किया वह अत्यन्त ठोस, गम्भीर और सराहनीय है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"हिंदी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने युग प्रवर्तक का कार्य किया, वह हिंदी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।" अनेक आलोचकों ने शुक्लजी को न समझ कर उनकी कटु आलोचना भी की है। परन्तु इन आलोचनाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक निर्बल व्यक्ति किसी अत्यधिक सबल व्यक्ति पर आक्रमण करने का साहस तो करता है परंतु उसकी विराट शक्ति का आभास पाकर एवं भयभीत होकर उसके सम्मुख नत-मस्तक हो जाता है। शुक्लजी के उपरांत हिंदी में ऐसे प्रखर व्यक्तित्व के दर्शन फिर नहीं हुए।

'साहित्यालोचन' की प्रणाली पर बाद में अनेक विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थ लिखे। इनमें नलिनीमोहन सान्याल का 'समालोचना तत्व', लक्ष्मीनारायण सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन', रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण' आदि प्रसिद्ध हैं। साथ ही विभिन्न कवियों पर भी अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं इनमें 'गुप्तजी की काव्यधारा', 'महाकवि हरिऔध', 'प्रसाद की नाट्यकला', 'सुमित्रानन्दन पन्त आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'केशव की काव्य कला', 'कविवर

रत्नाकर', 'सुकवि समीक्षा' आदि ग्रन्थों में प्राचीन तथा नवीन कवियों पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। इन सब पर शुक्लजी का प्रभाव है। शुक्ल-धारा के अनुयायिओं में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, शिलीमुख, कृष्णशङ्कर शुक्ल, डा० जगन्नथप्रसाद शर्मा और बाबू गुलाब राय आदि प्रमुख है।

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समालोचना कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नए समीक्षक इस क्षेत्र में आये हैं। आज हिन्दी के प्रमुख साहित्य-कारों पर विचारपूर्ण निबन्ध और पुस्तकें लिखी जा रही हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध सम्बन्धी कार्य भी हो रहा है। डा० बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुलजी आदि ने इस क्षेत्र में प्रशंसात्मक कार्य किये हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में थीसिसों (अन्वेषक पत्रकों) का कार्य चल रहा है। इनमें नवीन एवं प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों पर गवेषणात्मक सामग्री का उद्घाटन एवं आकलन किया जा रहा है। 'इतिहास' को विभिन्न कालों में बांट कर उसका विस्तृत अध्ययन करने का भी प्रयत्न हुआ है। एक-एक विषय पर विभिन्न लेखकों की दर्जनों पुस्तकें निकल रहीं हैं। इनमें अनेक महत्वपूर्ण है। इन आलोचकों में रामकुमावर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, माता प्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, भगीरथ मिश्र, रामरतन भटनागर, सत्येन्द्र, नगेन्द्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बड़थ्वाल, नन्ददुलारे बाजपेयी आदि उल्लेखनीय हैं।

इधर कुछ समय से वादों या विशेष मतों की ओर नवीन समीक्षकों की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसके कारण हिन्दी समीक्षा कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गई है। इनमें मार्क्सवादी विचार-पद्धति सबसे सशक्त और विस्तृत है। इसके प्रमुख आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचंद्रगुप्त, रांगेयराघव आदि की गणना की जाती है। दूसरी ओर इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा आदि मनोवैज्ञानिक प्रभाववादी समीक्षा को लेकर चल रहे हैं। प्रभाकर माचवे, चंद्रबलीसिंह, भगवतीशरण उपाध्याय, राजेन्द्र यादव आदि आलोचक अपनी बुद्धिवादी प्रखर समीक्षा पद्धति द्वारा आधुनिक साहित्य की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण और मनन करने में संलग्न हैं। परन्तु इन समस्त आलोचकों में अभी एक भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो आचार्य शुक्ल के समान, साहित्यिक गतिविधि पर व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ हो। आज लेखकों और कवियों की अपेक्षा

हिंदी साहित्य में आलोचकों की बाढ़ सी आगई है जिससे ठोस साहित्य के निर्माण में एक गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आज का प्रत्येक लेखक और कवि समालोचक बनने का प्रयत्न कर रहा है जिससे पारस्परिक कटुता और छिछली व्यक्तिगत आलोचनाओं के दर्शन हो रहे हैं। आज एक ऐसे प्रखर व्यक्तित्व की आवश्यकता है जो इस बिखरे हुए मण्डल को एकत्र कर साहित्य का पथ-प्रदर्शन कर सके।

हिन्दी भाषा और लिपि

१३—हिन्दी भाषा का विकास

विद्वानों ने हिन्दी भाषा का प्रारम्भ १००० ई० से माना है। इस समय तक हिंदी का प्रयोग साहित्य में होने लगा था। परन्तु हिन्दी एकाएक तो साहित्य की भाषा नहीं बन गई होगी? साधारण नियम के अनुसार पहले उसका रूप साधारण बोलचाल की भाषा का रहा होगा। धीरे-धीरे जनवादी साहित्यकारों ने उसका प्रयोग साहित्य में करना प्रारम्भ कर दिया होगा। इसलिए हिन्दी के विकास क्रम का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम १००० ई० से पहले की हिंदी का रूप समझ लें।

हिन्दी का बोलचाल का क्या रूप था इसका प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का अनुमान है कि "सम्भवतः ईसवी सन् ७७८ के पहले से वह बोली जाती रही होगी।" इसके समर्थन में उन्होंने दाक्षिण्याचार्य चिन्होद्योतन की 'कुवलयमाला कथा' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में एक हाट का उल्लेख है जिसमें आए हुए देश विदेश के व्यापारी अपनी-अपनी बोली में माल बेचते हैं। मध्यप्रदेश के व्यापारी के मुख से उसने—'तेरे मेरे आउ,' कहलाया है। हिंदी मध्यदेश की भाषा है अतः उस व्यापारी ने मध्यदेश की बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया होगा। इस वाक्य में हिंदी के दो सर्वनाम 'तेरे, मेरे' और एक क्रियापद 'आउ' का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। हिंदी की बोलचाल का सर्वप्रथम रूप इसी ग्रन्थ में मिला है। सातवीं शताब्दी के पुष्य नामक एक कवि का केवल उल्लेख मात्र मिलता है जिसकी भाषा हिंदी कही गई है। नवीं और दसवीं शताब्दी में जब धर्म प्रचारकों ने अपने अपने धर्मों का प्रचार जनता में करना आरम्भ किया तो उन्होंने इसी हिंदी बोली को अपना माध्यम बनाया। इससे हिंदी पनपने लगी। "पश्चिम में जैन लोगों और पूरब में बज्रयानी सन्तों की अपभ्रंश की रचनाओं में जहाँ तहाँ हिंदी की बोली झलकने लगी।" सरहपा का एक पद द्रष्टव्य है—

> "जहँ मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश।
> तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"

सरहपा का समय आठवीं नवीं शताब्दी माना जाता है। ६६० ई० के लगभग जैन पण्डित देवसेन सूरि ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया है—

"जो जिन सासण भासियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जा पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावउ पारु॥"

११०० ई० के लगभग के अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों का प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि हेमचन्द्र को 'देशी नाममाला' में उन्हें संग्रह करने की सूझी। हिंदी शब्दों की इसी अधिकता को लक्ष्य कर महापंडित राहुल सांकृत्यायन और गुलेरी प्रभृत्ति विद्वानों ने इस भाषा को 'पुरानी हिंदी' के नाम से सम्बोधित किया। अतः हम कह सकते हैं कि १००० ई० के लगभग हिंदी का साहित्य में प्रयोग होने लगा था। इसलिए हिंदी का विकास इस समय से मानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का प्रारम्भ संवत् १०५० से माना है। अन्य विद्वान भी इसी समय को हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल मानते हैं। अतः हिंदी भाषा के विकास क्रम को देखने के लिए हमें हिंदी साहित्य के समानान्तर ही चलना पड़ेगा।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इस विकास के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया है:—

१—प्राचीन काल (१००० ई० से १५०० ई० तक), जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिंदी भाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिंदी की बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाए थे।

२—मध्यकाल—(१५०० ई० से १८०० ई० तक) जब हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिंदी की बोलियाँ, विशेषतया खड़ी बोली, ब्रज और अवधी, अपने पैरों पर स्वतन्त्रता पूर्वक खड़ी हो गई थीं।

३—आधुनिक काल—(१८०० ई० के बाद), जब से हिंदी की बोलियों के मध्यकाल के रूपों में परिवर्तन आरम्भ हो गया, तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिंदी की अन्य बोलियों को दबा दिया है।

प्राचीन काल

डाक्टर श्यामसुन्दर दास का मत है कि—"हेमचन्द्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चन्द के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था। अतएव हिंदी का आदिकाल हम सं० १०५० के लगभग

मान सकते हैं।" इस काल से पूर्व के कई ऐसे ग्रंथकारों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने हिंदी में ग्रंथ लिखे थे। इनमें पुष्यकवि (७१५ ई०) का अलंकार शास्त्र, अब्दुल एराकी (८७० ई०) का कुरान का हिंदी अनुवाद, मसऊद साद सालया (१०० ई०) का हिंदी का एक दीवान, कालिंजर के राजा नन्द (१०१३ ई०) का सुल्तान महमूद की प्रसशा में लिखा हुआ हिंदी का एक शेर आदि का उल्लेख किया गया है परन्तु इन रचनाओं के कोई नमूने नहीं मिलते। हिंदी के प्राचीनतम और सर्व सुलभ ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो की भाषा के विषय में काफी मतभेद है। उसमें भाषा की इतनी मिलावट है कि उसके मूल-रूप का पता लगाना कठिन है।

जिस समय हिंदी भाषा का विकास हो रहा था उसी समय उसे एक ऐसा भयङ्कर धक्का लगा जिससे वह अब तक नहीं पनप पाई। इसके लिए हमें तत्कालीन परिस्थिति को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। हिंदी भाषा का इतिहास जिस समय से प्रारम्भ होता है उस समय हिंदी प्रदेश तीन राज्यों में विभक्त था—दिल्ली-अजमेर का चौहान वंश, कन्नौज का राठौर वंश और महोवा का परमार वंश। नरपति नाल्ह का अजमेर से और चंद कवि का दिल्ली से संबंध रहा था। कन्नौज के अन्तिम राजा जयचन्द का दरबार साहित्य चर्चा का मुख्य केन्द्र था परंतु वहाँ हिंदी को कोई सम्मान प्राप्त न होकर संस्कृत तथा प्राकृत का ही बोलबाला था। महोवा के राजकवि जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है। इन तीनों राज्यों के संरक्षण में हिंदी पनप रही थी। ११६१ ई० तक इन तीनों राज्यों का अस्तित्व था परन्तु अगले दस बारह वर्षों में ही मुहम्मद गौरी ने इन्हें एक एक कर हरा किया और इस प्रकार हिंदी के जन्मस्थान मध्यदेश पर विदेशियों का अधिकार हो गया। "हिंदी भाषा के इतिहास के सम्पूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उसके बाहर शेष उत्तर भारत पर भी तुर्की मुसलमानों का साम्राज्य कायम रहा (१२०६-१५२६ ई०)। इनकी मातृभाषा तुर्की थी तथा दरबार की भाषा फारसी।" अतः इस विदेशी शासन काल के लगभग ३०० वर्षों तक, दिल्ली के राजनीतिक केन्द्र रहते हुए भी हिंदी भाषा को राज्य की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। केवल दिल्ली के अमीर खुसरो ने कुछ तो मनोरंजन के लिए और कुछ मुसलमानों में हिंदी का प्रचार करने के उद्देश्य से हिंदी में कुछ रचनाएं लिखीं। इसी समय पूर्वी भारत में धार्मिक आंदोलनों के कारण कुछ हिंदी की रचनाएं लिखी गईं। इस प्रकार के आंदोलनों में गोरखनाथ, रामानन्द तथा कबीर का कार्य विशेष उल्लेखनीय हुआ।

हिंदी भाषा की प्राचीन काल की सामग्री डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है—

१—शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्रादि।

२—अपभ्रंश काव्य।

३—चारण काव्य, जिनका आरम्भ गंगा की घाटी में हुआ था, किंतु राजनीतिक उथल पुथल के कारण बाद को जो प्रायः राजस्थान में लिखे गए; तथा धार्मिक ग्रंथ व अन्य काव्य ग्रन्थ।

४—हिंदी अथवा पुरानी खड़ी बोली में लिखा साहित्य।

हिंदी भाषा का प्राचीन या आरम्भिक युग विदेशी शासन का युग था। अतः उस काल के हिंदू राजाओं द्वारा शिलालेख आदि खुदाए जाने की सम्भावना अपेक्षाकृत कम है। हिंदी के सबसे प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से सम्बन्धित मिले थे परन्तु वे भी अब अप्रामाणिक घोषित किए जा चुके हैं। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल एवं राहुल सांकृत्यायन ने नाथ-पंथ तथा वज्रयानी सिद्ध साहित्य पर प्रकाश डालकर अनेक ग्रंथों का पता लगाया है। इनमें से कई बहुत प्राचीन हैं। इनके रचयिताओं का समय ७०० ई० से १३०० ई० तक माना गया है। कुछ विद्वान इनकी प्रामाणिकता में भी संदेह करते हैं। इनकी भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो चुका है कि इन सिद्धों की भाषा हिन्दी न होकर स्पष्टरूप से अपभ्रंश (मागधी) है। इस साहित्य का परिचय हरिप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान और दोहा' नामक ग्रंथ से हुआ था।

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्राचीन भाषा के कुछ उदाहरण संकलित किए हैं परन्तु इन पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। दूसरे इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें हिन्दी के अन्तर्गत न मानकर अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत माना है। इन उदाहरणों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा का विकास होने से पूर्व उसका क्या रूप था। इस काल की भाषा का तीसरा रूप चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य ग्रंथों में सुरक्षित माना जाता है। चारण काव्यों की भाषा, भाषाशास्त्र की दृष्टि से संदिग्ध मानी गई है। इस भाषा को उस काल की भाषा नहीं माना जा सकता। इस कारण से तथा अन्य अनेक कारणों से लगभग सभी चारण ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं। परन्तु उनमें कहीं कहीं प्राचीन भाषा के कुछ नमूने अवश्य मिल जाते हैं। इन ग्रंथों की भाषा उतनी प्राचीन इस कारण नहीं मानी जाती कि उसमें हिन्दी की

उस अवस्था के लक्षण नहीं मिलते जब उसका विकास हो रहा था। इसका कारण यह माना जाता है कि बहुत समय तक ये ग्रंथ मौखिक रूप में ही प्रचलित रहे थे। बाद में जाकर उनका संग्रह किया गया इसी से भाषा में नवीनता आ गई। किसी भी चारण काव्य की हस्तलिखित प्रति १५०० ई० से पूर्व की नहीं मिली है।

दक्खिनी या हिंदवी भाषा का प्रारम्भ मुहम्मद तुगलक के दक्षिण आक्रमण (१३२६) के बाद हुआ। इसकी प्रारम्भिक रचनाएँ सूफी फकीरों ने लिखीं जिनकी लिपि फारसी थी। इस भाषा का रूप अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन माना जाता है। इस काल के साहित्य में विद्यापति का नाम भी बड़े आदर से लिया जाता है। परन्तु उनकी पदावली की भाषा हिंदी न होकर मैथिली है। इनके किसी भी वर्त्तमान संग्रह की भाषा पंद्रहवीं शताब्दी से पुरानी नहीं मानी जाती। विद्यापति चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। कबीर (१४२३ ई०) आदि सन्त कवियों की भाषा के विषय में भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने मूलरूप में उपलब्ध हैं। उनकी सधुक्कड़ी भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। कबीर के काव्य में कहीं तो पंजाबी का घोर प्रभाव लक्षित होता है और कहीं पूरबी हिंदी का।

इस काल में केवल अमीर खुसरो ही एक ऐसा कवि है जिसकी भाषा में साहित्यिक हिंदी के दर्शन होते हैं। सन् १३५० के लगभग खुसरो ने हिन्दी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि—"हिंदी में मिलावट नहीं खपती और उसका व्याकरण नियम बद्ध है।" (बड़थ्वाल-बोली से साहित्यिक भाषा) डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा खुसरो की भाषा को भी प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि—"इनकी हिंदी कविता के नमूने का आधार एक मात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किये जाने के कारण खुसरो की हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली हो गई है।" परन्तु डाक्टर बड़थ्वाल खुसरो की भाषा को प्राचीन मानते हैं। उनका कहना है कि—"खुसरो के नाम से आज जो कविता मिलती है उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो गया हो निश्चय ही मूल रूप में वह वही भाषा थी जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं—

"श्याम बरन की एक है नारी। माथे ऊपर लागै प्यारी॥
या का अरथ जो कोई खोलै। कुत्ते की वह बोली बोलै॥"

हिन्दी के प्राचीन रूप की विवेचना करते हुए आगे डाक्टर बड़थ्वाल कहते हैं कि आरम्भ में मध्य देश में हिन्दी का एक सर्वग्राह्य रूप रहा होगा जो विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के अलग अलग रूपों में मिलता

है। उनका मत है कि गोरख, जलंधर, चौरंगी, कणेरी आदि योगियों की वाणी से उस भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नामदेव, मीरा, रैदास आदि मध्यदेशीय और बाहरी साधु सन्तों में भी भाषा का प्रायः यही स्वरूप दिखाई देता है।

हिन्दी भाषा का प्राचीन काल मुसलमानी प्रभुत्व का काल है। अतः यह स्वाभाविक है कि हिन्दी से उनकी भाषाओं का आदान प्रदान अवश्य हुआ होगा। चन्द आदि में इसके उदाहरण भी मिल जाते हैं। चन्द की कविता में मशाल, शेख, सुल्तान, याकूब आदि अरबी के; शक्कर, कमान, रूख, शाह आदि फारसी के तथा उजबक आदि तुर्की भाषा के शब्दों का खुल कर प्रयोग हुआ है। चन्द की दूसरी भाषा प्राकृत के ढङ्ग की है। उसमें कम्म, धम्म आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। चन्द की तीसरी भाषा सरल है। वह ब्रज से बहुत मिलती जुलती है। अनुमान है कि वही स्वच्छ और सरल होकर ब्रज भाषा बनी होगी।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी अपने विकास के आदि काल में चारों ओर से शक्ति ग्रहण करती हुई विकसित होती जा रही थी। उसने संस्कृत के समान अपने को नियमबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया था। आदान प्रदान करने वाली भाषा बड़ी शक्तिशाली होती है। वह कभी मरती या स्थिर नहीं होती। हिन्दी का वह गुण आज भी अक्षुण्ण है।

इस काल के प्रसिद्ध कवियों में नरपति नाल्ह, चन्द, जगनिक, गोरखनाथ, अमीर खुसरो, विद्यापति तथा कबीर विशेष प्रसिद्ध है।

मध्यकाल

हिन्दी भाषा के आदि काल में भाषा का एक सर्वमान्य साहित्यिक रूप था जिसमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा कहीं कहीं अवधी के रूपों का प्रयोग हो रहा था। कबीर में पूर्वी हिन्दी अथवा अवधी के रूप मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो में कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक दिखाई पड़ती है, जैसे—

"एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिन्द॥"

यह भाषा ब्रजभाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सम्भव है वही स्वच्छ और सरल होकर शुद्ध ब्रजभाषा बनी होगी। अमीर खुसरो के काव्य में खड़ी बोली के सुन्दर रूप के दर्शन होते हैं। कुछ विद्वान् खड़ी बोली को ही आधुनिक उर्दू का पूर्व रूप मानते हैं। उनका मत है कि खड़ी बोली में विदेशी

शब्दों के अधिक प्रयोग से उसका रूप उर्दू का हो गया था। उर्दू मुसलमानों की भाषा मानी जाती है। मध्यकाल में हिन्दी के तीन रूपों ब्रज, अवधी और खड़ी बोली—में से ब्रज और अवधी ही पनपीं। खड़ी बोली में नाम मात्र का साहित्य रचा गया। यह एक आश्चर्य है कि मुसलमानी शासन में एक ऐसी बोली, जिसे मुसलमानों ने अपना रखा था, साहित्य में न पनप सकी और ब्रज और अवधी पनप गईं। इसके कारण राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही थे।

मध्यकाल तक आते आते तुर्कों का प्रभुत्व समाप्त होकर मुगलों का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। सत्ता के इस परिवर्तन के संक्रांति काल में कुछ समय तक राजपूतों का भी प्रभुत्व रहा था। इन राजपूतों ने हिन्दी को विशेष प्रोत्साहन दिया। दूसरे मुगल शासक यह समझते थे कि बिना जनता की सहानुभूति प्राप्त किए भारत पर शासन करना असम्भव है। इसलिए उन लोगों ने जनता से सम्पर्क स्थापित करना प्रारम्भ किया। जनता से सम्पर्क जनता की ही बोली में स्थापित किया जा सकता था। अकबार आदि ने यही किया। जनता की बोली हिंदी थी। जब उसके कवियों का शाही दरबार में सम्मान होने लगा तो जनता भी स्वच्छन्द रूप से उसे लेकर आगे बढ़ी। इधर अकबर आदि ने भी इस भाषा को अपनाया। अकबर, जहांगीर और यहाँ तक कि औरंगजेब ने भी हिंदी में कविता की। मुगल साम्राज्य में शांति थी। शांति काल में ही कला और साहित्य पनपते हैं। मुग़लों की, विशेषकर, अकबर की उदारता ने हिन्दी साहित्य को पनपने का अवसर प्रदान किया।

सामाजिक कारणों में सबसे प्रबल कारण धार्मिक आन्दोलन थे। इन धार्मिक प्रचार सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रचारकों ने जनता के हृदय तक पहुँचने के प्रयत्न की आवश्यकता का अनुभव किया। कबीर आदि इसका श्रीगणेश कर चुके थे। सूफी कवियों ने भी यही किया। बाद में तो राम के जन्मस्थान की भाषा अवधी और कृष्ण के जन्मस्थान की भाषा ब्रज ने धार्मिक आन्दोलन का सहारा पाकर अपना साहित्यिक विकास किया। इस प्रकार धर्म की सहायता पाकर ये भाषाएँ आगे बढ़ चलीं। खड़ी बोली को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका इसलिये उसका विकास रुक गया।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने मध्यकाल की तीन अवस्थाएँ मानी हैं। "इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी। पीछे से क्रमशः उसमें स्थिरता आई जो, दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँच कर पुनः डाँवाडोल हो गई। हिन्दी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १६०० से आरम्भ होती है।"

मध्यकाल के प्रथम भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण कर लिया। ब्रज और अवधी धार्मिक आश्रय पाकर साहित्यिक बन गईं और आगे बढ़ी। खड़ी बोली आंशिक रूप से राजनीति का सहारा पाकर विकसित होती रही। उसकी विकास गति बहुत धीमी रही। अब हमें हिन्दी के इन तीनों रूपों का अलग अलग विकास देखना है।

"अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास सोलहवीं सदी में ही प्रारम्भ हुआ है। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई किन्तु अवधी में लिखे गए 'राम चरित मानस' का हिंदी जनता में सबसे अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका।" (डा० धीरेन्द्र वर्मा) कृष्ण भक्ति के अधिक प्रचार ने ब्रज भाषा को प्रधानता दी। सूर ने सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में इसे सर्व प्रथम साहित्यिक रूप दिया। उसके बाद तो ब्रजभाषा में भक्ति का स्रोत अबाध रूप से प्रवाहित हो चला। भाषा के इन तीनों रूपों की विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी। इस विषय में डाक्टर श्यामसुन्दर दास का कहना है कि—"पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यन्त कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़ मरोड़ सहनी तथा उन्हें घटाने बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखनी पड़ी होगी।" डाक्टर साहब ने इन तीनों भाषाओं को बोलियाँ माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि इनकी उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई थी। डाक्टर बड़थ्वाल ने इस पर कुछ प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—"अनुमान होता है कि आरम्भ में हिन्दी का मध्यदेश भर में एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा जिसमें खड़ी, ब्रज आदि के रूप छिपे रहे होंगे।" अपने मत के समर्थन में उन्होंने गोरख, जलन्धर आदि योगियों की वाणियों के उदाहरण दिये हैं। हिंदी से पूर्व मध्यदेश की सर्वमान्य भाषा शौर-सेनी अपभ्रंश थी। अतः ब्रज और खड़ी बोली की उत्पत्ति इसी से मानी जा सकती है। अवधी की प्रकृति अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से मिलती जुलती है। अतः उसमें अर्द्ध मागधी और शौरसेनी का प्रभाव माना जा सकता है। अस्तु,

हम ऊपर कह आये हैं कि कृष्णभक्ति के प्रचार के साथ साथ ब्रजभाषा का महत्व बढ़ा। सूर नन्ददास, कुम्भनदास, हितहरिवंश, परमानन्द, हरिराम,

व्यास आदि भक्त कवियों की वाणी ने उसमें प्राण और सौंदय का संचार किया। रसखान आदि मुसलमान भक्त कवियों ने भी उसे ही माध्यम बना कर अपने सरस उद्गारों को साकार रूप दिया। कृष्ण भक्ति के साथ साथ ब्रज भाषा समस्त उत्तर भारत में फैल गई। बंगाल में चन्डीदास, गुजरात में नरसी मेहता और महाराष्ट्र में तुकाराम आदि ने इसी भाषा में काव्य रचना की। वह एक प्रकार से उत्तर भारत की काव्य भाषा बन गई। इस समय तक उसमें पर्याप्त गाम्भीर्य और शक्ति आगई थी। रीतिकाल में जाकर उसकी प्रांजलता, सौंदर्य और शक्ति अपने चरम रूप में दिखाई दी। बिहारी, देव, मतिराम, केशव, चिंतामणि, घनानन्द, सेनापति आदि ने इसका खूब अलङ्कार शृङ्गार किया। भूषण ने उसे वीर रस की पुट दी। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता आदि के रूप में ब्रजभाषा गद्य के भी दर्शन हुए परन्तु उसका पर्याप्त विकास न हो सका। यह भाषा यहाँ तक सर्व प्रिय हुई कि—"बंगाल में ब्रजबूली नाम से उसका एक अलग रूप चल पड़ा जो कृत्रिम होने पर भी उसका महत्व बतलाता है।" (डा० बड़थ्वाल)

सूर के समय तक ब्रज भाषा काव्य भाषा का रूप धारण कर चुकी था। उस पर प्राचीन काव्य भाषा का पूरा पूरा प्रभाव था। क्रिया, सर्वनाम आदि के प्रयोग में प्राकृत और अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव था। इसका कारण यह था कि यह पुरानी सर्वदेशिक काव्यभाषा का विकसित रूप है। यह मध्यदेश की प्रधान बोली होने के कारण प्रमुखता पा गई। चुने हुए उपयुक्त विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग होने लगा। अष्टछाप के कवियों तक यह रूप रहा। परंतु उनके बाद के कुछ कवि जिनका भाव और भाषा पर अधिकार नहीं था अरुचिपूर्ण ढङ्ग से विदेशी शब्दों का व्यवहार करने लगे। परंतु घनानन्द तक आते आते भाषा की विशुद्धता पर पुनः ध्यान दिया जाने लगा। घनानन्द इस आन्दोलन के अगुआ थे। अनिच्छित विदेशी प्रयोगों का बहिष्कार होने लगा। विशुद्धता की यह भावना आधुनिक काल में रत्नाकर आदि में भी दिखाई दी।

अवधी भाषा का प्रथम रूप हमें कबीर आदि सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा में मिलता है जो काशी के आस-पास रहते थे। यह अवधी का असांस्कृतिक एवं अपरिमार्जित रूप था। आगे चलकर जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों ने इसे अपने साहित्य का माध्यम बनाकर इसके रूप को कुछ परिमार्जित किया। अन्त में तुलसी ने उसे प्रौढ़ता प्रदान कर साहित्यिक आसन पर प्रतिष्ठित कर

दिया। प्रेमाख्यानक कवियों की अवधी बोलचाल की अवधी थी। तुलसी ने उसे संस्कृत के योग से परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया। अवधी में अधिकतर प्रबंध काव्य ही अच्छे लिखे गए। जायसी का 'पद्मावत', कुतबन की 'मृगावती', शेखनबी का 'ज्ञान दीप', नूर-मुहम्मद की 'इन्द्रावती' आदि सूफी कवियों द्वारा रचित प्रबंध काव्य हैं। अवधी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ तुलसीदास का 'रामचरित मानस' माना जाता है। तुलसी यद्यपि मूलरूप से अवधी के कवि थे परंतु वे भी व्रजभाषा के प्रभाव से न बच सके। विनयपत्रिका, गीतावली आदि में उन्होंने व्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। सोलहवीं सदी के बाद अवधी में कोई भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। वह तुलसी द्वारा चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई और उनके बाद साहित्यिक क्षेत्र से लुप्त हो गई।

प्राचीन अपभ्रंश की कविता में खड़ी बोली का रूप दिखाई देने लगा था। अवधी और व्रज के समान ही प्राचीन होने पर भी उसे साहित्य में यथेष्ठ सम्मान न प्राप्त हो सका। समय-समय पर इसने उठकर अपने अस्तित्व का परिचय अवश्य दिया।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली की झलक बहुत प्राचीन काल से मिलने लगती है। दक्षिणाचार्य चिंहोद्योतन के ग्रन्थ 'कुवलयमाला कथा' में इसके रूप की झलक सर्व प्रथम मिलती है—"तेरे मेरे आउ" में तेरे, मेरे स्पष्ट रूप से खड़ी बोली के शब्द हैं। इससे प्रमाणित होता है कि उस समय मध्यदेश में खड़ी बोली का प्राचीन रूप बोला जाता था। बारहवीं शताब्दी के अन्त में एक ओर तो अपभ्रंश काव्य में खड़ी बोली के कुछ क्रियापदों का रूप मिलता है और दूसरी ओर मराठा भक्त नामदेव के काव्य में खड़ी बोली के सुन्दर रूप के दर्शन होते हैं। पहले उदाहरण के लिए हेमचन्द्र का दोहा द्रष्टव्य है—

> "भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि हमारा कन्तु।
> लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥"

इस दोहे में प्रयुक्त 'हुआ', 'मारिया,' 'हमारा', 'भग्गा' आदि शब्द खड़ी बोली के हैं।

खड़ी बोली का सबसे स्वस्थ और शुद्ध रूप अमीर खुसरो की कविता में मिलता है। खुसरो का समय १२५५--१३२५ ईसवी है। खुसरो के उपरान्त कबीर आदि के काव्य में भी खड़ी बोली के दर्शन होते हैं। आगे चल कर जब व्रज और अवधी साहित्यिक भाषाएं बन गईं खड़ी बोली काव्य लुप्त सा

हो चला। अकबर के समय इसमें गंग भाट ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य ग्रंथ लिखा। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आस पास है। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। शुरु शुरु में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था जिसे वे 'हिन्दवी भाषा' कहते थे। शाह मीरान बीजापुरी, शाह बुरहान खान और गेसूदराज के लिखे पुराने गद्य प्राप्त हुए हैं। संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग-वशिष्ठ' नामक ग्रंथ बहुत साफ सुथरी खड़ी बोली में लिखा। इसके उपरांत पं० दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का इसमें अनुवाद किया। इसके उपरान्त लगभग दो सौ वर्ष तक हिंदी गद्य का क्षेत्र सूना पड़ा रहा। पुनः लल्लूजी लाल, इंशा आदि की भाषा में खड़ी बोली गद्य के दर्शन हुए और तब से विकास करती हुए यह भाषा आज साहित्य की एक मात्र भाषा बन गई है। गद्य के क्षेत्र में तो उसका एकाधिकार है। यह तो हुआ खड़ीबोली गद्य का विकास।

खुसरो के उपरांत खड़ी बोली का पद्य उत्तर भारत में नहीं पनप सका। जब मुसलमानों ने दक्षिण भारत को जीत लिया तो यह उनके साथ दक्षिण में चली गई। वहाँ की मुस्लिम सल्तनतों में इसका पालन पोषण होता रहा। प्राचीन काल में खड़ी बोली के तीन नाम प्रचलित थे—हिंदवी, हिंदी और दक्खिनी। यह जन-साधारण की भाषा थी। हिंदवी शब्द बहुत पुराना है। शेख अशरफ (१५०३ ई०), मुल्ला वजही (१६२५ ई०) आदि दक्खिनी विद्वानों ने खड़ी बोली के रूप के लिए हिंदवी शब्द का प्रयोग किया है।

खड़ीबोली बहुत प्राचीन काल से बोलचाल की भाषा रही है। साहित्य के क्षेत्र में इस बोलचाल की भाषा का सर्वप्रथम प्रयोग मुसलमानों ने किया। इसका कारण था। खड़ीबोली का मुख्य स्थान मेरठ के आसपास होने के कारण और भारत में मुस्लिम शासन का केन्द्र दिल्ली रहने के कारण पहले पहल मुसलमानों की पारस्परिक बातचीत इसी भाषा के द्वारा प्रारम्भ हुई। मुसलमानों की उत्तेजना से इसका व्यवहार बढ़ा। जैसे-जैसे मुसलमान भारत के विभिन्न भागों में फैलते गए अपने साथ इस भाषा को भी लेते गए। इसी कारण बहुत से विद्वान खड़ीबोली को मुसलमानों की भाषा समझ बैठे हैं। हिंदुओं ने खड़ीबोली को साहित्यिक भाषा के रूप में इस काल में आकर अप-नाया है। इसका कारण यह था कि हिंदी के आरम्भिक काल में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश थी। उस समय बोलचाल की भाषा भी अवश्य रही होगी। मुसलमान विदेशी थे। उनके लिए हिंदुओं की—

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—आदि भाषाओं का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि वे जनसाधारण की भाषाएं नहीं थीं। वे साधारण बोलचाल की भाषा अपनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मध्यदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ीबोली का सहारा लिया। मुस्लिम संत और फकीर अपने धर्म का प्रचार इसी भाषा में करने लगे। सूफी संतों के विषय में डाक्टर अब्दुल हक ने लिखा है कि—"इन बुजुर्गों के घरों में हिंदी बोलचाल का रिवाज था और चूंकि यह उनके मुफीद मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम व तकलीम में भी इसी से काम लेते थे।" क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य के विस्तार के साथ-साथ इस खड़ीबोली (हिंदी) की भी व्यापकता बढ़ती गई।

यह विदेशी परम्परा खड़ीबोली को साथ लेकर चौदहवीं सदी में दक्खिनी प्रदेशों में मुसलमानी फौजों, संतों और दर्वेशों के साथ गई। दक्षिणी का सम्बन्ध उत्तरी भारत के मुसलमानों से रहा था, इसलिए हिंदी वहाँ खूब फली फूली। उत्तरी भारत में खड़ीबोली के उस काल में न पनपने दो कारण थे। पहला यह कि वहाँ मुस्लिम आक्रान्ता निरंतर आते रहे और अपने साथ अरबी और फारसी का प्रभुत्व लाए। अरबी और फारसी की प्रतिद्वन्द्विता में हिंदी के पनपने में बाधा पड़ी। दक्षिणी प्रदेशों में फैले हुए मुसलमानों के लिए भाषा का सरलतम रूप हिंदी ही परंपरागत सम्बन्ध स्थापित रखने का एकमात्र था। बहमनी राज्यों के दफ्तरों में तो उसे 'सरकारी जबान' का पद प्राप्त था। उत्तर भारत में अठारहवीं सदी तक हिंदी कभी भी सरकारी, जबान नहीं रही। दूसरा कारण यह था कि उत्तर भारत में उस समय साहित्यिक क्षेत्र में ब्रज और अवधी का प्रभुत्व था। ऐसी उन्नत साहित्यिक भाषाओं के सामने खड़ीबोली को कोई नहीं पूछता था। इसलिए साहित्य में उसे स्थान नहीं मिल सका। मुसलमान भी बढ़िया उच्चकोटि की रचनाएं फारसी में ही लिखते थे पर जनसाधारण के समझने लायक सिद्धान्त और किस्से कहानियाँ हिंदी में ही लिख देते थे। इस प्रकार उत्तर की समृद्ध साहित्यिक देशी भाषाओं के प्रभाव से दूर दक्षिण में हिंदी पनपती रही। यह आश्चर्य का विषय है कि दिल्ली मेरठ की इस लाड़ली बेटी का पालन दक्षिण में विदेशियों द्वारा किया गया।

दक्षिण में भी वली औरंगाबादी से पूर्व तक खड़ीबोली का रूप पूर्णतः भारतीय और शुद्ध रहा परंतु वली की प्रसिद्ध दिल्ली यात्रा के उपरांत इसमें अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य होने लगा और यह उर्दू का रूप धारण करने लगी। उसके बाद विकसित होते-होते यह आज उत्तर भारत की सर्वप्रिय भाषा और समस्त भारत की राष्ट्रभाषा बन गई है। परन्तु यहाँ तक आते-आते

इसके दो रूप हो गए हैं—हिंदी और उर्दू। हिंदी और उर्दू भिन्न भाषाएं न होकर हिन्दी की ही दो शैलियाँ हैं। यहाँ लगे हाथों हम एक भ्रम का और निराकरण कर लें। कुछ लोगों का कहना है कि खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से न होकर किसी बोली से हुई है जिसका पूर्व इतिहास नहीं मिलता। उनकी धारणा है कि शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई है क्योंकि शौरसेनी शूरसेन प्रदेश (मथुरा) की भाषा थी। इस भ्रम का कारण यह है कि वे लोग शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र को सीमित कर के देखते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश अपने समय में उत्तर भारत की सर्वप्रधान भाषा थी। उसका क्षेत्र राजस्थान और पंजाब से लेकर बिहार तक था। ऐसी दशा में संपूर्ण मध्यदेश की भाषाएं शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित रहीं होंगी। विद्वानों का मत है कि खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी, पंजाबी और पैशाची की मिश्रित अपभ्रंश से हुई। विद्वानों का यह मत तर्क संगत है क्योंकि पैशाची भाषा का प्रभाव किसी समय समस्त मध्यदेश में व्याप्त था। पंजाबी खड़ी बोली की पड़ोसिन है। दूसरे ब्रजभाषा और खड़ी-बोली में कोई विशेष अन्तर भी नहीं। अतः खड़ी बोली का मूलाधार शौरसेनी मानी जा सकती है।

कुछ लोगोंका, जिनमें डाक्टर ग्रियर्सन प्रमुख हैं, यह मत है कि खड़ीबोली का रूप प्राचीन नहीं है। सन् १८०० के लगभग लल्लूजीलाल ने अपने प्रेमसागर में इसका रूप निरूपण किया और तब से खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा। ग्रियर्सन ने स्पष्ट लिखा है कि—"Such a language didnot exist in India before...when, therefore, Lallujilal worte his Premsagar in Hindi, he was inventing an altogether new language." उक्त मत कितना हास्यास्पद है यह कहना बेकार है। संसार के इतिहास में आज तक किसी एक व्यक्ति ने कभी किसी भाषा को उत्पन्न किया है ? आगे चलकर उक्त महोदय कहते हैं कि—"इसका आरम्भ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अँग्रेजी प्रभाव के कारण होने लगा है""लल्लूजीलाल ने डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेमसागर लिखकर ये सब परिवर्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह ग्रन्थ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखने वाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।" जो व्यक्ति प्रेमसागर की भाषा को उर्दू कह सकता है उसकी बुद्धि के लिए क्या कहा जाय। उसके भ्रमों का कहीं अन्त नहीं है।

खड़ी बोली के विकास में एक बड़ी आश्चर्य जनक घटना घटी है। जब तक भारत में पठानों का प्रभुत्व रहा खड़ीबोली का विकास होता रहा परन्तु जैसे ही यहाँ मुगलों का साम्राज्य स्थापित हुआ राजनीति में खड़ीबोली हट कर फारसी का प्रभाव बढ़ा। इसका कारण यह था कि मुगलों के साथ भारत में ईरानी विचारधारा और संस्कृति आई और उसका प्रचार हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अवधी और ब्रजभाषा का प्रभुत्व बढ़ रहा था अतः खड़ी बोली की पूर्ण उपेक्षा हुई। शेरशाह सूरी ने अपने शासन कार्य में दो भाषाओं की स्वीकृति प्रदान कर रखी थी—हिन्दी और फारसी। उसकी हिन्दी खड़ीबोली हिन्दी थी। परन्तु अकबर के शासनकाल में केवल फारसी ही राजभाषा रही। राज्य के सम्पूर्ण महत्वपूर्ण पद फारसी दाँ लोगों के हाथ में थे। इसलिए सरकारी नौक-रियों के लालच से राजा टोडरमल ने हिंदुओं को फारसी भाषा पढ़ने की सलाह दी जिससे हिन्दुओं को नौकरियाँ मिल सकें। इस प्रकार खड़ी बोली की पूर्ण उपेक्षा रही। पठान शासक खड़ीबोली को इसलिए प्रोत्साहन देते थे कि उनकी अपनी बोली पश्तो का अधिक सांस्कृतिक मूल्य नहीं था। दूसरे वे योद्धा थे। मध्यदेश में रहते-रहते उन्होंने यहाँ की जनता की बोली खड़ीबोली को अपना लिया था। खड़ीबोली की जन्मभूमि रुहेलखण्ड है जो पठानों का गढ़ रहा है। इस तरह खड़ी बोली के विकास में राजनीतिक उलट-फेरों ने बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा किया है।

आधुनिक काल

यदि मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के उत्कर्ष में सहायक हुई तो राजनीतिक परिस्थिति ने खड़ीबोली को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों के साथ उर्दू के रूप में यह चारों ओर फैल गई। ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व घटने लगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली की इतनी आशातीत उन्नति का प्रधान कारण उसका गद्य रहा है। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि साहित्य जन-साधारण की वस्तु बन गया। उसका केन्द्र राजसभा से हटकर शिक्षित जन-समाज में आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूढ़ि-गत काव्य भाषा ब्रज को हटाकर उसके स्थान पर खड़ीबोली की स्थापना की गई और दूसरी तरफ खड़ीबोली गद्य साहित्य का मूलाधार बन गया।

परिवर्तन के ये लक्षण अठारहवीं सदी के अन्त से ही प्रारम्भ हो गए थे। मुगलों के पराभाव के समय बाहर की तीन शक्तियों ने हिंदी क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया—अफगान, मराठा और अँग्रेज। इनमें परस्पर खूब युद्ध हुए। अन्त में अँग्रेज विजयी हुए और सन् १८५६ तक आगरा व अवध प्रांत

पर उनका एकाधिकार स्थापित हो गया। इस परिवर्तन का प्रभाव मध्यदेश की भाषा हिंदी पर पड़ना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा का महत्व घटा। उधर मुसलमानों के प्रचार के कारण मेरठ-बिजनौर की बोली, खड़ीबोली, उर्दू का रूप धारण कर आगे बढ़ रही थी। शासन कार्य के सुचारु संचालन के लिए अँग्रेजों को गद्य की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप फोर्ट विलियम कालेज के अँग्रेज अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूजीलाल ने खड़ीबोली गद्य का सर्व प्रथम प्रयोग 'प्रेमसागर' द्वारा किया। (यद्यपि खड़ीबोली गद्य इससे पहले भी लिखा जा चुका था) परन्तु इस गद्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहा। बाद में साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु के प्रभाव से और धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से खड़ी बोली गद्य का खूब प्रचार हुआ। उन्नीसवीं सदी तक काव्य की भाषा ब्रजभाषा रही और गद्य की खड़ी बोली।

प्राचीन विचारधारा के लोग, जिन्हें प्राचीन के प्रति अत्यधिक मोह होता है, ब्रजभाषा की हिमायत करते रहे। शिक्षा प्रसार, मुद्रण कला और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से काव्य भाषा ब्रज और शिक्षित जनता की भाषा खड़ीबोली के बीच का यह अन्तर जनता को असह्य हो उठा। फलस्वरूप महावीरप्रसाद द्विवेदी और अयोध्याप्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा के विरुद्ध झगड़ा उठाया। जनता के सहयोग से उन्हें सफलता मिली। इस सफलता का एक कारण यह भी था कि ब्रजभाषा कविता में विनाश के अंकुर थे। बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में— "भाषा के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है जब असली कवित्व शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला-बुरा लिख कर शब्दों की खींचा-तानी करते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छन्द के खोल में छिपा हुआ देख, लोग उसी को कविता समझने और समझाने लगते हैं।" उन्नीसवीं सदी में ब्रजभाषा कविता इसी अवस्था को पहुंच गई थी। रूढ़िगत अलङ्कारों के भार से लदी हुई यह काव्य की भाषा प्रगति के मार्ग पर बढ़ने में असमर्थ थी। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की प्रगति और विकास खड़ीबोली साहित्य का इतिहास है।

खड़ीबोली के प्रारम्भिक रूप पर ब्रजभाषा का थोड़ा-बहुत प्रभाव रहा परंतु बाद में जाकर इस प्रभाव को दूर कर वह विशुद्ध बन गई। परंतु अपने साहित्यिक रूप में यह मेरठ-बिजनौर की बोली से दूर हट गई है। यह भिन्नता अभी अधिक नहीं हो पाई है। खड़ीबोली हिंदी एक जीवनी शक्ति से ओत-प्रोत सशक्त भाषा है। वह बाहर से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में संकोच नहीं करती।

उसका व्याकरण अभी अंतिम नहीं हो पाया है। यहाँ संक्षेप में खड़ीबोली के रूपों पर भी विचार कर लिया जाय। इस समय हिंदी के स्वरूप निर्धारण के विषय में दो मत हैं। एक पक्ष उसे पूर्ण रूप से संस्कृत गर्भित बनाकर उसकी शुद्धता की रक्षा करना चाहता है। दूसरा पक्ष यह चाहता है कि हिंदी एक उन्मुक्त स्रोतस्विनी के समान चारों ओर से जल संचित करती हुई जनता रूपी कगारों के साथ-साथ बहती रहे। भाषा तभी जीवित रहती है जब वह जनता की अपनी बोली के आस-पास रहती है। दूर हटते ही उसका रूप तो सुन्दर हो जाता है परन्तु उसकी जीवनी शक्ति मारी जाती है। इस कारण आज जनता का बहुमत इस पक्ष में है कि हिन्दी जन-साधारण की भाषा का रूप ग्रहण कर आगे बढ़े।

खड़ीबोली का साहित्य बहुत तेजी से पनपा है। अवधी और ब्रज से उसे बड़ी सहायता मिली है क्योंकि थोड़े से रूप भेद से इन तीनों की शब्द सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसने बहुत लिया है। अरबी, फारसी, अँग्रेजी आदि शब्दों से भी उसे परहेज नहीं है। इतना सब कुछ होते हुए भी उसमें वैज्ञानिक और औद्योगिक शब्दावली का अभाव खटकता है।

हिंदी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने प्रांतों में आज भी पूर्ण रूप से जीवित हैं। ग्रामीण जनता अपनी स्थानीय बोली का ही प्रयोग करती है। नागरिक जनता में से शिक्षित समुदाय खड़ी बोली का प्रयोग करता है और अशिक्षित समुदाय ऐसी बोली बोलता है जिसमें उस प्रदेश की ग्रामीण बोली और खड़ी बोली का अद्भुत मिश्रण होता है।

१४—दक्खिनी हिन्दी

दक्षिण के मुसलमान जो हिंदी बोलते हैं उसे दक्खिनी हिंदी या केवल दक्खिनी नाम दिया गया है। कुछ विद्वान इसे 'सरल दक्खिनी उर्दू' अथवा 'हिन्दुस्तानी' भी कहते हैं। इस हिंदी के बोलने वाले बम्बई, बड़ौदा, बरार, मध्यप्रदेश, कोचीन, कुर्ग, हैदराबाद (दक्षिण) मद्रास, मैसूर और ट्रावनकोर तक में पाए जाते हैं। यह भाषा यद्यपि फारसी अक्षरों में लिखी जाती है परंतु उत्तरी भारत की उर्दू की तरह उसमें अरबी फारसी के शब्दों की भरमार नहीं रहती। इस बोली के बोलने वालों की संख्या लगभग ६३ लाख बताई जाती है

दक्खिनी हिन्दी वर्तमान खड़ीबोली का ही एक रूप है। खड़ीबोली साहित्यिक हिन्दी के विकास में चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के लेखकों—रियासतों के नवाबों, उनके दरबारी कवियों तथा फकीरों इत्यादि—ने महत्वपूर्ण योग दिया था। इस कार्य में मुसलमानों का हाथ अधिक रहने और रचनाओं की लिपि फारसी होने के कारण इसे प्रायः उर्दू समझने की भूल होती चली आई है। वास्तव में दक्खिनी हिन्दी आधुनिक खड़ीबोली के आदि रूप का विकसित रूप है। डा० बाबूराम सक्सेना ने गम्भीर अध्ययन एवं विवेचन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ीबोली के विकास और समृद्धि में दक्षिणी रियासतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देकर उसे मुगल साम्राज्य कालीन राष्ट्रभाषा का रूप देने का प्रयत्न किया था।

प्राचीन काल में खड़ी बोली के तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। संस्कृत निष्ठ हिन्दी से यह भाषा कई बातों में भिन्न है। यह जन-साधारण की भाषा थी। हिन्दी अथवा हिन्दवी शब्द का अर्थ है—हिन्दुओं की भाषा। हिन्दवी शब्द बहुत पुराना है। शेख अशरफ (१५०३ ई०) मुल्ला वजही (१६१५ ई०) आदि प्रसिद्ध दक्खिनी विद्वानों ने इस भाषा के लिए स्पष्ट रूप से 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। इब्न निशाती, रुस्तमी आदि लेखकों ने इसे 'दक्खिनी' कहा है। शाह बुर्हानुद्दीन' जानम बीजापुरी इसे हिन्दी कहते हैं। प्रकारांतर से इन तीनों शब्दों का अभिप्राय एक ही भाषा से है। 'हिन्दवी' शब्द का प्रचार इन्शाअल्लाखाँ तक भी था। उन्होंने ऐसी कहानी कहने का प्रयत्न किया जिसमें—"हिन्दवी छुट और किसी बोली का

पुष्ट न मिले।" इंशा की इस बात से यह भी प्रमाणित होता है कि 'हिन्दवी' उस समय की जन साधारण की बोलचाल की भाषा थी। तभी इंशा इस भाषा में हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास या कहानी कहने के लिए उत्सुक थे। दूसरी बात यह कि उस समय तक यह भाषा उत्तरी भारत में साहित्य की भाषा नहीं बनी थी। उस समय इस भाषा में साहित्य लिखना दुष्कर कार्य समझा जाता था। इंशा इस भाषा के विषय में जनमत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखा पन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों ही डौल रहे और छांव किसी की न हो। वह नहीं होने का।" इंशा अपनी सफलता के विषय में इसलिए शंकित हैं कि हिन्दवी के साहित्यिक रूप 'दक्खिनी' का प्रचार उस समय उत्तर भारत में नहीं था। वहाँ उस समय यह भाषा उपेक्षणीय समझी जाती थी। यह सब कुछ होते हुए भी इस भाषा की साहित्यिक शक्ति का इससे बड़ा और सशक्त प्रमाण और क्या हो सकता है कि यह इतने अल्पकाल में ही खड़ी बोली का रूप धारण कर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा और भारत की राष्ट्रभाषा बन बैठी।

'हिन्दवी' के इस रूप का नाम दक्खिनी क्यों पड़ा? यह प्रश्न विचारणीय है। इसका किसी भी दक्खिनी आर्य या द्राविड़ भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। पारिवारिक दृष्टि से यह उत्तर भारत की आर्य भाषाओं और विशेष रूप से हिन्दी से सम्बन्धित है। इसका 'दक्खिनी' नाम पड़ने का कारण ऐतिहासिक माना जाता है। अलाउद्दीन खिलजी ने १३०२ ई० तक दक्षिण का कर्नाटक तक का प्रदेश जीतकर अपना साम्राज्य दृढ़ बना लिया था। कुछ समय बाद मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए दौलताबाद को राजधानी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु दक्षिण पर उत्तर भारत का यह अधिकार अधिक दिनों तक न रह सका। फीरोजशाह के समय में दक्षिण पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। वहाँ छोटी-छोटी सल्तनतें कायम हो गईं। इन सल्तनतों के संस्थापक प्रमुख रूप से उत्तर भारत के मुसलमान सर्दार ही रहे। इसलिए दक्षिण के उस अपरिचित भाषा वाले प्रदेश में उनका मोह उत्तर भारत की भाषा के प्रति ही अधिक रहा जिसे वे अपने साथ दक्षिण में लाये थे। ये छोटे-छोटे राज्य हिन्दी के लेखकों और कवियों को संरक्षण देते रहे। १७ वीं शताब्दी तक वहाँ इस भाषा में अच्छे साहित्य का निर्माण होता रहा। परंतु औरंगजेब ने जब पुनः दक्षिण पर अधिकार कर लिया तो ये साहित्यकार तितर-बितर हो गए। लेकिन न्यूनाधिक रूप में वहाँ साहित्य सृजन होता रहा।

हैदराबाद में निजाम शाही की स्थापना के उपरांत इस राज्य में दक्षिणी भाषा के साहित्यकारों को निरंतर आश्रय और प्रोत्साहन मिलता रहा। इस प्रकार इस भाषा का सम्बन्ध प्रमुख रूप से दक्षिणी राज्यों से रहा। इसी कारण इसे 'दक्खिनी' के नाम से पुकारा गया।

जिस समय दक्षिण में यह भाषा पनप रही थी उस समय वहाँ मराठी, तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन हो रहा था। इन समृद्ध साहित्यों की प्रतिद्वन्द्विता में दक्खिनी का साहित्य क्योंकर पनप सका? इसका कारण यह था कि इसके मूल में वहाँ के मुसलमानों का विशेष हाथ था। बहमनी, आदिलशाही, कुतुबशाही आदि सल्तनतों ने हिन्दुओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्हें उच्च पदों पर आसीन किया। मुसलमानों ने अपने अरबी फारसी आदि के साहित्य के साथ भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य को भी अवश्य देखा होगा। परंतु दक्षिणी हिन्दू इस भाषा के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन रहे क्योंकि वहाँ उनकी अपनी मातृभाषाएँ थीं। इसी से सत्रहवीं शताब्दी तक के दक्खिनी के लेखकों एवं कवियों में सब मुसलमान हैं। इसका कारण यह भी था कि हिन्दी के आदिकाल में विद्वानोंकी भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश मानी जाती थी। परंतु भाषा शास्त्रियों की धारणा है कि उस समय भी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप के साथ उसका बोलचाल का रूप भी अवश्य रहा होगा। इस बोलचाल की भाषा द्वारा उस समय अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित किये जाते होंगे। प्रसिद्ध यात्री अल्बेरुनी (१०२५ ई०) ने लिखा है कि उस समय (भारत में मुस्लिम शासन स्थापित होने से पूर्व) यहाँ एक ही भाषा के दो रूप थे—एक साहित्य की दूसरी जन-साधारण की। अल्बेरुनीका मत द्रष्टव्य है—"Further, the language is divided into a neglected Vernacular one, only in use among the Common people, and a classical one, only in use among the upper & educated classes, which is much cultivated and subject to the rules of grammatical inflection and etymology and to all the niceties of grammer of rhetoric."

Alberunis India, Dr. E. C. Sachan.

अनुमान किया जाता है कि यह बोलचाल वाली भाषा अपभ्रंश का ही सरल रूप रही होगी।

साहित्य के क्षेत्र में इस बोलचाल की भाषा को सर्व प्रथम मुसलमानों ने

अपनाया। उस समय हिंदू अपनी प्रचलित साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य रच रहे थे। विदेशियों के लिए इन भाषाओं का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि वे जनसाधारण की भाषाएँ नहीं थीं। मुसलमान साधारण बोलचाल की भाषा को अपनाना चाहते थे। भारतीय जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ीबोली को अपनाया। मुस्लिम संत और फकीर अपने धर्म का प्रचार इसी भाषा में करने लगे। डा० अब्दुल हक ने सूफी सन्तों के विषय में लिखा है कि—"इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रिवाज था और चूंकि यह उनके मुफीद मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम और तकलीन में भी इसे से काम लेते थे।" क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य के विस्तार के साथ-साथ इस खड़ी बोली (हिन्दी) की भी व्यापकता बढ़ती गई।

उत्तर भारत में इस हिन्दी के सर्व प्रथम कवि अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) माने जाते हैं। इनकी हिन्दी बोलचाल की साधारण भाषा थी जिसमें खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा का भी पुट था। खुसरो के पूर्व शेख फरीद्दुद्दीन शकरगंजी एवं खुसरो के समकालीन शेख सरफुद्दीन बू अली कलन्दर नामक सन्तों ने इस भाषा में कविताएँ लिखी थीं। कलन्दर का एक दोहा द्रष्टव्य है—

"सजन सकारे जायँगे और नैन मरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥"

इस तरह उत्तर भारत में खड़ी बोली में काव्य निर्माण १५ वीं शताब्दी तक का प्राचीन मिलता है। इसके उपरांत यह परंपरा कई शताब्दियों तक लुप्त रही। अस्तु,

डा० सक्सेना लिखते हैं कि "सचाई यह है कि हिन्दी खड़ी बोली के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय मिलते हैं वे विदेशियों की कृतियाँ हैं। इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली हिंदी को नए आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया। जब उन्होंने इसे अपनाया उस समय भारतीय परम्परा में ऊँचे दर्जे का साहित्य संस्कृत में रचा जा रहा था, पर काव्य, नाटक, कथा, कहानी आदि प्राकृतों और अपभ्रंशों में लिखे जा रहे थे। भारतीय परम्परा के अनुकूल ही इस हिन्दी में भी लोक-गीत और लोक कथाएँ रहीं होंगी जो मौखिक थीं और जिनका कोई लिखा निशान बाकी नहीं। विदेशियों की विद्याओं की भाषा यहाँ की संस्कृत के

मुकाबले की फार्मा थी और विदेशी परम्परा वाले बढ़िया मार्के की चीजें फारसी में लिखते थे पर जन-साधारण के समझने लायक सिद्धान्त और किस्से-कहानियाँ हिन्दी में ही लिख देते थे।"

यह विदेशी परम्परा खड़ी बोली को साथ लेकर चौदहवीं शताब्दी में दक्खिनी प्रदेशों में मुस्लिम फौजों, सन्तों और दरवेशों के साथ गई। दक्षिण भारत का फारस से कभी भी सीधा सम्पर्क नहीं रहा। उसका सम्बन्ध उत्तरी भारत के मुस्लिम शासकों से था। इसी से वहाँ हिन्दी खूब फली-फूली। उत्तरी भारत में मुस्लिम आक्रान्ता निरन्तर आते रहे और अपने साथ अरबी और फारसी का प्रभुत्व लाते रहे। इसी से वहाँ हिन्दी के पनपने में बाधा पड़ी। दक्षिणी प्रदेशों में फैले हुए मुसलमानों के लिए भाषा का मसलतम रूप हिन्दी ही परम्परागत सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र साधन था। इसीलिए दक्षिण की सभी सल्तनतों ने इसकी वृद्धि में योग दिया। बहमनी सल्तनत के तो दफ्तरों में हिन्दी का प्रयोग होता था। वह वहाँ 'सरकारी जबान' थी। उत्तर में हिंदी अठारहवीं शताब्दी तक कभी भी 'सरकारी जबान' नहीं रही।

दक्खिनी के पहले लेखक ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसैनी (१३१८ १४२२) हैं। आपने मीराजुल आशकीन, हिदायत नामा और रिसाला सेहवारा नामक तीन रिसाले लिखे। इनके पौत्र अब्दुला हुसैनी ने भी 'निशातुल इश्क' नामक एक ग्रन्थ लिखा। आदिलशाही और कुतुबशाही सल्तनतों ने दक्खिनी साहित्य को सदैव संरक्षण दिया। इन राज्यों के सुल्तान स्वयं भी कवि थे। इनमें मुहम्मद कुली कुतुबशाह और इब्राहीम आदिलशाह उल्लेखनीय हैं। बीदर राज्य में भी कुछ साहित्य रचा गया। शाह मीरांनजी, बुर्हानुद्दीन जानिम, इब्ननिशाती आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १६८५-८६ में औरंगजेब ने इन सल्तनतों को समाप्त कर दिया इस काल में यहाँ वली औरंगाबादी, अईफी, बहरी, वज्दी, इशरती, बेलूरी आदि अच्छे कवि हुए।

१७२३ ई० में आसफजाह दक्खिन के सूबेदार नियुक्त हुए। कुछ दिनों तक तो आसफजाही खानदान मुगलों के अधीन रहा, फिर स्वतन्त्र हो गया। वली औरंगाबादी एक बार दिल्ली गए। उनकी इस दिल्ली यात्रा का परिणाम दो प्रभावों के रूप में पड़ा। दिल्ली के साहित्यकारों ने तो फारसी को छोड़कर हिन्दी या रेखता को अपनाना शुरू किया और 'दक्खिनी' के साहित्य कारों ने 'दक्खिनी' में स्वदेशी शब्दों के स्थान पर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग कर इस भाषा के स्वरूप को स्टैन्डर्ड बनाने का प्रयत्न किया। दिल्ली

से दक्षिण का सम्पर्क बढ़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी में दिल्ली का केन्द्र टूट गया। दिल्ली के कलाकार लखनऊ और हैदराबाद चले गये। लखनऊ की नवाबी भी समाप्त होने पर शायरों का यह आश्रय भी समाप्त हो गया। "दिल्ली और लखनऊ के दरबारों में रंडियों, भाड़ों और शायरों का जमघट लगा रहता था। एक दिन वह महल ढहकर गिर पड़ा। लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गईं और अपने लिए दूर-दूर आशियाने खोजने लगीं।........ रामपुर और हैदराबाद में फिर बुलबुलें चहकने लगीं।" (डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग) इनमें से हैदराबाद कलाकारों का सुन्दर आश्रय बना। दिल्ली के हफीज दक्खिन चले गये। परंतु इन नवीन कलाकारों की कृतियों में 'दक्खिनी' की विशेताएँ गायब होने लगीं। उन पर फारसी का गहरा रंग चढ़ गया था।

अब तक दक्खिनी के सभी कलाकार मुसलमानहुए परंतु आसफजाही राज्य में कुछ हिंदुओं ने भी दक्खिनी में रचनाएँ कीं जिनमें लाला मोहनलाल 'मेहताब' और लाला लक्ष्मीनरायण 'शफीक' उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते हैदराबाद ही इस भाषा का एकमात्र पोषक रह गया। परंतु इस समय तक यह भाषा अपना स्वाभाविक रूप खोकर उर्दू का रूप धारण कर चुकी थी। अब यहाँ के सभी साहित्यकारों की भाषा खालिस उर्दू है। फिर भी दो एक कवियों ने दक्खिनी को अपनाया है। इनमें 'हलम' की ठुमरियाँ और अजमत के हिंदी छन्द अच्छे बन पड़े हैं।

दक्खिनी का क्षेत्र दक्षिण भारत का मध्यभाग और विशेष रूप से हैदराबाद रहा है। यद्यपि आज वहाँ दक्खिनी का साहित्यिक और राजभाषा का रूप नष्ट हो गया है और स्टैंडर्ड उर्दू उसका स्थान ले चुकी है फिर भी हैदराबाद के ऊंचे से ऊंचे अधिकारी अब भी बोलचाल में दक्खिनी का व्यवहार करते हैं। शैली की दृष्टि से हम दक्खिनी के सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली औरंगाबादी से पूर्व का साहित्य और उनके बाद का साहित्य। वली से पूर्व का साहित्य सरल, शुद्ध खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप है। इसमें अरबी फारसी के शब्दों का बहुत कम प्रयोग है। संस्कृत शब्दों के भी तद्भव रूप ही प्रयुक्त हुए हैं। बहुलता तद्भव और देशज शब्दों की ही है। शैली शुद्ध रूप से भारतीय परम्परा और संस्कृत से प्रभावित है। इसी साहित्य का दूसरा रूप उस समय से प्रारम्भ होता है जब वली साहब दिल्ली की यात्रा कर वापस आए और अपनी मौलिकता, स्वतंत्रता और उदारता खोकर अरबी फारसी के रंग से सराबोर हो गये। उन्होंने लौटकर

इस भाषा में विदेशी शब्द और शैली का प्रयोग आरम्भ कर दिया। धार्मिक पक्षपात के जोश में यह कार्य खूब पनपा और कालान्तर में दक्खिनी ने उर्दू का रूप धारण कर लिया।

दक्खिनी के पुराने साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। मुस्लिम लेखकों ने अपने धार्मिक ग्रंथों (जैसे मीराजुल आशकीन) में अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग किया है तथा कहानी किस्से के ग्रन्थों (जैसे 'सरबस' आदि) में देशी शब्दों का ही एकछत्र राज्य है। डा० अब्दुल हक का अनुमान है कि दक्खिनी भाषा में—"फारसी हिन्दी अल्फ़ाज़ का तनासुब एक और अढ़ाई का पड़ता है और सारी मसनवी का यही हाल है।" इसी तरह गवासी की भाषा के विषय में एक विद्वान का मत है कि—"गवासी के कलाम में हिन्दी अल्फाज ज्यादा पाये जाते हैं।" यह मत समान रूप से दक्खिनी के लगभग सभी ग्रन्थों पर लागू हो सकता है। इस भाषा के सरलतम रूप के लिए निम्नलिखित कविता द्रष्टव्य है—

"विरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या।
हुई जोगिन जो कोई पी की उसे संसार करना क्या॥
जो पीवे प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी सों।
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या॥"

(कुल्लयात वली)

भाषा की उपर्युक्त सरलता की प्रवृत्ति वली में भी मिलती है परन्तु उस पर फारसी का प्रभाव इतना गहरा पड़ता जा रहा था कि वह अपनी कविता का प्रारम्भ तो स्वाभाविक रूप से करता था परन्तु फौरन ही सतर्क होकर फारसी के दामन में जा छिपता था। उदाहरण देखिये—

"तुझ मुख की झलक देख गई जोत चन्द्र सों।
तुझ मुख प अर्क देख गई आब गहर सों॥"

इसी प्रवृत्ति ने वली को 'उर्दू का बाबा आदम' की पदवी से विभूषित किया और उसी के प्रयत्न से उनकी 'रेखता' हिन्दी से फारसी बन चली और बन संवर कर 'उर्दू' के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

दक्खिनी के ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों के रूपों में कुछ अन्तर तो इस कारण पड़ गया कि लिपि फारसी थी। इस कारण अरबी फारसी शब्द ज्यों के त्यों रह गये। दक्खिनी के प्रारम्भिक ग्रन्थों में शब्दों का रूप उच्चारण की सुगमता के अनुकूल मिलता है जैसे बक़रीद का बकरीद। अरबी फारसी के कुछ ऐसे शब्दों के रूप भी इनमें मिलते हैं जो आज उर्दू के लिखित रूप में तो प्राप्त नहीं

होते पर बोलचाल में अब भी मिल जाते हैं जैसे—मेहरवान (मेहर्वान), जागा (जगह), जाब (जवाब) जनावर (जानवर) आदि। इसके लेखक विदेशी भाषाओं के विद्वान नहीं थे इसलिए उनका अक्षर विन्यास गलत हुआ है जैसे नाजुक का नाजक। कहीं कहीं छन्दों में जरूरत के कारण भी शब्दों के रूपों में परिवर्तन कर दिया गया है। अनेक स्थानों पर विदेशी संज्ञाओं से क्रियायें बनाने की प्रवृत्ति भी मिलती है जैसे—फाम से फ़ामना = समझना। व्याकरण की दृष्टि से ये प्रयोग अशुद्ध हैं। कहीं कहीं विदेशी शब्दों को देशी के साथ मिलाकर बनाये हुए समासों के रूप भी मिलते हैं यथा गुलवाड़ी=फुलवाड़ी।

विदेशी शब्दों के उपर्युक्त प्रयोगों से यह प्रमाणित होता है कि इन लेखकों ने इन शब्दों का प्रयोग भावों को चतुरता पूर्वक प्रकट करने के लिए ही किया था। वैसे इन शब्दों के प्रति उन्हें कोई विशेष मोह नहीं था। इस भाषा में भारतीय शब्दों की ही प्रधानता थी। बहुत से शब्द तो तत्सम् रूप में जैसे के तैसे प्रयुक्त हुए हैं जैसे—अङ्ग, अम्बर, उत्तम, कुच, वस्तु, रोमावलि, सेवक, दिवाकर, संभोग, संग्राम आदि। इन तत्सम् शब्दों के रहते हुए भी प्रधानता तद्भव रूपों की है जैसे—अप्सरा=अपछरी, अछरी; अधिक=अदिक, अदिख; स्तुति=अस्तोत; उडुगन=उरगन आदि। कुछ क्रिया-शब्द जो साहित्यिक हिंदी में नहीं मिलते इस भाषा में प्रयुक्त हुये हैं। जैसे—उचाना (ऊपर उठाना), दिसाना (दिखाई देना), सपड़ना (बनना), चितरना (चित्रित करना) आदि। साथ ही कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जो उत्तर भारत की हिन्दी के न तो साहित्यिक रूप में मिलते हैं और न बोलचाल के रूप में, जैसे—अनात्रती (अनजाने), अंझू (आँसू), अड़वाट (उन्मार्ग), उभाल (छलाँग, बादल) आदि। इन शब्दों में से कुछ आय भाषा परिवार के हैं और कुछ सम्भव है द्राविड़ या मुंडा परिवार की भाषाओं से लिये गए हैं।

भाषा का स्वरूप प्रायः शब्दावली के ऊपर निर्भर करता है। हिन्दी और उर्दू का वर्तमान रूप इसका प्रमाण है। शब्दावली के अतिरिक्त व्याकरण रूपों पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित रहता है। विदेशी शब्दों को देशी व्याकरण रूप देकर उन्हें स्वदेशी बना लिया जाता है। कालाँतर में वे पूर्ण स्वदेशी से प्रतीत होने लगते हैं। दक्खिनी में यह प्रवृत्ति खूब मिलती है। इसके ग्रन्थकारों ने अनेक स्थानों पर स्वदेशी ध्वनियों को अपरिचित विदेशी ध्वनियों के स्थान पर रख दिया है जैसे बकरीद, तगादा आदि। इसी तरह बहुवचन बनाने में भी स्वदेशी प्रत्ययों को अपनाया है न कि विदेशी। फारसी संज्ञा या विशेषण लेकर उनसे क्रियायें हिन्दी के नियमों के अनुकूल बनाई हैं। कभी कभी चिर परिचित

और परम्परागत एक आम शब्द से ही पद्य का शब्द भारतीय हो गई है। 'महबूब' तथा 'माशूक' के लिए 'लालन' ऐसा ही शब्द है।

शब्दावली और व्याकरण रूपों के अतिरिक्त प्रत्येक देश में अन्य साहित्यिक परम्पराएँ भी होती हैं। किसी को मनाने या प्रसन्न करने के लिये पाव पड़ना' भारतीय मुहावरा है। इसका कई 'दक्खिनी' के ग्रन्थों में प्रयोग मिलता है। साथ ही भारतीय अलङ्कारों और पान खाने की परम्परा भी भारतीय ही है। वली के पदों में इनका खुलकर प्रयोग हुआ है जैसे—"और कान में वाला के नजिक यह बाली" तथा "करने को दिल का चूना आता पान खाकर।" परम्परा-निर्वाह के साथ प्रत्येक देश के कुछ अपने कवि सम्प्रदाय होते हैं। जैसे फारसी में गुल व बुलबुल का, भारत में कमल और भौंरे तथा चन्द्र और चकोर का। उर्दू साहित्य में इन भारतीय कवि-सम्प्रदायों का बहिष्कार है। परंतु 'दक्खिनी' में इनका बहुधा प्रयोग हुआ है। जैसे—"कँवल का दिल खिला, सीनः की दह में" तथा "अगर नै है आशिक चकोर चाँद का।"

प्राचीन कथानकों का उल्लेख और भी अधिक प्रभावशाली होता है। सीता, राम, हनुमान आदि की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख दक्खिनी ग्रन्थों में प्रायः मिल जाता है। इसी तरह भारतीय नदियों, पर्वतों आदि का वर्णन और उनसे दी हुई उपमाएँ भी इस साहित्य में मिलती हैं। वली ने उज्जैन के वर्णन में शिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन किया है। प्रियतम और प्रेयसी का भेद और वर्णन भारतीय परम्परा है। मुहम्मद वली कुतुबशाह ने अपनी प्रत्येक प्रेयसी पर कविता लिखी है। वली ने अपनी दिल्ली यात्रा से पूर्व अपनी माशूक स्त्री का वर्णन किया है। परन्तु वली के दिल्ली से लौटने पर यह क्रम बदल गया।

वली की उपर्युक्त दिल्ली यात्रा के उपरान्त दक्खिनी कवियों का माशूक फारसी शैली पर स्त्री लिंग की जगह पुल्लिंग बन गया। वली पर उत्तर भारत की दूषित फारसी परम्परा का ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि न केवल प्रेयसी का वर्णन ही प्रकृति विरुद्ध हो गया बल्कि अरबी फारसी की शब्दावली का अनुपात भी बढ़ गया। धीरे धीरे वली के बाद के दक्खिनी साहित्य की रूपरेखा उर्दू का रूप ग्रहण करती चली गई। साथ ही उस पर भारतीय परम्पराओं, कवि सम्प्रदायों, शब्दावली आदि का जो प्रभाव था वह क्रमशः क्षीण होते होते

नष्ट हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो दक्षिण पहले हिन्दी अथवा हिन्दवी का सबसे प्रबल समर्थक, प्रचारक और पोषक था उसने अपनी इस पालिता पुत्री का गला घोंट कर उसे समाप्त कर दिया और उसके अवशेषों पर उर्दू का महल खड़ा किया। अतः दक्खिनी भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में पूर्णतः भारतीय रही परन्तु कालान्तर में उसने विदेशी रूप धारण कर लिया। वली औरंगाबादी की दिल्ली यात्रा इस भाषा के लिए अत्यन्त घातक प्रमाणित हुई।

१५—देवनागरी लिपि

देवनागरी लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि के एक रूप नागरी लिपि से मानी जाती हैं। इनके रूप प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों के रूप में मिले हैं। अशोक के शाहबाजगढ़ी के और मनसेहरा नामक स्थानों के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखे गए शिलालेखों की संख्या ब्राह्मी लिपि के शिलालेखों की तुलना में बहुत कम हैं। ब्राह्मी उस समय, एक प्रकार से, राष्ट्रीय लिपि थी। खरोष्ठी शब्द का अर्थ है 'गधे के होंठ वाली'। इसका यह नाम कैसे पड़ा, इसका कोई विवेचन नहीं मिलता। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश की लिपि जिसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं थी। यह उर्दू के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा इसे आर्य लिपि न मान कर अनार्य लिपि मानते हैं। सुप्रसिद्ध लिपि विशेषज्ञ पंडित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा इसकी उत्पत्ति ईरान की प्राचीन राजकीय लिपि 'अरमइक्' से मानते हैं। उनका मत है कि जब ईरानी भारत आए तो हिन्दी भाषा के पढ़े लिखे लोगों ने इसमें कुछ परिवर्तन कर एक कामचलाऊ लिपि बनाली। इसका प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसा की तीसरी या चौथी सदी तक रहा। बाद में यह लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ यूरोपीय विद्वान, जिनमें बूलर और वेबर प्रमुख हैं, इसका सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की किसी प्राचीन लिपि से जोड़ते हैं। बूलर का कहना है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमेटिक लिपियों से लिये गये हैं और बाकी उन्हीं अक्षरों के आधार पर बना लिए गये थे। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विद्वान इसकी उत्पत्ति कीलाक्षर, फनीसी, चीनी, सामी आदि लिपियों से मानते हैं। परन्तु उन्होंने अपनी इन मान्यताओं के कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये हैं। उपरोक्त सभी लिपियों और ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त मौलिक अन्तर है। ओझा जी इसे "भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार" मानते हैं।

ईसा की चौथी शताब्दी तक इस लिपि का प्रचार लगभग समस्त उत्तर भारत में रहा था। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुन्दरता के कारण इसका

कर्ता चाहे ब्रह्मा माना गया हो और इसी कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, चाहे वह ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण ब्राह्मी कहलाई हो और ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिये सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, परन्तु यह निश्चित है कि भारत आने वाले किसी भी विदेशी यात्री ने यह नहीं कहा कि यह विदेशी लिपि है या इसका आधार विदेशी है। इसका उद्गम कहीं से हुआ हो परन्तु यह मौर्यकाल में भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। इसमें लिखे गए प्राचीनतम लेख ई० पू० पाँचवीं सदी तक के मिले हैं। अशोक के शिलालेखों की लिपि यही थी। ई० पू० ५०० से लेकर ३५० ई० तक के लेखों को सामान्यतः यही नाम दिया गया है। इसके उपरान्त इसके दो भेद हो जाते हैं--उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली का प्रचार प्रायः विन्ध्याचल के उत्तर में और दक्षिणी का उसके दक्षिण में रहा है।

उत्तरी ब्राह्मी के पाँच रूप मिलते हैं-१-गुप्तलिपि, २—कुटिल लिपि ३—नागरी लिपि ४—शारदा लिपि और ५—बंगला लिपि। चौथी शताब्दी के उपरान्त की लिपि का नाम 'गुप्त लिपि है जिसका प्रचलन गुप्तकाल में था। कुटिल लिपि इसी का विकसित रूप है। अक्षरों की कुटिल आकृति के कारण ही यह कुटिल लिपि कहलाई। कुटिल लिपि विकसित होकर नवीं शताब्दी में 'शारदा' बनी। कुटिल लिपि से ही नागरी और काश्मीर की प्राचीन शारदा लिपि का विकास हुआ। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियाँ विकसित हुई हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से, दसवीं सदी के लगभग प्राचीन बंगला लिपि का विकास हुआ। नागरीलिपि का प्रचार उत्तर में तो नवीं सदी के आसपास मिलता है, परन्तु दक्षिण में आठवीं सदी से सोलहवीं सदी तक पाया गया है। नागरी से वर्तमान कैथी, महाजनी, राजस्थानी गुजराती आदि लिपियों का विकास हुआ है। प्राचीन बंगला लिपि से वर्तमान नैपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार हमने देखा कि उत्तरी भारत की अधिकतर लिपियां नागरी लिपि की ही सन्तानें हैं इसलिये वर्तमान देवनागरी लिपि से इनका निकट का सम्बन्ध और समानता है।

ब्राह्मी की दक्षिणी शैली के अन्तर्गत पश्चिमी, मध्यवर्ती, तेलगू, कनड़ी, ग्रन्थम, कलिंग तथा तामिल लिपि का विकास हुआ। इन लिपियों का देवनागरी लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः यहां इनका विवेचन अपेक्षित नहीं है।

नागरी लिपि के उदाहरण उत्तरी भारत में दसवीं सदी के भी

पाए गये हैं। ग्यारहवीं सदी से इस लिपि की प्रभुता बराबर रही है।। दक्षिण की नागरी लिपि 'नन्दि नागरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'ग्रन्थम् लिपि' है। इस लिपि में वहां संस्कृत के ग्रन्थ अब भी लिखे जाते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि दक्षिण की अन्य लिपियाँ संस्कृत उच्चारणों को यथावत् उच्चरित करने में असमर्थ हैं। इसीलिये संस्कृत ग्रन्थों के लिये इस लिपि का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश आदि के दसवीं सदी तक के सभी शिलालेख, पत्रादि इसी लिपि में लिखे गये थे। इसके विषय में ओझाजी का मत द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि—"दसवीं शताब्दी की उत्तरी भारत की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की भांति अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में दोनों अंश मिल कर एक सिर की लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और १२ वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।.........ई० स० की १२ वीं शताब्दी से लगाकर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आ रही है।" (ओझा-भारतीय प्राचीन लिपिमाला) इस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि दसवीं सदी की नागरी लिपि का ही विकसित रूप है। पिछले सौ वर्षों से, जब से मुद्रणकला का आविष्कार हुआ है, देवनागरी लिपि के छापे के रूपों में संयुक्त व्यजनों के ऊपर नीचे के सम्मिलित रूपों (च्च, क्क, आदि) को हटा कर (च्च, क्क) आगे पीछे लिखे हुए रूपों को ही अपनाया है।

वर्तमान नागरी लिपि में अक्षर ध्वनियों के क्रम से ही लिखे जाते हैं। केवल 'इ' की मात्रा (ि) और रेफा (र्) अपवाद हैं। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की वर्णों के ऊपर लगाई जाती हैं। जिन व्यंजनों के अन्त में स्पष्ट रूप से खड़ी पाई नहीं है, जैसे (छ, ट, द आदि) उनमें संयुक्त व्यंजनों को अब भी ऊपर नीचे के, क्रम से लिखा जाता है, जैसे— ट्ट, द्द आदि। रकार के तीन रूप मिलते हैं—(्र र् ्)। ख से कभी कभी रव का भ्रम हो जाता है।

देवनागरी लिपि के समान वर्तमान नागरी अङ्कों का विकास भी ब्राह्मी अंकों से हुआ है। अङ्कों का विवेचन करते हुए ओझा जी ने लिखा है कि— "लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अङ्कों में भी अन्तर है। यह अन्तर केवल उनकी आकृति में ही नहीं किन्तु अङ्कों के लिखने की रीति में भी है।

वर्तमान समय में जैसे १ से ६ तक अङ्क और शून्य है और इन १० चिह्नों से अङ्क विद्या का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है वैसा प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार ही नहीं था और दहाइयां, सैकड़ों, हजार आदि के लिए भी अलग चिन्ह थे।" अङ्कों की इन दो प्रकार की शैलियों को विद्वानों ने 'प्राचीन शैली' और 'नवीन' शैली की संज्ञा दी है।

अङ्कों की इस 'प्राचीन शैली' का रूप सर्व प्रथम अशोक के शिलालेखों में मिलता है। बूलर का अनुमान है कि इन अङ्कों को ब्राह्मणों ने बनाया था। कुछ अन्य विद्वान ब्राह्मी लिपि के समान इन अङ्कों को भी विदेशी अंकों से प्रभावित मानते हैं। ओझा इन्हें भी भारतीय आर्यों का मौलिक आविष्कार मानते हैं। पाँचवी सदी के लगभग नवीन शैली के अङ्क जनसाधारण में प्रचलित हो चुके थे यद्यपि शिलालेख आदि में अङ्क प्राचीन शैली में ही लिखे जाते थे। इस शून्यवाली नवीन शैली की उत्पत्ति भी, ओझाजी के मतानुसार, भारत की ही उपज है। यहाँ से यह अरब गई और अरब से यूरोप पहुँची।

हमारी लिपि का नाम नागरी या देवनागरी क्यों पड़ा इसका अभी तक कोई निश्चित प्रमाण या उल्लेख नहीं मिल सका है। 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। विद्वानों का एक पक्ष इसका सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों या नागर अपभ्रंश से मानता है अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित होने के कारण अथवा नागर अपभ्रंश से उत्पन्न होने के कारण यह नागरी कहलाई। डा० बाबूराम सक्सेना इस मत को संदिग्ध मानते हैं। कुछ लोग इसका अर्थ 'नगर' से सम्बन्धित अर्थात् नगर के लोगों की लिपि लगाते हैं। दक्षिण में इसे 'नंदि नागरी' कहते हैं तो इस शब्द से 'नन्दिनगर' नामक किसी प्राचीन राजधानी का भास होता है। शाम शास्त्री का मत है कि प्राचीन काल में देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के पूर्व उनकी उपासना संकेत चिन्हों द्वारा होती थी जो त्रिकोण या चक्रों आदि में बने हुये मंत्रों के, जो 'देवनगर' कहलाते थे, मध्य में लिखे जाते थे। अतः देवनगर के आधार पर इसका नाम देवनागरी पड़ा। कह नहीं सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है। तांत्रिक युग में 'नगर लिपि' नाम प्रचलित था।

हिंदी लिपि आज संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है। इसमें संसार की लगभग सभी भाषाओं की ध्वनियों को उच्चरित कर सकने की शक्ति है। इस लिपि की विशेषता है कि उसमें जो लिखा जाता है उसका उच्चारण बिल्कुल वही किया जाता है। संसार की अब तक ज्ञात अन्य

किसी भी लिपि में यह गुण नहीं मिलता। हम अपने दैनिक जीवन में उर्दू और रोमन लिपियों की इस निर्बलता पर व्यंग्यपूर्वक हसते हैं कि इन लिपियों का कोई निश्चित नियम नहीं है क्योंकि इनमें लिखा कुछ जाता है और उसका उच्चारण कुछ और ही किया जाता है। एक ही अक्षर का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर करने से उसके उच्चारण में भी अन्तर पड़ जाता है। परन्तु देवनागरी लिपि में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक निश्चित ध्वनि के लिए एक निश्चित वर्ण का प्रयोग ही उचित माना गया है। इसीलिए इसे सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि माना गया है।

यद्यपि हिंदी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया आदि अनेक लिपियों का व्यवहार किया जाता है परन्तु देवनागरी लिपि का स्थान इनमें सर्वोच्च है। मुद्रण में तो, इस प्रदेश में, एकमात्र इसी लिपि का व्यवहार होता है। इस लिपि में जहाँ स्वर और व्यंजन की ध्वनियों के सैद्धान्तिक संकेत विद्यमान हैं वहाँ ध्वनि के आधार पर स्वर और व्यंजन का वर्गीकरण भी किया गया है। अतः इसमें स्वरों और व्यंजनों की वर्णमाला अलग-अलग है। इतना ही नहीं वरन् उच्चारण, अवयव, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है उन्हीं के प्रतीक स्वर और व्यंजन के वर्ण हैं। जैसे 'अ', 'इ', 'उ', 'आ', 'ओ' आदि के उच्चारण के लिए जैसी मुख की आकृति बनती है उसी से मिलते जुलते हुए ये वर्ण भी बने हैं। 'अ' के उच्चारण में आधा मुख खुलता है और जिह्वा मध्य में रहती है। 'आ' की मात्रा मुख के पूरे खुलने की द्योतक है 'उ' में मुख बन्द होने का स्वरूप है। 'औ' और 'ऐ' की 'ौ', 'ै' दोहरी मात्राएं मुँह के जबड़ों के दुहरे चलने की द्योतक है। एक अंग्रेज ने हिन्दी की वैज्ञानिकता को परखने के लिए उन वर्णों के र रूप के मिट्टी के खोखले रूप बनाए। उसने जब उनमें फूंक मारी तो उनमें से लगभग उन्हीं वर्णों की सी ध्वनि सुनाई दी। यह घटना इस लिपि की वैज्ञानिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

हिंदी वर्णमाला के स्वर व्यंजनों से भिन्न हैं। इनके उच्चारण में स्थानों से बिना टकराए हुए मुख की आवाज निकल जाती है पर व्यंजनों में हवा उच्चारण स्थानों को छूती हुई या उनसे रगड़ खाती हुई निकली है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वर और व्यंजन अलग अलग होने चाहिए। देवनागरी लिपि में यह भेद स्पष्ट है। वहां स्वर और व्यंजन अलग अलग हैं।

व्यंजनों में उच्चारण स्थान के अनुसार पाँच वर्ग हैं—कंठ्य, तालव्य मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य। अन्तस्थ और ऊष्म ध्वनियाँ भी अलग हैं। अनु-

नासिक ध्वनियों का विशेष विवरण है। शब्दों के साथ पड़ जाने से ध्वनियों में अन्तर पड़ जाता है, इसलिए प्रत्येक वर्ण के साथ अपना अपना अनुनासिक है। इसकी समस्त रचना लिपि ध्वनि के सिद्धांत पर आधारित है। जिस प्रकार की ध्वनि है उसी प्रकार की उसकी लिखावट है। यदि कोई पत्येक ध्वनि का ठीक उच्चारण करता या सुनता है तो उसी प्रकार वह उसे लिख भी सकता है। एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर है, अनेक नहीं। उर्दू में जैसे 'ज' ध्वनि के लिए जीम, जुआद, जोय, जे आदि तथा अंग्रेज़ी में 'सी' (C) और 'के' (K) दोनों ही 'क' के लिए प्रयुक्त होते है ऐसा हिन्दी में नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिन्दी में लगभग सभी तरह की ध्वनियाँ है। ङ, घ, ठ, घ आदि ध्वनियाँ रोमन लिपि में है ही नहीं। हिन्दी की महाप्राण ध्वनियों को उर्दू और अंग्रेजी में 'ह' (H) का योग करा के व्यक्त किया जाता है। जैसे 'ख' के लिए 'क' (K) और 'ह' (H) का योग किया जायगा। पर 'कह' और 'ख' में सैद्धान्तिक भेद है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों दो पृथक व्यंजन हैं। देवनागरी लिपि में महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग वर्ण बने हैं।

मात्राओं की दृष्टि से देवनागरी वर्णमाला पूर्ण है। इसमें ह्रस्व और दीर्घ में स्पष्ट भेद है। हिन्दी मात्राएं स्थान अवश्य अधिक घेरतीं हैं परन्तु इससे उच्चारण में किसी भी प्रकार के भ्रम या आशंका को स्थान नहीं रहता। उर्दू के जेर, जबर, पेश, व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होते। अतः वहाँ लिपि की अव्यवस्था के कारण उच्चारण और भाषा दोनों में अंतर आ जाता है। 'मंदिर' उर्दू में 'मंदर' रह जाता है। रोमन लिपि में मात्राओं का तो कोई नियम ही नहीं है। 'इ' और 'ई' दोनों के लिए एक ही वर्ण प्रयुक्त होता है 'यू' (U) का 'उ', 'अ', और 'ऊ' की मात्राओं के लिए प्रयोग होता है। 'ए' के लिए भी कोई नियम नहीं है। इन अनियमों के कारण ही हिन्दी शब्द जब उर्दू या अंग्रेजी में लिखे जाते हैं तो बड़े हास्यास्पद लगने लगते है। हिंदी का 'कुँवर बहादुर' अंग्रेजी में 'कँवर बहादुर' ही लिखा जायगा। 'रामचन्द्र' और 'पुत्र' तो उर्दू के प्रभाव के कारण पश्चिमी भारत (पंजाबी आदि) में 'रामचन्दर' और 'पुत्तर' हो गए हैं। प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक कृष्णचन्द्र को उनके साथी 'करसनचन्दर' कह कर पुकारते हैं। देवनागरी लिपि में यह शक्ति है कि उसमें सभी ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। मात्राओं में अंग्रेजी के 'ई' और 'ओ' आदि के लिए कुछ कठिनाई अवश्य हैं। अंग्रेजी के 'EGG' और 'MODEL' हिंदी में 'ऐग और मौडिल' अथवा 'माडल' रूप में उचित ध्वनि नहीं देते। डिक्शनरियों में इनके लिए पृथक मात्राओं का प्रयोग किया गया है परन्तु जन-

साधारण में उनका प्रचार नहीं है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनाने के लिए 'एँग' और 'मॉडल' के चित्र भी बनाए गए हैं परन्तु सामान्य प्रयोग के संकेत अभी नहीं आए हैं। इसी प्रकार दक्षिण की कुछ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के तीन-तीन रूप प्रयुक्त होते हैं जिनका हिंदी में अभाव है। विद्वान उक्त ध्वनियों के उच्चारण में देवनागरी लिपि को असमर्थ मानते हैं।

इस लिपि में वर्णों की संख्या काफी बड़ी है। अंग्रेजी और उर्दू की अपेक्षा इसमें वर्ण अधिक हैं फिर भी चीनी आदि भाषाओं की भाँति हजारों नहीं हैं। मात्राओं के अलग अलग संकेतों, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ के कारण भी वर्ण माला बड़ी हो गई है। जैसा ऊपर संकेत किया गया है महाप्राण ध्वनियाँ और अनुनासिक ध्वनियों के विकल्प के कारण भी अन्य लिपियों से इसमें वर्णों की संख्या अधिक हो जाती है। अतः आरम्भ में वर्णमाला सीखने में कुछ कठिनाई होती है और अभ्यास करने में नया सीखने वाला मात्राएं लगाने में गलती करता है।

देवनागरी लिपि की उपर्युक्त कमी के कारण मुद्रण और टायप राइटर के लिए इस लिपि को कुछ विद्वान उचित नहीं मानते हैं। मुद्रण में तो विशेष कठिनाई नहीं होती। केवल वर्णों की संख्या ही बढ़ जाती है। उससे कम्पोजिंग में कठिनाई होती है परन्तु अब अभ्यास द्वारा उस पर विजय प्राप्त करली गई है। इस पुस्तक की छपाई को देखकर पाठकों को इस बात का विश्वास हो जायगा। हिन्दी की इसी वर्णमाला के कारण शुद्ध लिपि के लिए बहुत बड़ा टाइपराइटर चाहिए। इसके कारण टायपिस्ट की गति भी नहीं बढ़ने पाती। वर्णों एवं मात्राओं में बहुत कमी कर देने पर ही हिंदी का टायप राइटर बन सका है। फिर भी उससे टायप करने की स्पीड और अंग्रेजी में टायप करने की स्पीड में बहुत अन्तर है जो लगभग आधे का है। हिन्दी में फ, भ, और प की छपाई में भूल होने की सम्भावना अधिक रहती है। हिन्दी अनुनासिकों की शुद्ध लिपि का प्रयोग कठिन हो गया है। गङ्गा के स्थान पर 'गंगा' होता जा रहा है।

इन्हीं कमियों को लक्ष्य कर देवनागरी लिपि में सुधार करने की आवाज उठाई जा रही है। सभी का यह मत है कि वर्णों की संख्या कम कर देनी चाहिए। ऋ, ष, ङ, ञ आदि को हटाकर क्रमशः रि, श और ण, का प्रयोग यथेष्ट है। कुछ लोगों का मत है कि महाप्राण ध्वनियों को भी हटा देना चाहिए। उसके स्थान पर 'ह' का संयोग करके काम चलाना चाहिये। महा-

प्राण ध्वनियों में 'इ' का संयोग मात्र ही नहीं वरन् इससे लिपि की वैज्ञानिकता में अन्तर पड़ेगा।

आधुनिक विद्वान देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्वीकार करते हुये भी उसके स्वरों और मात्राओं का विरोध करते हैं। वे इसे संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। काका कालेलकर इनके मुखिया हैं। उन्होंने राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति वर्धा द्वारा अपनी नवीन योजना को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न भी किया है। उनका मत है कि केवल एक 'वर्ण 'अ' में ही अन्य मात्राएं लगाईं जा सकती हैं जैसे अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि। इस प्रकार वे केवल छः वर्णों इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, की संख्या कम कर लेते हैं। शेष फिर भी वैसे ही रहते हैं। इस परिवर्तन में एक बड़ी हानि यह होगी कि हमारा समस्त प्राचीन वांगमय उसी लिपि में लिखा गया है। अतः उसमें भी परिवर्तन करना पड़ेगा। भावी पाठक प्राचीन लिपि को समझ नहीं पावेगा। काका कालेलकर की यह नवीन पद्धति 'स्वराखड़ी' कह-लाती है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, से प्रकाशित सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इसी पद्धति से छापा जा रहा है। परन्तु आजकल इस पद्धति का विरोध हो रहा है।

टाइप राइटिंग का केवल व्यापारिक क्षेत्र में परिवर्तन कर देने से कोई विशेष हानि नहीं होगी। सुविधा के लिए चिट्ठी पत्री में वर्णमाला छोटी की जा सकती है। परन्तु मुद्रण के क्षेत्र में परिवर्तन करने में उपर्युक्त हानियों की ही अधिक सम्भावना है, लाभ की कम। उसमें अप्रयुक्त ध्वनियों जैसे ऋ, ष आदि को निकाला जा सकता है। अनुनासिक के लिए बिन्दु (ं) का प्रयोग ही यथेष्ठ माना जा सकता है। देवनागरी लिपि में परिवर्तन करने का एक सामूहिक प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिये अनेक समितियों का निर्माण हो चुका है जो समय समय पर अपना निर्णय देतीं रहीं हैं। गत वर्ष (१६५३) के अन्त में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा एक देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन किया गया था।

देवनागरी लिपि में सुधार करने का आन्दोलन मुख्यतः दो कारणों से चला है। प्रथम कारण यह है कि समय, शक्ति और धन का अपव्यय किये बिना मुद्रण कला के नवीनतम साधनों का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सके। दूसरा यह कि भारतीय भाषाओं में विशेषकर अपभ्रंशों से निकली हुई उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में लिपि सम्बन्धी कुछ एकता और एकरूपता अवश्य होनी चाहिये। यह इसलिये आवश्यक है कि एक राज्य का निवासी

दूसरे राज्य की भाषा को सरलता से सीख सके और हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में लोगों के गुजराती, बंगला आदि सीखने तथा इनके प्रदेशों के लोगों के हिन्दी सीखने के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो एवं भ्रातृत्व-भावना जाग्रत हो।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान् श्री अनन्त शयनम आयंगर ने यह आशा प्रकट की है कि भविष्य में दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ भी देवनागरी लिपि के परिवर्तित एवं संशोधित रूप को स्वीकार कर लेंगी। इससे देवनागरी लिपि ही भारत की एकमात्र राष्ट्रीय लिपि बन जायगी। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन चुकी है। इसलिए अब वह केवल हिन्दी वालों की ही न रहकर सारे राष्ट्र की सम्पत्ति बन गई है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अहिन्दी भाषी लोगों की सुविधा-असुविधा और आवश्यकतानुसार, लिपि के मूल रूप की रक्षा करते हुए, उसमें आवश्यक और उचित संशोधन कर लेना चाहिए। 'देव नागरी लिपि सुधार सम्मेलन' के विद्वानों और लिपि विशेषज्ञों ने नागरी लिपि में कम से कम परिवर्तन कर और उसके मूल सौंदर्य की रक्षा करते हुए अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये। उन्होंने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि देवनागरी का रूप न बिगड़ने पावे। उसकी विशेषताएं यथापूर्व बनी रहें और उसका जो नया रूप बने वह अहिन्दी भाषियों के लिए तो सुगम हो ही, हिन्दी भाषियों के लिए नए अभ्यास की आवश्यकता न पड़े। इस सम्मेलन में 'इ' की मात्रा, अ का रूप, अङ्क ६ के नये रूप, व्यंजनों के नये स्वरूप, शिरोरेखा और चिह्न, संयुक्त अक्षर तथा एक नए अक्षर पर विचार किया गया जिसका सारांश निम्नलिखित है।

'इ' की मात्रा—सम्मेलन के सदस्यों ने केवल 'इ' की मात्रा में ही परिवर्तन स्वीकार किया है। अन्य मात्राएं ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली हैं। नवीन सुझाव के अनुसार अब छोटी 'इ' की मात्रा 'ा' होगी तथा बड़ी 'ई' की मात्रा पूर्ववतः 'ी' होगी। पाई शिरोरेखा के नीचे पूरी पूरी खींचने पर बड़ी 'ई' का बोध होगा और शिरोरेखा के नीचे जरा सी खड़ी पाई निकाल देने पर छोटी 'इ' का बोध होगा। यह अन्तर इस प्रकार है—छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' की मात्राएं क्रमशः 'ि' 'ी'। अ के अतिरिक्त स्वराक्षरों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

'अ' का रूप—'अ' के प्रचलित दो रूपों 'अ' और 'अ' में से सुविधा के दृष्टिकोण से केवल एक ही रूप 'अ' को स्वीकार किया है।

६ की नई सूरत—'नरेन्द्र देव समिति' के सुझाव को स्वीकार कर नागरी

अक्षरों में कम्बइगा टाइप के ६ को मान्यता दी गई जो प्रचलित भी है। 'ε' के रूप को उड़ा दिया गया।

व्यंजनों के नये स्वरूप—अक्षर व्यंजनों में से 'ख', 'छ', 'झ', 'ण', 'ध', 'भ', 'ल' आदि में परिवर्तन किए गये। 'ख' का र व से भ्रम न हो इस-लिए र के नीचे के वक्र को घुमाकर व के वृत्त के नीचे जोड़ देने का निर्णय हुआ जैसे—'ख'। 'छ' के रूप में इतना अन्तर हुआ कि वह शिरोरेखा के नीचे खड़ी पाई से शुरू न होकर 'छ' की गोलाई से शुरू हो और नीचे की घुण्डी की पूँछ काट दी जाय जैसे—'छ'। झ के भी दो रूप हैं—झ और झ। इनमें से 'झ' को स्वीकार किया गया। 'ण' के भी दो रूप हैं—ण और ण। इनमें 'ण' को स्वीकार किया गया। इसकी सिफारिश नरेन्द्र देव कमेटी ने भी की थी। ध और भ में शिरोरेखा के बाएँ भाग को घुमाकर अक्षर का अंश बना दिया गया जैसे ध और भ। 'ल' का मराठी रूप न माना जाकर प्राचीन रूप 'ल' ही स्वीकार किया गया। क्ष, त्र, ज्ञ में से त्र को निकाल दिया गया।

शिरोरेखा और चिह्न—शिरोरेखा को यथापूर्व स्वीकार कर लिया गया। विराम चिह्नों में अंग्रेजी के पूर्ण विराम (फुलस्टोप) को छोड़कर, अंग्रेजी में प्रयुक्त सभी सम्बोधन व विराम चिह्न अपना लिए गये। पूर्ण विराम वही स्वीकार किया गया जो प्रचलित है—(।)। 'सरिता' आदि मासिक पत्रों में प्रयुक्त पूर्ण विराम (.) का विरोध किया गया।

संयुक्त अक्षर—संयुक्ताक्षर बनाने के लिए केवल क, फ, के आधे अक्षर रखे गए हैं। शेष व्यंजनों में हलन्त (्) लगाकर या आखिरी खड़ी पाई हटा कर संयुक्त अक्षर बनाए जायंगे। इस तरह द्ध, द्व आदि के स्थान पर अब द्‌ध या द्‌व लिखा जायगा। अनुस्वार व अनुनासिक चन्द्र बिन्दु दोनों चिह्नों का प्रयोग होगा। विसर्ग रहने के कारण अंग्रेजी कोलन (:) नहीं रखा जायगा।

नया अक्षर—हिन्दी में मराठी भाषा से एक नया अक्षर लिया गया है जिसकी ध्वनि ल और ड़ के बीच की होती है। इसका रूप 'ळ' है। यह ध्वनि वेद में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिवर्तनों एवं संशोधनों के अतिरिक्त अभी विदेशी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण हिंदी वर्णमाला द्वारा नहीं किया जासकता। 'ए' और 'ओ' ध्वनियों में ह्रस्व व दीर्घ का अन्तर बताने वाली कोई ध्वनि देवनागरी लिपि में नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ध्वनियाँ हैं जिनका शुद्ध उच्चारण करने के लिए हमें अपनी लिपि में नए प्रतीक और चिन्ह बनाने पड़ेंगे। विशेषज्ञ इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

इस सम्मेलन में उपस्थित प्रायः सभी विद्वानों ने काका कालेलकर की 'स्वर-खड़ी' का घोर विरोध किया। कुछ समय पूर्व 'नरेन्द्रदेव नागरी लिपि सुधार समिति' के सामने मध्य प्रदेश के श्री कामताप्रसाद सागरीय ने एक नई लिपि का रूप उपस्थित किया था। उक्त समिति ने इस लिपि को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यह लिपि वर्तमान नागरी लिपि से इतनी भिन्न है कि उसे पहचानने में बहुत कठिनाई होती है। नरेन्द्रदेव समिति ने 'सागरीय लिपि' के केवल भ और ध को स्वीकार कर लिया था। भ और ध के वही रूप इस सम्मेलन में भी स्वीकार कर लिए गये हैं।

भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी लिपि ही रही है।

देवनागरी लिपि का परिवर्तित रूप

अ इ ई उ ऊ ए ऐ

ा ि ी ु ू े ै

ं ँ ः ो ौ ृ ॄ

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह

क्ष ज्ञ ळ ् ् ् ् ह्

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

इसलिए राष्ट्रभाषा के लिए, युग के अनुरूप सुधार कर, इसे ही इस योग्य बनाना पड़ेगा जिससे कि वह सम्पूर्ण ध्वनियों को व्यक्त कर सके। देवनागरी लिपि का परिवर्तित एवं संशोधित रूप ऊपर के चार्ट में दिया जा रहा है।

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आन्दोलन चला है तभी से भारतीय मनीषी राष्ट्रीय एकता के लिए एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता का अनुभव करते आए हैं। जो लोग यह समझते हैं कि एक लिपि का नारा अभी हाल की उपज है वे भ्रम में हैं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही एक लिपि की मांग उठाई जाती रही है। इस आन्दोलन के आरम्भ से ही बहुमत देवनागरी लिपि की उपयोगिता को स्वीकार कर उसे ही राष्ट्र-लिपि बनाने पर जोर देता आया है। इस लिपि के समर्थकों में बंगाली, मराठी और मद्रासी विद्वान भी हैं। इसे समझने के लिए लिपि आन्दोलन को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

लिपि के विषय में सबसे प्रथम महत्वपूर्ण मत कलकत्ता हाईकोर्ट के माननीय जस्टिस शारदाचरण मित्र का है। उन्होंने कलकत्ता युनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में एक लेख पढ़कर सुनाया था। उस निबन्ध में उन्होंने बड़ी सुन्दर उक्तियों और दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट किया था कि अब भारतवर्ष में एक लिपि की आवश्यकता है। उनके मतानुसार केवल देवनागरी लिपि ही एक ऐसी लिपि है जो समस्त भारत में प्रचलित की जा सकती है। मित्र महोदय तो यहाँ तक इस लिपि से प्रभावित हुए थे कि वे इसका प्रचार ब्रह्मा, चीन, जापान और लंका तक में करना चाहते थे। उन्होंने भारत भर की समस्त प्रचलित लिपियों में नागरी को ही सबसे सुगम, सुन्दर और विस्तृत माना था। वे इसे संसार की समस्त लिपियों में भी सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने अपने निबन्ध में यह भी बताया था कि भारत में मुद्रण कला का प्रचार होते ही बम्बई, काशी और कलकत्ता आदि में संस्कृत के अच्छे अच्छे ग्रन्थ देवनागरी लिपि में ही छापे गए थे।

जस्टिस महोदय के उपरोक्त निबंध के छपने के उपरान्त कलकत्ते में एक समिति की स्थापना की गई जिसका नाम 'एक लिपि विस्तार परिषद्' रखा गया। इस समिति ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की जिसमें हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू, उड़िया, तामिल इत्यादि अनेक भाषाओं के लेखादि देवनागरी लिपि में छापे जाते थे। इस

पत्रिका का उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि देवनागरी अक्षर भारत की प्रत्येक भाषा को शुद्ध रूप से व्यक्त कर देने की क्षमता रखते हैं। इस पत्रिका के लगभग ५० वर्ष उपरांत दिल्ली से आत्माराम एन्ड सन्स ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली है। इसमें भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखादि देवनागरी अक्षरों में छापे जाते हैं।

यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही रहती तो यहाँ भी यूरोप की तरह भिन्न-भिन्न भाषाओं के पढ़ने की सुविधा रहती। हमारी हिंदी और मराठी भाषाओं की लिपि तो देवनागरी है ही, बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, उड़िया व आसामी लिपियों का आधार भी देवनागरी लिपि ही है। उनमें केवल रूप का भेद है। वे मूल में एक ही हैं। सब अक्षर वही हैं जो देवनागरी लिपि में हैं, केवल उनकी बनावट में स्थान-भेद के कारण कुछ अन्तर पड़ गया है। नागरी लिपि जानने वाला इन लिपियों को सरलता से सीख सकता है। उपरोक्त लिपियों में बंगाली, आसामी और उड़िया में अधिक साम्य है। दक्षिण की भाषाओं के मूलाधार भी नागरी अक्षर ही बताए जाते हैं परन्तु उनके रूप इतने भिन्न हैं कि इन्हें समझ लेना, नागरी लिपि से परिचित व्यक्ति के लिए असम्भव है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी लिपि को लंका, ब्रह्मा और तिब्बत ने भी कुछ रूप भेद के साथ अपनाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की भाषाओं में से एक बड़ी संख्या ने नागरी लिपि या उसके किंचित रूपभेद युक्त स्वरूप को स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशा में यदि नागरी लिपि को ही सब भाषाओं की लिपि स्वीकार कर लिया जाय तो असंगत न होगा।

यहाँ हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिंदी प्रांतों में नागरी लिपि की क्या स्थिति थी और क्या है? महराष्ट्र में कुछ सीमा तक लिखने में मुड़िया अक्षरों का प्रयोग होता था परन्तु अब उसका प्रचार घट रहा है। वहाँ छापे में केवल नागरी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। पहले महाराष्ट्र की लिपि दूसरी थी परन्तु उन्होंने नागरी की शक्ति और सौंदर्य से प्रभावित होकर, बहुत दिन हुए तभी इसे स्वीकार कर लिया था। गुजराती भाषा के लिए गुजराती अक्षरों का प्रयोग होता है। ये अक्षर नागरी से बहुत मिलते जुलते हैं। इनकी उम्र १५० वर्ष से अधिक नहीं है। इनमें मात्रा चिन्ह नागरी से आये हैं। इसी से वे संस्कृत को नागरी लिपि में ही लिखते हैं। गुजराती लिपि की पुस्तकों में जब बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक या संस्कृत नाम आते हैं तो उन्हें नागरी अक्षरों में ही छापा जाता है। गुजराती अक्षर भी संस्कृत अक्षरों से मिलते हैं।

इनमें गुजरातियों को नागरी लिपि अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

बिहार में यद्यपि लगभग सभी देवनागरी अक्षर जानते हैं परन्तु अपना रोजमर्रा की लिखा पढ़ी का काम कैथी अक्षरों में करते हैं। आज वहाँ छपाई का सारा काम प्रायः नागरी अक्षरों में ही होता है परन्तु कुछ पुस्तकें कैथी लिपि में भी छपती हैं लेकिन बहुत कम। उत्तर भारत की प्रमुख लिपियों में केवल बंगला लिपि का प्रश्न बड़ा जटिल है।। बंगालियों को अपनी लिपि की प्राचीनता का गर्व है। इन दोनों लिपियों में बहुत समानता है। इसलिए बंगाली संस्कृत की पुस्तकें अपनी ही लिपि में छाप लेते हैं। परन्तु वेदादि ग्रंथ अभी तक देवनागरी में ही छपते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी व्याकरण कौमुदी चार भागों में तैयार की थी। इनमें से पहले तीन भाग बंगाली अक्षरों में छपे थे और चौथा भाग जिसमें सूत्र थे देवनागरी में छपवाया था और उन सूत्रों की व्याख्या बंगाली में। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार बंकिमबाबू ने एक लेख लिखकर अपना मत प्रकट किया था कि भारत में केवल एक ही लिपि होनी चाहिए और वह केवल देवनागरी ही हो सकती है। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व 'माडर्नरिव्यु' के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी ने 'चतुर्भाषी' नाम का एक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था जिसमें हिंदी, बंगला, मराठी और गुजराती चार भाषाओं के लेख होते और सब देवनागरी अक्षरों में छपते। जस्टिस मित्र, बंकिमबाबू, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एवं रामानंद चटर्जी जैसे बंगाली विद्वानों ने देवनागरी लिपि बनाने की अभिलाषा उसकी पूर्णता, सम्पन्नता और सौंदर्य को देखकर ही की थी

कुछ लोग रोमन या अरबी लिपि को ही भारत की राष्ट्रीय लिपि बनाना चाहते हैं। रोमन लिपि का प्रश्न उठाना तो व्यर्थ की बात है क्योंकि इससे हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक या धार्मिक जीवन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। आश्चर्य है कि सुभाषबोस जैसे देश प्रेमी न मालूम किस दृष्टिकोण से इसे अपनाने की सलाह दे रहे थे। अब प्रश्न केवल अरबी लिपि का रह जाता है। अरबी लिपि या उसके आधार पर बनी हुई लिपियों में भारत की केवल तीन भाषाएं लिखी जाती हैं—सिन्धी, पश्तो और उर्दू। सिन्ध में आज से लगभग सौ वर्ष पहले तक नागरी या मुंडी लिपि का प्रयोग होता था। अंग्रेजों के आ जाने पर यह प्रश्न उठा कि सिंधी भाषा किस लिपि में लिखी जाय। सरकारी अफसर आम जनता को मुंडी या हिंदी लिपि का प्रयोग करते देखते थे अतः वे नागरी लिपि को रखना चाहते थे। किंतु प्रमुख

आमिल लोग नागरी के स्थान पर अरबी या फारसी लिपि को अपनाना चाहते थे। उनके प्रभाव से वहाँ अरबी लिपि स्वीकार करली गई। पाकिस्तान बन जाने के उपरान्त उर्दू लिपि का प्रश्न ही नहीं उठता। पश्तो पर तो विचार करना ही व्यर्थ है। आज भारत में और वह भी देश के मध्य भाग में एक ऐसी भाषा है जिसके बोलने वाले लगभग १६ करोड़ हैं। वह नागरी लिपि में ही लिखी जाती है। अतः जनसंख्या के लिहाज से भी नागरी को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर है।

१६— भरात की राष्ट्रभाषा

भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई है। भारत में अनेक देशी-विदेशी एवं प्रान्तीय समृद्ध भाषाओं के रहते हुए हिन्दी को ही क्यों भारतीय राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया? साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से अंग्रेजी हिन्दी से अधिक समृद्ध है। संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की प्राचीन भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। अरबी, फारसी भाषाओं की गणना संसार की समृद्धिशालिनी भाषाओं में की जाती है। दक्षिण भारत की भाषाएं साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हिन्दी से न्यून नहीं ठहरतीं। उत्तर भारत की प्रान्तीय आर्य भाषाओं में से महाराष्ट्री, गुजराती और बंगाली भाषाएं साहित्यिक समृद्धि के क्षेत्र में यदि हिन्दी से श्रेष्ठ नहीं है तो कुछ सीमा तक न्यून भी नहीं है। फिर इन सब भाषाओं के रहते हुए हिन्दी को ही क्यों राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया? इस स्वीकृति के मूल में प्राचीन भारतीय राष्ट्रभाषा की वह परम्परा कार्य कर रही है जिसने हिन्दी को जन्म देकर यह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है। भारत का प्राचीन इतिहास बताता है कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा का पद सदैव मध्यदेश की भाषा को ही मिला है। धार्मिक आग्रह के कारण कुछ समय तक अन्य भाषाएं जैसे पाली आदि भारत की राष्ट्रभाषाएं बन गई थीं परन्तु उस धार्मिक आग्रह के मूल में काम करने वाले राजकीय प्रभुत्व की समाप्ति के साथ उन भाषाओं का वह गौरव भी नष्ट हो गया। कालान्तर में उनका अस्तित्व एक प्राचीन धार्मिक भाषा अथवा एक प्रांतीय विभाषा के रूप में ही सुरक्षित रहा। ऐसे समय में जब पुनः राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव की गई तो मध्यदेश की भाषा ने ही आगे बढ़कर उस आवश्यकता की पूर्ति की। ऐसा क्यों हुआ। इसके लिए हमें राष्ट्रभाषा की प्राचीन परम्परा को देखना पड़ेगा।

भारतवासियों की सभ्यता और संस्कृति सदैव से समन्वय और सामंजस्य पर आधारित रही है। इसी समन्वय और सामंजस्य की भावना ने प्राचीन भारत की भाषा समस्या को सुलझा लिया था। उन्होंने संस्कृत को सम्पूर्ण भाषाओं की प्रकृति तथा अन्य भाषाओं को उसकी 'विकृति' मान कर एक ओर तो एक को अनेक कर दिया और दूसरी ओर फिर अनेक में से एक को

प्रधानता देकर उसे चलित या सर्व साधारण में प्रचलित राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया। इस प्रक्रिया में विनाश किसी भी भाषा का नहीं हुआ परंतु विकास सब का हुआ। यदि श्रुतियों के काल को छोड़ भी दिया जाय तब भी वाल्मीकीय रामायण से यह प्रमाणित होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर रांगेय राघव तो यह मानते हैं कि "किसी समय वैदिक संस्कृत भी आमफ़हम ज़ुबान रही थी। यह जब साहित्यिक बन गई तब भाषा बदली और पहली प्राकृत का बोलबाला हुआ। उस प्राकृत के भौगोलिक भेदों से कई रूप थे। उनमें से मेरठ की बोली बढ़ी और वह सबने स्वीकार करली। वह संस्कृत कहलाती है।" डाक्टर साहब ने संस्कृत को मेरठ की बोली से विकसित साहित्यिक भाषा माना है परंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि उनके इस विकास का आधार क्या है। उनका यह मत यदि सही है तो वर्त्तमान हिन्दी का राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करना उसका वंशगत दायित्व है। पहले भी मेरठ की बोली ही राष्ट्रभाषा बनी थी और अब भी मेरठ की ही बोली (खड़ी बोली) राष्ट्रभाषा मानी गई है। भाषा के इतिहास की यह परम्परा अभूतपूर्व है।

वाल्मीकीय संस्कृत भाषा के दो रूप हैं द्विजी और मानुषी। अशोक वाटिका में जब सीता के पास हनुमान पहुँचे तो उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि वे द्विजी वाणी में बात करें या मानुषी में। यदि वे द्विजी में बात करते तो सीता उन्हें मायावी रावण मान लेती क्योंकि रावण विद्वान था। उस समय द्विजी विद्वत्वर्ग की भाषा थी। साधारण जनता उसी के बोलचाल वाले रूप में बोलती थी। यही सोचकर हनुमान ने 'मानुषी' का प्रयोग किया। हनुमान द्रविड़ थे। मानुषी उनकी अपनी भाषा नहीं थी। परंतु द्विजी और मानुषी का प्रचार उस समय दक्षिण भारत तक में था। इसी से हनुमान दोनों भाषाएं जानते थे। यह उस काल में संस्कृत की व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। आगे चलकर संस्कृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रचलित रही और मानुषी विकसित होकर पहली प्राकृत बन गई। भाषा के इन दोनों रूपों का प्रचार उस समय सम्पूर्ण आर्यावर्त में था।

पाणिनि ने संस्कृत का व्याकरण लिखकर उसे पूर्ण बना दिया। प्राकृत अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित रही। इस प्रकार बहुत समय तक संस्कृत साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में चलती रही और प्राकृत सामान्य की राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होती रही। सम्पूर्ण भारत में प्राचीन काल में सुदूर स्थित प्रदेशों से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए संस्कृत का प्रयोग होता रहा।

इसका प्रमाण सुदूरवर्ती भाषाओं पर पड़ा हुआ संस्कृत का प्रभाव है।

गौतम बुद्ध ने या महावीर स्वामी ने किसी नवीन भाषा का निर्माण नहीं किया था। संस्कृत का शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एक रूप हो गया था पर उसका प्राकृत रूप सदैव परिवर्तनशील रहा। इसी परिवर्तनशीलता के कारण एक ही भाषा के देश काल के भेद से अनेक रूप हो गये जो 'प्राकृत' कहलाए। यह भाषा का 'मानुषी' या जन-साधारण का रूप था। गौतमबुद्ध ने अपने सद्धर्म का प्रचार करने के लिए उसी 'मानुषी' रूप को अपनाया। इस धर्म के प्रचार से भाषा के द्विजी रूप 'संस्कृत' का प्रचार कम हो चला। जैनियों ने पहले तो अर्द्धमागधी को अपनाया किन्तु कालान्तर में उन्हें भी अपने धर्म को व्यापकता देने के लिए संस्कृत को अपनाना पड़ा और उनकी भाषा 'जैन-संस्कृत' कहलाई। इसका कारण यह था कि अर्द्धमागधी एक प्रांत विशेष की भाषा थी। सम्पूर्ण देश में उसका समझा जाना असम्भव था। इसीलिए जैनियों को संस्कृत अपनानी पड़ी।

बौद्धों ने मागधी को अपनाया जिसे कहीं-कहीं पाली भी कहा गया है। परंतु मागधी भाषा पाली से बहुत भिन्न थी। इसी कारण बौद्ध ग्रन्थों में मागधी को तो मानुषी भाषा कहा गया है और पाली को देवगण तथा बुद्ध-गण की भाषा। बौद्धों ने प्रचलित भाषा को क्यों अपनाया और उसका रूप क्या था, इस विषय में श्री चन्द्रवली पांडेय का मत द्रष्टव्य है—"जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हुई तो उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में देश की राष्ट्रभाषा थी। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिए सम्भव न था कि वह द्विजों की भाषा थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिए असम्भव था कि वह प्रान्तीय तथा अति सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को ग्रहण किया जाय और उसी में 'बुद्ध-वचन' का संग्रह भी कर दिया जाय।" (भाषा का प्रश्न-पांडेय) परन्तु कालांतर में धर्म के सूक्ष्म तत्वों के विवेचनार्थ बौद्धों को भी संस्कृत अपनानी पड़ी। जैनों ने भी इसे इसी कारण अपना लिया था। इस प्रकार संस्कृत पुनः राष्ट्र-भाषा बन गई।

बौद्धों ने अपनी भाषा को देवगण की भाषा या देववाणी भी कहा है। देववाणी को 'ब्राह्मी' भी कहा गया है। वह सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त (उत्तर भारत) की भाषा थी इसी से उसे ब्राह्मी कहा गया। इस भाषाका दूसरा नाम 'भारती' भी है। इससे सिद्ध होता है कि—"भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती

और देववाणी इसीलिए पड़ा कि वह भारत की संतानों यानी भारतियों की भाषा तथा सरस्वती और दृढ्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी।"

प्राकृतों के प्रभुत्व के साथ कुछ समय तक महाराष्ट्री भाषा का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु यह जनसाधारण की भाषा न होकर काव्य की प्रमुख भाषा रही। विद्वानों ने महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को माना है। शौरसेनी संस्कृत का विकसित मानुषी भाषा का रूप था।

प्राकृतों के उपरान्त अपभ्रंशों का युग आया। विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत को अन्य प्राकृतों की 'प्रकृति' कहा है। अपने समय में वही भारत की जन-साधारण की राष्ट्र भाषा थी। इसी शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश का विकास हुआ। आगे चलकर अपनी परम्परागत समृद्धि के कारण शौरसेनी अप-भ्रंश भारत की राष्ट्रभाषा बनी। उस समय शूरसेन प्रदेश भारतीय राज्यशक्ति का केन्द्र था। राज्य शक्ति का सहयोग पाकर यह आगे बढ़ी। राज्याश्रय पाकर वह देश-देशान्तरों में फैलने लगी। मुसलमानों के आने के समय तक यह भारत की राष्ट्र भाषा थी। यही अपभ्रंश आगे चल कर हिन्दी के रूप में विकसित हुई।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में ब्रज और अवधी प्रधान काव्य भाषाएँ बनी। परन्तु सुदूर प्रदेशों की जनता में पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए मेरठ प्रदेश की बोली खड़ी बोली का व्यवहार होता रहा जो खड़ी बोली के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। काव्य भाषाएँ बहुत समय तक बदली रहीं परन्तु साधारण व्यवहार खड़ी बोली में ही होता रहा। राजकार्य का संचालन इसी बोली द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा। दक्षिण में तो शासक वर्ग में इसी का प्राधान्य था। उन्नीसवीं सदी में जब विशृङ्खलित भारत को पुनः एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ तो ऐसे आड़े समय में खड़ी बोली ने ही सामने आकर हमारी सहायता की। तूफान की तेजी से उसका विकास हुआ और बहुत थोड़े समय में ही वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एकमात्र भाषा बन बैठी। उसके इस अप्रत्याशित विकास में उसकी उस प्राणशक्ति की कहानी छिपी हुई है जिसे वह युग-युगान्तरों से संचित करती आ रही थी। यदि खड़ी बोली में वह परम्प-रागत शक्ति न होती तो वह कदापि भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती थी। संस्कृत भी मेरठ प्रदेश की भाषा थी और खड़ी बोली भी वहीं की है। इस प्रकार खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना कर भारतीय जनता ने इति-हास की पुनरावृत्ति की है।

भारतीय राष्ट्रभाषा की परम्परा का विकास दिखाते हुए हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदी भारत की परम्परागत राष्ट्रभाषा की आधुनिक कड़ी है। है। इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए। इस विषय में विद्वानों का मत है आज भारत की राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रेमचन्द की हिंदुस्तानी का ही हो सकता है। पाकिस्तान बन जाने से उर्दू का प्रश्न कुछ काल के लिये समाप्त सा हो गया था परंतु गत दो एक वर्षों से कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ (सम्प्रदायवादी) पुनः उर्दू के प्रश्न को साम्प्रदायिक स्तर पर उभार रही हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि भारत में उर्दू का जो विशाल साहित्य रचा गया है, उसका क्या होगा, यदि हम उर्दू का पूर्ण बहिष्कार कर दें तो। उर्दू का बहिष्कार का प्रश्न संकीर्ण सम्प्रदायवाद और हिंदी उर्दू की परम्परा और विकास को ठीक तरह से न समझने का परिणाम है। वस्तुतः हिंदी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नहीं है वरन् एक ही भाषा (हिन्दी) की दो शैलियाँ हैं जिन्हें सम्प्रदायवादियों ने धार्मिक रंग देकर एक दूसरे से प्रथक करने का प्रयत्न किया है। इस प्रथकीकरण के मूल में विदेशी अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ और राजनीतिक उद्देश्य रहा है। १९ वीं सदी से पूर्व हिंदी उर्दू में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। यह भेद की खाई अँग्रेजों ने चौड़ी की। परन्तु अब कि फूट डालने वाले अंग्रेज चले गये हैं तो हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि इन दो सगी बहिनों के मनमुटाव को दूर कर उन्हें पुनः एक कर दें।

उर्दू को अपना लेने से हिंदी को एक समृद्ध साहित्य की निधि मिल जायगी। इसके लिये डाक्टर रांगेय राघव का सुझाव निम्नलिखित है—"उर्दू का पूर्ण इतिहास हिंदी साहित्य में ले लिया जाय। उर्दू की मँजाहट, नफासत, चुभन, हिन्दी साहित्य के गौरव का विषय बन जायेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जाँयगे। आपस की फूट न रहेगी। और सबसे बड़ी बात होगी कि तब अपने आप नई भाषा का जन्म होगा।" (भाषा का प्रश्न—रांगेय राघव) इस मिलन का परिणाम यह होगा कि भाषा के विकास का रास्ता खुल जायगा। फिर काका कालेलकर आदि के समान एक नवीन भाषा की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस सरकार की तुष्टीकरण की नीति है। वह अब भी मुसलमानों को (साम्प्रदायवादी मुसलमानों को) खुश रखने के लिए उर्दू और हिंदी को दो प्रथक भाषाओं के रूप में देखती है। भाषा के प्रश्न को लेकर आज भारतीय जनता के साथ कांग्रेस सरकार ने जो सबसे बड़ा मजाक किया है, वह है मौलाना अबुलकलाम आजाद

को भारत का शिक्षामंत्री बनाना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौलाना साहब एक सज्जन व्यक्ति हैं। परन्तु किसी व्यक्ति की सज्जनता ही तो उसे शिक्षा मंत्री के महत्वपूर्ण पद पर आसीन कराने के लिए यथेष्ठ नहीं है। हमारा शिक्षा मंत्री ऐसा हो जिसे देश की प्राचीन परम्परा, इतिहास, संस्कृति के क्रमिक विकास का ज्ञान हो। साथ ही वह देश की प्रधान भाषाएँ भी जानता हो। शिक्षा मंत्री के लिये शिक्षा विज्ञान का भी ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे मौलाना अरबी फारसी के विद्वान हैं परन्तु उनमें उपर्युक्त वर्णित ज्ञान का पूर्ण अभाव है। उनका ज्ञान अरबी और फारसी भाषा की परम्परा, इतिहास और संस्कृति तक ही सीमित है। वे राष्ट्रभाषा हिंदी को अटक अटककर बोल लेते हैं। अंग्रेजी का उनका ज्ञान भी कुछ ऐसा ही है। ऐसी दशा में घूम फिर कर उनका ध्यान अरबी फारसी और उर्दू की तरफ चला जाता है। हिंदी के विषय में उनकी अनभिज्ञता ने उन्हें हिंदी के प्रति उदासीन बना रखा है। हमारा शिक्षा मंत्री ही अगर राष्ट्रभाषा के प्रति उदासीनता दिखाएगा तो उसके पद का महत्व व्यर्थ है। मौलाना साहब की उर्दू पक्षपातिनी नीति से सम्पूर्ण हिंदी संसार क्षुब्ध हो उठा है। उर्दू कलाकारों, उर्दू संस्थाओं आदि को सरकारी सहायता मुक्त हस्त होकर प्रदान की जा रही है और हिंदी वाले ऐसे देखते रह जाते हैं जैसे वे सौतेले पुत्र हों।

हिंदी के प्रति इस उपेक्षापूर्ण नीति के लिये अकेले मौलना ही जिम्मेदार नहीं है अपितु हमारे नेहरू इत्यादि वे नेता भी हैं जो सोचते अँग्रेजी में है और बोलते टूटी फूटी हिन्दी में हैं। जब तक बागडोर इन अँग्रेजीदाँ नेताओं के हाथ में रहेगी तब तक हिंदी को अपना पद पूरी तरह से हासिल करने के लिये संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हमारा विश्वास केवल हिंदी की अप्रतिम शक्ति को देखकर ही डगमगाता नहीं है। सदियों से भयंकर सम्प्रदायवादी शासक भी हिंदी का विकास रोकने में असमर्थ रहे हैं तो पूँजीवादी व्यवस्था के इन ध्वंसावशेषों में इतनी शक्ति कहाँ कि वे उसकी गति को रोक सकें। हिंदी के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व हिंदी उर्दू के लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न पर निर्भर कर रहा है। यदि ये दोनों मिलकर एक हो जायं तो हमारा धार्मिक मतभेद भी नष्ट हो जायगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम हिंदी उर्दू को दो भिन्न भाषाएँ न मान कर एक भाषा मानें। डाक्टर रांगेय राघव के शब्दों में यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब—"समस्त उर्दू साहित्य को, अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिंदी साहित्य में जोड़ कर हिन्दी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखा जाय।" वे इसके लिये राजनीतिक एवं

सामाजिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"भाषा का प्रश्न मुहब्बत का सवाल नहीं है। एक दूसरे की खातिर तवज्जह नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जन वाद उनका आधार है। आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तर्भुक्ति जनताओं को समीप लाती है। यह सम्प्रदायिकता, जातीयता, इस समाज की विषमता के कारण है। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसीलिये सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्ध रखता है। शोषणहीन समाज में ही जनताएं एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।" उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि शोषणहीन वर्गयुक्त समाज की स्थापना होने पर यह भाषा भेद स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

इस वर्ग संघर्ष का अंत करने की शक्ति भारतीय भाषाओं में से हिंदी में ही सबसे अधिक है। उसका विकास जनवाद के बल पर हुआ है। उसने सदैव धार्मिक संकीर्णता और पुरोहित वर्ग का घोर विरोध किया है। कबीर, तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। हिन्दी जनता की भाषा है। उसके पास एक समृद्ध विरासत है। इस कार्य को केवल हिंदी ही कर सकती है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से भाषावार प्रान्तों का प्रश्न राजनीतिक उद्देश्य को लेकर आगे आया है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्रभाषा का कोई अहित नहीं हो सकता। प्रान्तीय भाषाएं फलती फूलती रहेंगी और हिंदी उन्हें एक कड़ी में बाँधने का कार्य करती रहेगी। प्रान्तीय भाषाएँ ही नहीं वरन् बोलियों में भी साहित्य का निर्माण होना चाहिये। हिन्दी दूसरे प्रान्तों पर लादी नहीं जा रही। उसका उद्देश्य हिंदी साम्राज्य वाद की स्थापना का कभी भी नहीं रहा और न है। 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय का हौवा संकीर्ण प्रान्तीयतावादियों ने उठा रखा है। इसमें कोई तथ्य नहीं। हिंदी सबकी सेवा करना चाहती है। वह दूसरी भाषाओं से विनिमय में भी संकोच नहीं करती। वह एक ऐसी अजस्र प्रवाहिनी स्रोतस्विनी के समान है जिसमें दूसरी भाषाओं रूपी नदी का संयोग अनिवार्य है। जिस दिन वह एक कृत्रिम नहर का रूप धारण कर लेगी उसी दिन उसका राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद समाप्त हो जायगा।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा के स्वरूप के साथ ही उसका अपना इलाका है, जिसका भूत और वर्तमान अत्यन्त समृद्ध और उज्ज्वल है। हिंदी भाषी क्षेत्र की इसी समृद्धि से मुग्ध होकर हिंदी के वर्तमान प्रखर आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी भाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा

इलाका है। संख्या के लिहाज़ से हिन्दुस्तानी जाति दुनियाँ की तीन चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज़ खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुंजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिंदुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिंद प्रदेश एक होकर नये जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मज़दूरों की एकता जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिंदी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिए।" (प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें डा० रामविलास शर्मा) उपर्युक्त वक्तव्य में 'जातीय परम्पराओं' से डाक्टर शर्मा का उद्देश्य हिंद, मुसलमान दो जातियों से न होकर केवल एक भारतीय जाति से ही है।

हिन्दी साहित्य के विविध वाद

१७—आदर्शवाद और यथार्थवाद

इतिहास किसी देश की सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है। साहित्य में उन्हीं का विस्तृत चित्रण मिलता है। यद्यपि साहित्य में कल्पना का आधिक्य होता है और इतिहास में वास्तविकता का फिर भी समाज का जितना यथार्थ चित्रण साहित्य में मिलता है उतना इतिहास में नहीं। वेदकाल के विषय में इतिहास मूक है परन्तु वैदिक साहित्य उस समय के समाज का वास्तविक रूप उपस्थित कर देता है। साहित्य से ही हम तुलसीदास के समय की उस घोर सामाजिक अवस्था का आभास पाते हैं जिसके विषय में अकबर का इतिहास लिखने वालों ने कहीं संकेत भी नहीं किया है। रावण, युधिष्ठिर, नल, शकुन्तला, दुष्यन्त को सामाजिक नियमों का उलङ्घन कर पर-नारी-हरण, द्यूत क्रिया एवं गांधर्व-विवाह आदि करने पर कितने कष्ट उठाने पड़े। इसका वास्तविक विवरण केवल साहित्य देता है। इस भाँति साहित्य का क्षेत्र दो प्रकार का हुआ। प्रथम—सामाजिक दशा का तत्कालीन चित्रण, दूसरा—उस काल के व्यक्ति, उनके कर्म तथा कर्मों के फल का चित्रण। यह निश्चय है कि दोनों क्षेत्रों में वह समाज का ही चित्र खींचता है—पहले उसका चित्र अङ्कित करता है और फिर उसका मूल्य निर्धारण करता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के चित्रणों में भी कलाकार या कवि दो मार्ग अपनाता है। एक में वह संसार को जैसे का तैसा चित्रित करता है और दूसरे में उस संसार को मनोनुकूल बनाने के लिए अपनी कल्पना का प्रयोग कर परिवर्तित कर देता है। इसी आधार पर साहित्य में दो वादों की प्रतिष्ठा हुई। इसमें यथावत चित्रण करने वाले को यथार्थवादी और मनोनुकूल परिवर्तन करने वाले को आदर्शवादी कहा जाता है। यदि समाज का चित्रण तथा कर्मों का मूल्यांकन ज्यों का त्यों—कहीं अच्छा, कहीं बुरा—कर भी दिया जाय तो समाज का यथार्थतः काम चलाऊ रूप हमारे साहित्य में अवश्य रह सकता है। परन्तु 'यथार्थवादी' साहित्यकार इतने में ही सन्तुष्ट नहीं। वह सत् और असत्

दोनों को स्वेच्छानुसार महत्त्व देने भर को अपना उद्देश्य नहीं मानता। यथार्थवादी यह कहता है कि समाज में जो कुछ बुरा है, घृणित है, हीन है, असत है उसी को साहित्य में स्थान मिलना चाहिए क्योंकि अच्छा सुन्दर, उत्तम तथा सत तो केवल कल्पना लोक की चीजें हैं। वास्तविक जीवन में उनके दर्शन नहीं होते। वह यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं, उन्हीं की सदा जीत होती है। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को दबाकर ही बड़ा हुआ है। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। शक्तिहीन होने के कारण जिन कर्मों को हम छिपाकर करना चाहते हैं वे पाप कहलाते हैं परन्तु यदि समाज का एक बड़ा भाग उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म मान लिया जाता है। इसलिए साहित्य में केवल यथार्थ असत्, घृणित और कुत्सित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। क्योंकि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दरम् का ही बोलबाला है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का नहीं। वह इसी प्रकार के साहित्य को ही कला का चरम-उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। यह यथार्थवाद के प्रति एक दृष्टिकोण है जो अर्द्ध-सत्य है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने पड़ता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रह कर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।......वह संसार की कलुष—कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिए उत्सुक रहता है।.....यदि वर्तमान दुखमय है तो वह उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।" वह ऐसे चरित्र तथा परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय हैं। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण लोक में देखी और सुनी जाय।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक पकार के

व्यक्ति की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर ही रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जायगा। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी कलाकार वह है, जो गुण अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर मुग्ध हो जाती है और उसके लिए अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार है, उसका हृदय अनुराग से ओतप्रोत होता है, फिर जो हृदय अनुराग से तरंगित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी अपने अनुराग के आधार विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थवाद मध्यम मार्ग का अनुगामी है जहां से सत और असत् दोनों के दर्शन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी साहित्यकार आलोचक अधिक होता है, कवि कम। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किंतु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्म-विस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती है। वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवाद में साधना की विशिष्टता और यथार्थवाद में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है, जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्व साधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टि गोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएं जीवन की ही विशेषताएं हैं। आदर्शवाद व्यक्ति विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद

(यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

कुछ लोगों ने यथार्थवाद का बड़ा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाया है। उनका मत है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जैसी बातें उठती हैं, बिना समाज के कल्याण की चिंता किए उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया जाय। परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है। यदि साहित्य में ऐसे भावों का व्यक्तीकरण होता रहेगा तो नैतिकता और अनैतिकता के बंधन स्वीकार नहीं होंगे। उससे समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न होने का भय है। सामाजिक सन्तोष की तुलना में हमारा व्यक्तिगत सन्तोष कोई महत्व नहीं रखता। आज यथार्थवाद के नाम पर अश्लीलता का जो भयङ्कर प्रदर्शन हो रहा है वह समाज के लिए घातक है। यदि लेखक को वीभत्स शृङ्गार का चित्रण करने में आनन्द आता है तो इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सभी पाठक उसमें उतना ही रस लेंगे। अनेक साहित्यकारों ने अपने साहित्य में अपनी रुद्ध एवं अतृप्त-काम-वासना का प्रदर्शन करने में सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों की इतिश्री कर दी है। स्पष्ट और खुला हुआ रति-वर्णन करने में उन्हें अमित आनन्द प्राप्त हुआ है। परन्तु क्या ऐसा साहित्य पाठकों के मस्तिष्क पर, जिनमें अपरिपक्व बुद्धि वाले पाठक भी होते हैं, शुभ प्रभाव डाल सकता है? अतः यथार्थवाद का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हम जो कुछ जिस रूप में देखते हैं उसका वही नग्न रूप चित्रित कर दें। हम अपने जीवन में अनेक ऐसे कार्य करते हैं जो पूर्ण स्वाभाविक हैं परंतु जिन्हें हम दूसरों के सम्मुख नहीं कर सकते। अस्तु,

इन दोनों वादों के विषय में हमारे विद्वानों के विभिन्न मत हैं। नन्द-दुलारे वाजपेयी का कथन है कि—"ये दोनों साहित्य की चित्रण की शैली के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्श-वाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" इस दृष्टिकोण से तो कोई भी रचयिता दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अत्यन्त उलझा हुआ, भ्रमपूर्ण और धोखा देने वाला है। प्रेमचन्द कोरे यथार्थवाद का विरोध करते थे। वे उसी यथार्थवाद को ग्रहणीय मानते थे जो आदर्शोन्मुख हो। इसी कारण आलोचकों ने उन्हें 'आदर्शोन्मुख

यथार्थवादी' कहा है। उनका कहना था कि—"यथार्थवाद हमको निराशा-वादी बना देता है।" यह कथन ठीक भी है। केवल यथार्थ के चित्रण से हम यही समझने लगते हैं कि यदि संसार इतना बुरा है तो इसमें रहना व्यर्थ है। इसलिए यथार्थ के साथ आदर्श के प्रति कलात्मक संकेत अवश्य होना चाहिए। कम से कम हमें यह तो मालूम हो कि क्या करने से हम संसार की वर्तमान दशा को बदल सकेंगे। आज प्रगतिवाद, जो यथार्थवाद का ही दूसरा रूप सा माना जाता है, हमें एक ऐसे संसार के निर्माण की प्रेरणा दे रहा है जो सब प्रकार से सम्पन्न और सुख- दायक होगा। परन्तु प्रगतिवादी कल्पना स्वर्ग की कल्पना नहीं है। यह वास्तविकता पर आधारित है। अतः आदर्श का समन्वय आवश्यक है। प्रसाद 'जीवन की अभिव्यक्ति" को यथार्थवाद और "अभावों की पूर्ति" को आदर्शवाद कहते थे। उनका 'कङ्काल' यथार्थ-का उदाहरण है और 'तितली आदर्शवाद का।

"आदर्शवाद के अनेक गुण हैं जिनमें चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्य-वस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। संसार के सम्पूर्ण देशों का साहित्य प्रमाण है। प्राचीन काल में यूनान, रोम, फारस, भारतीय साहित्य में वीर भावों का प्राधान्य था। यही वीरता हमारा आदर्श थी। सम्पूर्ण प्राचीन महाकाव्यों में यही आदर्श मिलता है। महाभारत और रामचरित मानस में अनेक आदर्शों का समन्वय है। इन आदर्शों से जनता को प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति राम बनना चाहता है और प्रत्येक नारी सीता। इतना सब कुछ होते हुए भी कभी कभी आदर्शों को बलपूर्वक उपदेश के रूप में हमारे ऊपर थोपा जाता है। कहने वाला या लिखने वाला यह समझता है कि सम्पूर्ण बुद्धि का ठेका लेकर केवल मैं ही आया हूँ अतः बाकी सबको मेरी बात माननी ही चाहिए। ऐसे व्यक्ति में धार्मिक संकीर्णता, दम्भ,अहंकार, उपदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान रूप से पाई जाती है। वह कहता है कि मैं कहता हूँ इसलिए तुम्हें मेरे कहने के अनुसार रहना चाहिए। उसके वाक्य दूसरों को आदर्श मानने चाहिये। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति का साहित्य हमारे वास्तविक जीवन से पूर्णतः पृथक और कल्पित होता है। उसे हम आदर्श रूप में कभी भी ग्रहण नहीं कर सकते। यदि हम उसकी मानसिक गुलामी स्वीकार करलें तो हमारा यह जीवन निष्क्रिय होकर व्यर्थ हो जायगा। अतः ऐसे आदर्शवाद को दूर से ही हाथ जोड़ देने में भलाई है। हमारे लिए वही आदर्शवाद ग्राह्य हो सकता है जिसकी नींव

यथार्थ पर खड़ी होगी, अन्यथा नहीं।

यथार्थवाद के भी अपने गुण दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी पूर्ति के लिए नग्न चित्रण का ही आश्रय लिया जाय। उसमें थोड़ी बहुत कल्पना का पुट आवश्यक है। कल्पना के अभाव में यह नीरस, अश्लील और अशान्ति का पोषक होकर पूर्णता अथवा औचित्य का विरोध करने लगेगा। यथार्थ में सत्य का स्वरूप अवश्य रहता है, परन्तु कटु सत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। यथार्थवाद से हमें केवल वस्तुस्थिति की वास्तविक दशा का ज्यों का त्यों ज्ञान होता है, न कुछ अधिक, न कुछ कम। इसमें जीवन का प्रत्यक्ष सत्य होता है। समाज की आर्थिक विषमता, शोषकों के अत्याचार, दासता, करुणा, क्षोभ-विक्षोभ सबका प्रभावक संशोधक चित्र होता है, जैसे—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।"

संक्षेप में यथार्थवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं—

गुण—१—जीवन के प्रति यथार्थ, स्वाभाविक एवं वास्तविक दृष्टिकोण २—समाज की व्यवस्था की शक्ति शालिनी प्रतिक्रिया, ३—वर्णन में वस्तुओं की यथार्थता पर अधिक बल एवं स्पष्टता, ४—आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न।

दोष—१—यथार्थवाद का दुष्प्रयोग, २—जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण, ३—गन्दे से गन्दे समाज द्वारा निषिद्ध घोषित विषयों का अनुराग पूर्वक चित्रण, ४—अर्थ गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव।

आदर्शवाद के भी अपने गुण दोष हैं। आदर्शवाद की संक्षिप्ततम व्याख्या करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि—"आदर्शवाद आदिकाल से सामाजिक जीवन की मान्यताओं के निर्धारित स्वरूप का समावेश करा के उस पर दूसरों के चलने के लिए मार्ग प्रस्तुत करता है। आदर्शवादी पहले से ही एक निश्चित रेखा को अपनाकर चलता है और यदि उसमें सामयिक कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं तो उनसे संघर्ष करने की अपेक्षा वह आत्म समर्पण कर देता है क्योंकि उसका ज्ञान दूसरों के जीवन पर अवलम्बित है। आदर्शवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं—

गुण—१—भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव, २—सामन्जस्य,

सुव्यवस्था, पूर्णता की ओर संकेत, ३—मार्गदर्शक, ४—जीवनोपयोगी सिद्धान्त का प्रतिपादन, ५—दृढ़ता की देन।

दोष—१—पुरानी परिपाटी का अनुसरण, २—वर्तमान जीवन से संबंध विच्छेद, ३—अस्वाभाविकता से परिपूर्ण, ४—धार्मिक संकीर्णता का समावेश ५—स्वतंत्रता की बद्धता।

उपर्युक्त गुण, दोषों एवं विशेषताओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य की पूर्णता के लिए इन दोनों वादों का सन्तुलित समन्वय अत्यंत आवश्यक है। एक ही साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है। किसी भी सफल कलाकार को दोनों ही वादों को लेकर चलना आवश्यक है क्योंकि साहित्य यदि कोरे आदर्शवाद को लेकर चलता है तो लोक का उस पर विश्वास नहीं जमता, वह केवल स्वप्नलोक या स्वर्ग की बात हो जाती है, मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता अतः उसको छोड़ बैठता है। इसी प्रकार यदि कोई साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है, तो मनुष्य के संकल्प और उन्नति की प्रवृत्ति तथा सद्भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को सन्तोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का समाधान भी नहीं होता अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यक यही है साहित्य आदर्श और यथार्थ दोनों ही को अपना कर चले। उसका भवन यथार्थ की नींव पर खड़ा हो, पर उसके विकास, प्रस्तार और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य ही सर्व जन सुलभ, सर्वमान्य और सर्वहितकारी हो सकता है।

१८—प्रगतिवाद

छायावाद का व्यष्टिगत दृष्टिकोण उसके ह्रास एवं पतन का प्रधान कारण था। महादेवी वर्मा के शब्दों में वह 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा।' प्रगतिवाद इसी व्यष्टिगत भावना की अवहेलना कर समष्टिगत स्वरूप को लेकर आगे बढ़ा। जिस समय छायावाद अपने व्यष्टि की साधना में तन्मय, जगत की वास्तविकता की ओर से आँखें बन्दकर आत्मविभोर होकर, आगे बढ़ा जा रहा था उसी समय जगत की नग्न वास्तविकता 'रोटी का राग' और 'क्रान्ति की आग' लिए प्रगतिवाद आगे आया और उसने झकझोर कर साहित्यकार को एक नवीन समस्या, एक नवीन चेतना का आलोक दिखाया। उसने छायावादी काल्पनिक सूक्ष्म भावनाओं का विरोध कर उसे स्थूल जगत की कठोर वास्तविकताओं के सम्मुख ला खड़ा किया। परन्तु क्या प्रगतिवाद की यह चेतना सर्वथा एक नवीन देन थी या किसी परम्परा का विकसित रूप थी ?

'प्रगति' का साधारण अर्थ 'आगे बढ़ना' या 'उन्नति करना' है। इस दृष्टि से प्रत्येक युग के साहित्य ने किसी न किसी रूप में प्रगति अवश्य की है। जिस साहित्य का सम्बन्ध राजदरबार से जितना कम रहा है वह उतना ही अधिक प्रगतिशील है। हमारा वीरगाथाकाल का साहित्य राज-दरबारों और राज-प्रशस्तियों का साहित्य है। इसी कारण उसमें प्रतिक्रियावादी ऐसे तत्वों का प्राधान्य है जो जीवन में सत् प्रेरणा देने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। रीतिकालीन साहित्य भी ऐसा ही है। प्रथम में युद्ध, हत्या, लूटमार और थोथे शौर्य का प्रदर्शन है। दूसरे में जीवन रहित अश्लीलता एवं निष्क्रिय बना देने वाले साहित्य की भरमार है। अतः यह दोनों साहित्य जन-जीवन से सर्वथा पृथक रहे हैं। इसके विपरीत जो साहित्य राज-दरबारों से जितना दूर रहा है वह उतना ही प्रगतिवादी रहा है। प्रगति के मूल में ऐसे विद्रोह की प्रधानता रहती है जो जीर्ण-शीर्ण पुरातन की अवहेलना कर नव-जीवन का सन्देश दे सके। कबीर और तुलसी का साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है। उसमें असत्य प्राचीन के प्रति विद्रोह एवं सत्य प्राचीन और विकासशील नवीन के समन्वय की भावना थी। परन्तु आज साहित्य में 'प्रगतिवाद' शब्द से केवल प्रगति का ही अर्थ न

लेकर एक विशिष्ट राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य से लिया जाता है जिसका मूलाधार मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए डा० रांगेय राघव ने लिखा है कि—"महान् लेखक प्रायः ही अपने भीतर प्रगतितत्व धारण करता है। प्रगति जन कल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में सदैव रही है, जीवन में भी, साहित्य में भी, किन्तु अब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसी के आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष रूप से रखकर उसकी आलोचना करते हैं। इस नयी भावना का जन्म कार्ल मार्क्स से हुआ जिसने वर्ग संघर्ष की वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की। मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन, स्टालिन तथा माओत्सेतुंग ने साहित्य पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी विवेचना का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की कसौटी पर रहा है।" अतः प्रगतिवाद को समझने के लिए पहले मार्क्स का द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं प्रगतिवाद पर पड़े हुए अन्य प्रभावों और वादों को समझ लेना आवश्यक है।

प्रगतिवादी विचारधारा का बीज बहुत प्राचीनकाल से मिलता है। यूनान में पहले 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग सत्य पर पहुँचने की उस पद्धति के लिये होता था जिसमें दो विरोधी दल वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन द्वारा अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते थे। आगे चलकर प्रसिद्ध जर्मन विद्वान हीगल ने इस शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिये किया जिसके द्वारा उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास के सिद्धान्त को भली भाँति समझा जा सकता है। परिवर्तन में सदैव विकास के बीज निहित रहते हैं। इस रूपान्तर का अर्थ ध्वंस या विनाश नहीं है। १८ वीं शताब्दी के अन्त तक विश्व तथा सामाजिक संस्थाओं की कल्पना शाश्वत स्थिति के रूप में की जाती थी किन्तु फ्रांस की राज्यक्रांति, औद्योगिक क्रांति तथा उत्पत्ति, स्थिति और लय की रूपरेखा को स्पष्ट करने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तों की उद्भावना होने के बाद विचारों के क्षेत्र में भी बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। अब सभी वस्तुओं को निरन्तर गतिशील एक प्रवाह के रूप में देखा जाने लगा। इसके लिए एक नूतन तर्क-पद्धति की आवश्यकता थी जो हीगल द्वारा पूरी हुई। यह तर्क पद्धति निरन्तर गतिशीलता को लेकर ही आगे बढ़ती है। विद्यार्थी अवस्था में कार्ल मार्क्स हीगल के इस सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुआ। परन्तु उसने हीगल की तर्क-पद्धति को तो ग्रहण किया

किन्तु उसके निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना को उसने अमान्य ठहराया। "दास कैपिटल" के दूसरे संस्करण में उसने लिखा है—'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति विचारों की दृष्टि से हीगल की पद्धति से भिन्न ही नहीं है, वह उसके ठीक विपरीत है। हीगल की दृष्टि में तो विचार ही प्रधान है और यह वास्तविक जगत उसी का बाह्य रूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में बाह्य जगत ही प्रमुख है।" मार्क्स के विचारानुसार आर्थिक कारणों द्वारा ही इतिहास की व्याख्या की जा सकती है, निरपेक्ष ब्रह्म को लेकर नहीं।

प्रगतिशील साहित्य का दार्शनिक आधार प्रधान रूप से मार्क्सवाद है। मार्क्सवाद का दार्शनिक सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से विख्यात है। मार्क्स के अनुसार सृष्टिमें दो तत्व प्रधान हैं—स्वीकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative)। इन्हीं दोनों तत्वों के सङ्घर्ष का नाम ही जीवन है। इन्हीं के सङ्घर्ष से चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतना का आधार-भूत (Matter) है। चेतना द्वन्द्व का परिणाम है। इसी कारण इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। ऐतिहासिक क्रम में इसी द्वन्द्व का परीक्षण और निरीक्षण ऐतिहासिक भौतिकवाद है। मार्क्स का विश्वास है कि सृष्टि अपने जन्मकाल से निरन्तर विकासमान है। इस विकास के मूल में प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्वों का पारस्परिक सङ्घर्ष कार्य कर रहा है। प्रगतिवादी तत्वों की विजय के साथ-साथ विश्व निरन्तर विकसित होता जाता है। अभी तक संसार के अन्य दर्शनों का प्रधान कार्य जीवन और जगत की भिन्न-भिन्न व्याख्या करना, उनके आभ्यन्तरिक सूत्र का आविष्कार करना आदि था। लेकिन मार्क्सवाद के सम्मुख दुनियाँ को जानने की नहीं, बल्कि उसे बदल डालने की समस्या है। वर्तमान असन्तोष, शोषण, विषमता आदि के मूल कारणों का उन्मूलन कर वह विश्व का पुनर्निर्माण चाहता है। संसार के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा पूँजीवाद है। अतः इस आर्थिक वैषम्य को दूर कर साम्यवाद की स्थापना करने से ही विषमता का नाश हो सकता है। ईश्वर और धर्म की भावना जो मनुष्य के लिए अफीम है, यदि इस प्रगति में बाधक बनती है तो उसका भी मूलोच्छेद करना है। मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य सर्वहारा वर्ग के शोषण को समाप्त कर एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। इसके अनुसार समाज का उत्कर्षापकर्ष उसकी आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। आर्थिक उन्नति से ही समाज की उन्नति होती है। सामाजिक विषमता का प्रधान कारण अर्थ का असमान विभाजन ही है।

आधुनिक प्रगतिवाद पर फ्रॉयड के यौनवाद का भी आंशिक प्रभाव पड़ा

है। काम-भावना भौतिक भावना है अतः कुछ रसिक व्यक्तियों ने उसे मार्क्सवाद का सहायक माना है। परन्तु मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद में बहुत अन्तर है। मार्क्सवाद एक विज्ञान है। फ्रॉयडवाद एक व्यक्तिवादी दर्शन है। उसमें बहुत कुछ कल्पना पर निर्भर करना है। मार्क्सवाद के साथ कल्पित सिद्धांतों की संगति नहीं बैठती। अनेक लेखकों ने प्रगतिवाद के आवरण में अपनी रुद्ध काम वासना को प्रवाहित करने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में विश्व में प्रेम से अधिक प्रगतिशील और कोई भावना नहीं है। यह ठीक है। परन्तु प्रेम की कल्याणकारी सत्ता सामाजिक रूप में है न कि व्यक्तिगत रूप में। परंतु हमारे कुछ कथित प्रगतिवादी लेखकों एवं कवियों ने फ्रॉयडवाद को मूलाधार मानकर अत्यन्त अश्लील चित्रण किए हैं। इस अवस्था को देखकर अनेक आलोचकों ने प्रगतिवाद पर अश्लीलता का दोषारोपण किया है। ऐसे लेखकों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, द्वारिकाप्रसाद मिश्र आदि अग्रगण्य हैं। परन्तु इनको कोई भी प्रगतिवादी नहीं मानता। जिस काव्य का आधार लोक-कल्याण तथा सामाजिकता नहीं वह कभी भी प्रगतिशील नहीं माना जा सकता।

आजकल प्रगतिवाद के साथ त्रात्स्कीवाद का नाम भी सुनाई पड़ता है। इस वाद की विवेचना करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"जिसमें वामपक्षी लफ्फाजी हो और भाव-भूमि प्रतिक्रियावादी हो। अर्थात् त्रात्स्कीवादी रचना में भाषा तो उग्र मिलेगी लेकिन वह रचना पाठक को क्रान्ति से विरत करने वाली होगी, उसमें सहयोग की प्रेरणा देने वाली नहीं। वामपक्षी भाषा में शेखचिल्ली के स्वप्न होंगे। उसकी भावभूमि या तो क्रान्ति विरोधी होगी या क्रान्ति में बाधा डालने वाली, विलम्ब करने वाली होगी। प्रगतिवादी लेखक को सैद्धान्तिक रूप से इन बातों से बचते रहना चाहिए।" वे आगे लिखते हैं कि—"जो लेखक पूँजीवादी व्यवस्था से लोहा लेने लगे हैं और शोषण व्यापार खत्म करके समाजवाद लाना चाहते हैं, अगर वे साहित्य की तरफ अराजनैतिकता और सिद्धान्तहीन दृष्टिकोण अपनाते हैं, यानी अपनी कला पर राजनीतिक सिद्धान्तों का अंकुश नहीं मानते तो वे शुद्ध प्रतिक्रियावादी की हिमायत नहीं करते तो और क्या करते हैं।"

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिवादी काव्य का आधार मार्क्सवाद है। आज उसके समक्ष दो बातें हैं—पुरानी सड़ी गली संस्कृति का मूलोच्छेद तथा कला कला के लिए न होकर उसका उपयोग जीवन के लिए करना। इस कार्य के लिए उसके दो पक्ष हैं। १—राजनीतिक मोर्चा—रूस, चीन एवं अन्य साम्यवादी देश मिलकर संसार में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

२—सांस्कृतिक मोर्चा—मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्यिक रूप देकर जनता पर नये विचारों की छाप डालना चाहते हैं। इस प्रगतिवादी दृष्टि का आधार ऐतिहासिक विकास है। सृष्टि के इतिहास में मानव संस्कृति अपनी आदिम अवस्था से निरन्तर विकासमान रही है। विभिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई आज वह पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त और समाजवादी व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था में है। समाजवाद मानव संस्कृति की विकसित अवस्था है। प्रगतिवादी साहित्य उसी समाजवादी व्यवस्था की साहित्यिक वाणी है। इसी से पन्त प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण मानते हैं।

प्रगतिवादी कलाकार पुरातन के प्रति उचित सम्मान रखते हुए नवीन के प्रति सजग रहता है। परन्तु पुरातन के प्रति उसके मन में अन्ध विश्वास अथवा मोह नहीं होता। यदि पुरातन नवीन स्थिति में बाधक बन कर नहीं आता तो वह उसे स्वीकार कर लेता है। वह पुरातन से शिक्षा ग्रहण कर भविष्य का निर्माण करता है। वह साहित्य को सामाजिक चेतना उत्पन्न करने वाला जन कल्याणकारी साधन मानता है। इसी से वह कला को कला के लिए न मान-कर जीवन के लिए मानता है और वह जीवन भी व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है। वह सम्पूर्ण जनवादी शक्तियों को एकत्र कर सामाजिक प्रगति-विरोधी तत्वों—सामन्तवाद, पूँजीवाद, रूढ़िवाद आदि का विरोध करता है। फ्रॉयड के वैयक्तिक एवं कल्पित विचार वह समाज के लिए घातक समझता है। सर्वहारा वर्ग की समस्यायें ही उसकी प्रधान समस्यायें हैं। वह क्रान्ति का पुजारी होता है इसलिए उसका विश्वास सुधारवाद या हृदय परिवर्तन में किञ्चित मात्र भी नहीं होता। वह समाज में आमूल परिवर्तन चाहता है। गान्धीवाद हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है इसी कारण प्रगतिवाद का उससे विरोध है।

प्रगतिवाद जब काव्यगत भावनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सत्य, सौन्दर्य और प्रेम के नए मापदंड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज की नई रूपरेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नवीन भावनाओं को अभिव्यञ्जित करने के लिए नवीन भाषा शैली की अपेक्षा करता है। स्पष्ट, यथार्थ एवं वास्तविक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिये। उसमें मर्मस्पर्शिता होने के कारण ही वह दूसरों को पूर्ण रूप से प्रभावित कर सकेगी। इसके लिये तितली के समान रंगीन और कोमल भाषा शैली की आवश्यकता नहीं। इसके लिये तो—"वह आता। दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।" जैसी प्राकृतिक शैली एवं भाषा की अपेक्षा है। पिंगल के नियमों को भी विशेष महत्व नहीं दिया जाता

चाहिये। प्रतीक भी ऐसे हों जो जन साधारण की समझ में सुगमता से आ जायँ। छायावादी प्रतीक-योजना इस काव्य में ग्रहण नहीं की जा सकती। उपयोगितावाद के प्राधान्य के कारण ही इस साहित्य में कला का ह्रास और विचारों का प्राधान्य बढ़ता चला आ रहा है। परन्तु अब कुछ प्रगतिवादी साहित्यकार कला का भी विशेष ध्यान रखने लगे है।

प्रगतिवादी साहित्य प्रधानतः प्रचारवादी है अतः शुद्ध साहित्य की परिभाषा से परे हट जाता है। साहित्य का उद्देश्य प्रचार होते हुए भी उसमें कलात्मकता होनी चाहिये। कलाहीन साहित्य और साधारण धर्म, विज्ञान इत्यादि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। प्रगतिवाद की प्रारम्भिक अवस्था में इस कलाहीनता का प्रधान कारण यह था कि उसे अत्यधिक भयंकर संघर्ष लेना पड़ा था। युद्ध के समय हम हथियारों की चमक दमक की चिन्ता न कर उनके प्रभाव की चिन्ता करते हैं। प्रगतिवाद में छायावाद के वायवीपन और सूक्ष्मता की स्थूल भौतिकता में, पलायन वृत्ति की संघर्ष और क्राँति में, अत्यधिक कलात्मकता की अत्यधिक सरलता में, कल्पनात्मकता की यथार्थवाद में, निराशा और दुख की आशा और उत्साह में अभिव्यञ्जना हुई। इसी से उसमें कला का अभाव पाया गया। साथ ही प्रगतिवाद के विषय—किसान, मजदूर, ग्रामीण आदि से सहानुभूति तथा पूँजीवादियों और शोषकों के प्रति तीव्र घृणा आदि होने के कारण भी उसमें नीरसता और रुक्षता आ गई। परन्तु अब प्रगतिवाद उस अवस्था को पार कर कोमल, व्यञ्जनात्मक और अधिक प्रभावशाली बनता जा रहा है।

मार्क्सवाद पर अनेक आलोचकों ने एकाँगी होने का आरोप लगाया है। यह आरोप लगाते हुए पं० नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं कि—"एक बड़ी कमी यह भी है कि वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नहीं देखते, बल्कि एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं।""इसकी (प्रगतिवाद) सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाज-शास्त्रीय हैं और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक। इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रहती है।" परन्तु उपर्युक्त मत मार्क्सवाद को भली प्रकार न समझने के कारण ही व्यक्त किया गया है। साहित्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इसकी मार्क्सवादीय व्याख्या करते हुए डा० रामविलास ने लिखा है कि—"मार्क्सवाद पर जो एकाँगी होने का दोष लगाया गया है, वह वस्तु-

गत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उनकी परस्पर सम्बद्धता में देखने के लिए कहता है। यह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है। साहित्य को वह एक सामाजिक क्रिया के रूप में देखता है, उसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की पूँजी नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि साहित्य से आनन्द नहीं मिलता, या छन्द, वर्ण, गति, लय का सौंदर्य साहित्य के लिए कलंक है। लेकिन वह यह मानता है कि जो साहित्य युग की सजीव 'अनुभूति' और प्रगतिशील विचारों को व्यक्त नहीं करता वह निर्जीव हो जाता है।" उपर्युक्त कथन साहित्य में केवल भावात्मक और कलात्मक मूल्यों की प्रधानता मानने वाले आलोचकों को एक खुली चुनौती है। हम निर्जीवकला को, चाहे वह भावात्मकता से ओतप्रोत क्यों न हो, आज के संघर्ष पूर्ण युग में समाज के लिए उपयोगी नहीं मान सकते।

हमारे रूढ़िवादी अनेक अन्य महारथियों ने प्रगतिवाद पर अनेक अन्य आक्षेप किए हैं। १—धर्म, ईश्वर, आस्तिकता जो भारतीय संस्कृति की विशेषताएं हैं, उनसे इसका कोई मोह नहीं है। यह अध्यात्म, संस्कृति और चेतना से शून्य है। २—साहित्य की चिरंतनता पर इसका विश्वास नहीं। यह प्राचीन साहित्य को सामन्तशाही का पोषक मानता है। ३—यह समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्रण पर ज़ोर देता है। वह प्रणाली की गन्दगी का चित्रण कर उसके विरुद्ध क्राँति की भावना उत्पन्न करता है। ४—यह साहित्य एकाँगी है। यह केवल असत् का चित्रण करता है। शान्ति की अपेक्षा संघर्ष में इसका विश्वास है। इसके मूल में प्रचार की ऊपरी चहल-पहल है सृजन की भीतरी साधना नहीं। ५—अधिकाँश प्रगतिशील लेखकों में शोषित वर्ग के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति है। इसीलिए इनकी रचनाएं कृत्रिम और भड़कीली होती है। ६—इसमें सेक्स का अश्लील चित्रण होता है। ७—यह समाज के सम्मुख कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं करता।

प्रगतिवाद पर उसके विरोधियों का एक सब से बड़ा आक्षेप यह भी है कि प्रगतिवादी लोग देश की प्राचीन संस्कृति के शत्रु होते हैं। परन्तु यह आक्षेप निराधार है क्योंकि प्राचीन संस्कृति, यदि वह नवीन विचारों के मार्ग में बाधक नहीं है तो सर्वथा ग्राह्य है। श्री शशिभूषण शर्मा ने अपने "प्रगतिवाद—एक दर्शन" नामक निबन्ध में इस आक्षेप का खंडन करते हुए लिखा है कि—"प्रगतिवादी दर्शन का कहना है कि नूतन ही पुरातन की रक्षा कर सकता है। नूतन के बीच पुरातन बना रहता है और पुरातन के बीच नूतन

माने लेता है।''' जिस दिन नूतन पुरातन को नहीं ग्रहण कर सकेगा उसी दिन उसकी मृत्यु हो जायगी''' जिस दिन हम यह देखने लगें कि धरती पर नये कवि उत्पन्न नहीं हो रहे हैं, उसी दिन हमें समझ लेना चाहिए कि पुरातन पदियों की शायद पहले ही मृत्यु हो गई है। प्राचीन कला की योग रक्षा कौन कर रहा है ? आज का कलाकार। यदि नई कविता सूख गई तो हम किस स्रोत में वह कर पुरातन के बीच पहुँच सकेंगे। आज की नई हिंदी कविता हमारे और सूर-तुलसी के बीच के दीर्घ व्यवधान को निरन्तर दूर कर रही है।'' अतः हम प्राचीन से प्रेरणा ग्रहण कर नवीन का निर्माण करते हैं।

उपर्युक्त आक्षेपों में कुछ ठीक है, कुछ प्रगतिवाद को न समझने के परिणाम है तथा कुछ के मूल में द्वेष की गन्ध है। कुछ साहित्यकार प्रगतिवाद का बाना पहन कर भी प्रगतिवाद को बदनाम करने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ निष्पक्ष आलोचकों ने प्रगतिवाद की निम्नलिखित विशेषताएं बताई हैं— १—प्रगतिशील युग के अन्तर्गत प्रगतिशील व्यक्तियों को पहचानना। २—प्राचीन तथा नवीन विचार धाराओं की तुलना। ३—नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल। ४—प्राचीनता के मोह का त्याग। ५—नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा। ६—रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन। ७—जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्‌घाटन। ८—कला का लक्ष्य-नई प्राण प्रतिष्ठा, नए टेकनीक, नूतन छन्द, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति, सतत विकास ही जीवन का ध्येय।

प्रगतिवाद की उपर्युक्त विशेषताओं को लक्ष्य कर हिन्दी के अनेक उदारमाना आलोचकों में से कुछ ने मुक्त हृदय से और कुछ ने संकोच पूर्ण भाषा में प्रगतिवाद की उपयोगिता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। बाबू गुलाबराय का कथन है कि—"प्रगतिवाद हम को स्वार्थ परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैया सेवी अकर्मण्य नहीं रखा है।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिष्ट-पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचलित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय।''' प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई

थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"

उपर्युक्त विचारधाराओं का समर्थन करते हुए इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है कि—"छायावादी युग ने कवियों को अन्तर्लोक की गहनता में डुबा कर एकान्त आत्मचिन्तन में मग्न कर दिया था और सामूहिक जीवन की विराट वास्तविकता से साहित्य संसार को विमुख कर दिया था। प्रगतिवाद ने बाह्य जगत के जीवन संघर्ष की ओर हमारी चेतना को उन्मुख कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है। यह बात हमें किसी भी हालत में नहीं भुलानी होगी।" प्रगतिवाद के कट्टर आलोचक पं० नन्ददुलारे बाजपेयी को भी अन्त में वह स्वीकार करना ही पड़ा कि—"साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है।"''उसने दो वस्तुएं मुख्यरूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है; द्वितीय यह कि जो साहित्यिक सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई माप-रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।"

हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद के उदय का काल राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। भारतीय अंग्रेज विरोधी को अपना भाई समझते थे। रूस अंग्रेजों का विरोध कर रहा था। भारतीय कवि देश के अपमान से क्षुब्ध हो उठे थे। वे देश की स्वतन्त्रता अथवा संसार के सम्पूर्ण नाश का नारा लेकर आगे आए। इनके सामने कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। वे किंकर्तव्य विमूढ़ होकर क्रांति-विध्वंशकारी क्रांति—का आह्वान कर रहे थे। परन्तु उन पर गाँधी वाद का प्रभाव था अतः उनका विरोध प्रभावकारी न बन सका। इन कवियों में नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि प्रमुख हैं। इन लोगों का जीवन या राजनीति के प्रति कोई स्पष्ट एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था।

हमारे प्रगतिवादी साहित्य को रूस के समाजवादी लेखकों से पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्रसिद्ध रूसी लेखक मेक्सिम गोर्की ने बीसवीं शताब्दी से ही यथार्थवादी प्रगतिशील चित्रण करना प्रारम्भ कर दिया था। रूसी क्रान्ति के उपरांत इस

साहित्य का प्रभाव भारतीय लेखकों पर अधिक पड़ा। इसी का अनुसरण कर प्रसाद ने 'कंकाल' जैसा यथार्थवादी उपन्यास लिखा। प्रेमचंद ने भी इसी कथा साहित्य के आधार पर जन-जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया। अपने विभिन्न उपन्यासों द्वारा उन्होंने वर्ग-चेतना को जगाया। परन्तु 'गोदान' से पूर्व तक आदर्श का मोह त्यागने में वे असमर्थ रहे। गोदान में आकर उनका यह मोह भी समाप्त हो गया।

भारत में प्रगतिवाद का प्रचार पश्चिम के प्रभाव से ही हुआ। इसके प्रथम क्षेत्र, बंगाल प्रांत ने सदैव से बाहरी विचारधाराओं और प्रभावों को अत्यंत उदारतापूर्वक स्वीकार किया है। पाश्चात्य रोमान्टिक साहित्य एवं छायावादी विचारधारा का सर्व प्रथम प्रभाव बंगला साहित्य पर ही लक्षित होता है। प्रगति तथा प्रगतिवादी दर्शन भी उसी के द्वारा अन्य प्रांतों को मिला। बंगाल में प्रगति की विचारधारा सर्व प्रथम सन् १९२७ के लगभग प्रकाश में आई। इस सन में श्री बुद्धदेव वसु और श्री अजितदत्त ने ढाका से 'प्रगति' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। इसके पश्चात् १९३५ में सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनंद ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। वे इसके मूल संस्थापकों में गिने जाते हैं।

सन १९३५ में प्रगतिशील लेखक संघ की पहली बैठक लखनऊ में हुई। प्रेमचंद इसके अध्यक्ष थे। इस नवीन संघ को कवीन्द्र रवीन्द्र और शरत् बाबू जैसे कलाकारों का आशीर्वाद एवं सहयोग प्राप्त हुआ। उस समय इसका सामयिक उद्देश्य फासिस्टवाद का विरोध करना था। कुछ समय तक प्रेमचंद इसके कर्णधार रहे। प्रारम्भ में जब प्रेमचंद ने इस धारा को देखा तो उन्होंने समझ लिया था कि यह नवीन विचारधारा है तो अच्छी परंतु उसमें एकांगिता की छाया है। इसका विरोध करते हुए उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि प्रगति तो सदैव रही है, फिर यह नाम देना उचित नहीं है। संघ के प्रथम अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि—"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो जो सब में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे; सुलाए नहीं, क्योंकि और अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है।"[१] प्रेमचंद का विरोध इस नवीन विचार धारा के नामकरण से भले ही रहा हो परंतु उन्होंने उच्च साहित्य के जो लक्षण बताए थे उन्हें प्रगतिवाद ने पूरा करके उनके स्वप्न को बहुत अंशों में पूरा कर दिया है, इसमें संदेह नहीं। प्रेमचंद की इस नवीन प्रेरणा से ही अनुप्राणित होकर

और उन्हीं के कहने से प्रसाद ने 'कंकाल' जैसे यथार्थवादी उपन्यास की रचना की थी।

प्रेमचंद के उपरांत इस धारा को सबसे बड़ी प्रेरणा और बल निराला से मिला। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों के माध्यम से इस धारा को सम्पन्न एवं शक्ति शाली बनाने का प्रयत्न किया। उनकी 'चतुरी चमार', 'पगली' आदि कहानियाँ एवं 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि उपन्यास प्रगतिवादी साहित्य के सुंदर उदाहरण हैं। पंत ने 'रूपाभ' नामक पत्र निकाल कर इस आंदोलन को पर्याप्त शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। पंत 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना कर प्रगतिवाद के प्रबल समर्थक बन गए। परन्तु उनकी बौद्धिक सहानुभूति, विचारों की स्वाभाविक कोमलता और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण उन्हें इस क्षेत्र में स्थायी रूप से रखने में असमर्थ रहे। अतः वे कल्पना की मनोरमता और अटपटी दार्शनिकता के जिस क्षेत्र से आये थे पुनः वहीं लौट गए। अन्य कवियों में नरेंद्र, सुमन, अंचल, दिनकर, रांगेय राघव आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचंद द्वारा सम्पादित 'हंस' नामक मासिक पत्रिका ने कुछ समय तक प्रगतिवाद का नेतृत्व किया। इसके द्वारा अनेक नए प्रगतिशील विचारधारा के कवि प्रकाश में आए। इन कवियों ने प्रगतिवाद को एक दर्शन के रूप में अपनाया था। मार्क्सवाद के सिद्धांत उनके काव्याधार बने। इनमें शंकर शैलेन्द्र, केदारनाथ, नागार्जुन, अली सरदार जाफरी आदि प्रमुख हैं। आज प्रगतिवादी साहित्य का सृजन उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, समालोचना, कविता आदि सभी रूपों में हो रहा है। इसके—

प्रमुख उपन्यासकार—राहुल, निराला, रांगेयराघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, अमृतलाल नागर।

प्रमुख कहानीकार—रांगेयराघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव।

प्रमुख निबन्धकार—रामविलास शर्मा, रांगेयराघव, यशपाल, भगवत-शरण उपाध्याय।

प्रमुख अलोचक—रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, चंद्रबलीसिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय।

उपर्युक्त साहित्यकारों के अतिरिक्त अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि को भी पर्याप्त सैद्धान्तिक विरोध रहते हुए भी प्रगतिवादी मान लिया जाता है।

प्रगतिवादी आलोचकों में दो दल हो गए हैं। एक दल का मत यह है कि हमारा प्राचीन साहित्य सुन्दर, समृद्ध और शक्तिशाली होते हुए भी जन-जीवन से पृथक रहा है। उसमें सामन्ती दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। साधारण जनता की समस्याओं का चित्रण उसमें कहीं भी नहीं मिलता। अतः यदि हमें अपने समाज की रूपरेखा को बदलना है तो इस सामन्ती साहित्य के प्रति थोथे मोह को छोड़ना पड़ेगा। इसकी दृष्टि में शेक्सपियर और कालिदास सामन्ती साहित्य के प्रणेता हैं अतः काव्यानन्द प्राप्त करने के लिए तो उनका अध्ययन श्रेयस्कर है परन्तु वे हमारी वर्तमान सामाजिक विषमता का कोई भी हल प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। अतः इस सामाजिक क्रान्ति के दृष्टिकोण से वे त्याज्य हैं। दूसरा दल इस मत का विरोधी है। यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्तों के विषय में इन दोनों दलों में पूर्ण मतैक्य है परन्तु दूसरा दल प्राचीन साहित्य के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण रखता है। इन दोनों दलों में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से खूब आलोचना प्रत्यालोचना होती रहती हैं। समय की आवश्यकता एवं मांग को देखते हुए प्रथम मत अधिक दृढ़, सैद्धान्तिक और प्रभावकारी है क्योंकि जनता में जब तक उस जीर्ण पुरातन के तनिक भी मोह रहेगा तो यथार्थवादी समाजवाद की स्थापना स्वप्न बनी रहेगी। क्रान्ति के मूल में निर्ममता की भावना सर्वं प्रधान रहती है।

१९— छायावाद

"आज यदि सामाजिक बन्धनों के कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेहपात्र को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और विछोह के हृदयग्राही गीत गा उठते हैं तो यह न समझिए कि यह केवल उन्हीं की वेदना है जो यों फैल पड़ी है— यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार है···· कवियों का प्रत्यक्ष में केवल अधिभौतिक दिखाई देने वाला दुखवाद वास्तव में आध्यात्मिक है— आज की कविता में रोदन और गायन का समन्वय हो रहा है।" प्रथम महायुद्धोत्तर कालीन हिन्दी कविता में बन्धनों से ग्रस्त युवक-हृदयों से 'वियोग और विछोह' के जो हृदयग्राही गीत निसृत हुए उन्हें युग ने छायावादी काव्य की संज्ञा से अभिहित किया। उन कवियों की दशा यही थी कि—"रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिल यौवनेर वने पथे मन हाराइल" अर्थात् रूप के जलधि में आँखें डूबी रहीं और यौवन के वनपथ पर मन भटकता रहा। ये छायावादी कवि इस रूप और यौवन की साधना में इतने डूबे रहे कि संसार उन्हें विस्मृत हो उठा। इस काव्य में उनकी वेदना का रोदन गायन का सम्बल पाकर अश्रुसिक्त नयनों के समान करुण और सुन्दर रूप में प्रकट हुआ। इस वेदना का प्रकटीकरण संसार को बिना भुलाए भी हो सकता था। फिर क्या कारण था कि इन मेधावी कलाकारों को, युग से मुख मोड़ कर, केवल अपनी वेदना में ही डूबा रहने को बाध्य होना पड़ा? कवि समाज का प्रतिनिधि होता है। फिर इन कवियों ने समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भुला कर केवल अपने ही वियोग और विछोह के हृदयग्राही गीत क्यों गाए? ऊपर का उद्धरण एक प्रसिद्ध छायावादी कवि का है। कहने को तो वे इस वेदना को 'समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार' और साथ ही उसे आध्यात्मिक भी मानते हैं। क्या अपने स्नेहपात्र को प्राप्त न करने पर उत्पन्न वेदना ही हमारी संस्कृति का लक्षण है? वास्तव में वे उसके व्यष्टि रूप को झुठला कर उसे समष्टि का रूप देने की आत्मप्रवंचना कर रहे हैं। परन्तु ऐसा क्यों हुआ? इसके मूल में युग की परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं।

छायावादी काव्य की उत्पत्ति के मूल कारणों का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र

ने लिखा है कि—"राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अचल सत्ता और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह (बन्धन-मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी; निदान वे भावनाएँ अन्तर्मुखी हो कर धीरे धीरे अवचेतन में जा कर बैठ रहीं थीं और वहाँ से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रहीं थीं। .... आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छायाचित्रों की समष्टि का ही नाम छायावाद है।"[1] इस प्रकार प्रथम महायुद्ध ने विश्वव्यापी रूप में, कलाकारों की चेतना को बहिर्जगत की संत्रस्तता के कारण अन्तर्मुखी बना दिया था। बहिर्जगत की शून्यता और रिक्तता से त्रस्त हो कर कलाकार अपने अन्तर्जगत में ही सन्तोष के उपकरण ढूंढने लगा। इसने अनायास ही उसकी संवेदना पर वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ा दिया और उसकी कल्पना बौद्धिकता के रंग में सराबोर हो उठी। तत्कालीन भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में जो नवीन जागृति हुई, वह समसामयिक परिस्थिति की विषमता के कारण स्तब्ध सी रह गई। इस असन्तुलन के कारण अतृप्ति, अवसाद और वस्तु-जगत की उपेक्षा की जो भावना उस युग की कविता में व्यक्त हुई, उसमें वस्तु और विधान दोनों दृष्टियों से, रूढ़ि और परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का भाव छिपा हुआ था। इसलिए द्विवेदी युग की सभी साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त कर के एक सर्वथा नवीन शैली—एक नूतन दृष्टिकोण उपस्थित करने में छायावाद पूर्णतया सफल हुआ।

बाबू गुलाबराय की धारणा है कि जिस प्रकार द्विवेदी युग में रीतिकालीन अत्यधिक शृंगारिकता की प्रतिक्रिया हुई थी उसी प्रकार छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया हुई। "राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को न दबा सकी और शृंगारिक भावनाएं एक उन्नत रूप में प्रकाश में आईं। शृंगार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ और उनकी सारभूत कोमलता ने साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया।........जीवन की बाहरी शुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौंदर्य-सुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुरावेष्टनमयी कोमल-कान्त पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नवयुवक कवि अग्रसर हुए।"[2] प्रथम महायुद्धोत्तर कालीन हिंदी कविता में मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली। (इसी से कुछ आलोचक छायावादी काव्य को रीतिकालीन शृंगार परक काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण मानते हैं।) बीसवीं शताब्दी की द्वितीय दशाब्दी के उपरान्त की हिन्दी कविता

जाति अथवा महत्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख दुख की नहीं वरन् व्यक्ति के सुख दुख की कहानी है। विषय वस्तु के लिए कवि ने बाह्य संसार की उपेक्षा कर अपने मन के भीतर झाँकना प्रारम्भ कर दिया। जीवन-संघर्ष से भयभीत हो कर स्वयं वह अन्तर्मुखी हो उठा। इसी कारण उसकी वाणी में युग की वेदना मुखरित न होकर स्वयं अपनी ही वेदना व्यक्त हुई। परिणामस्वरूप वे समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल कर रूप के जलधि और यौवन के वनपथ पर भटकते रहे। परन्तु उनके इस भटकने में एक अद्भुत तन्मयता, एक सुन्दर कला और एक अपूर्व लावण्य था जिसने हिन्दी कविता को कला के उच्चतम शिखर पर ला बैठाया।

विभिन्न विद्वानों द्वारा छायावाद की अब तक निम्नलिखित परिभाषाएँ बन चुकी हैं — १—जो समझ में न आवे वह छायावाद है। २—रहस्यवाद का ही पहला रूप छायावाद है। ३—रहस्यवाद का दूसरा नाम छायावाद है। ४—छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त उपमानों को लेकर चलने वाली एक शैली है। ५—प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं। ६—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है। ७—यह यूरोपीय 'रोमान्टिसिज्म' का भारतीय संस्करण है। उपर्युक्त परिभाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं जो छायावाद के वास्तविक और पूर्ण रूप पर स्पष्ट प्रकाश डाल सके। ये सभी एकांगी हैं। न्यूनाधिक रूप में उपर्युक्त सभी लक्षण छायावाद में मिल जाते हैं। छायावाद में भारतीय परम्परा का नवीन विकास हो अथवा विदेशी प्रभाव परन्तु इसकी विशेषताओं को लक्ष्य कर प्रसाद जी ने कहा था कि—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।" इसमें प्रसादजी ने छायावाद के वेश विन्यास मात्र पर ही प्रकाश डाला है।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि—"छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है अर्थात् कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" इस प्रकार छायावाद के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण बन गये हैं—आध्यात्मिक और शैलीगत। शैलीगत दृष्टिकोण को प्रायः सभी आलोचकों ने स्वीकार

किया है परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने में कुछ आलोचक झिझकते हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों को समझने के लिए विभिन्न मतों को समझना आवश्यक है।

महादेवी वर्मा—"छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।"

गंगाप्रसाद पांडेय—"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।"

रामचन्द्र शुक्ल—"रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएं पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुसार पर होती है जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। उस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।

नन्ददुलारे बाजपेयी—"नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

गुलाबराय—"छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं।"

रामकुमार वर्मा—"आत्मा व परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद।"

उपर्युक्त सभी विद्वान छायावाद में आध्यात्मिकता को मानते हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित विद्वानों का मत है कि छायावाद में आध्यात्मिकता का लवलेश भी नहीं है—

नगेन्द्र—"कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।"

प्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"

देवराज—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।" डा० नगेन्द्र छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता का पूर्ण तिरस्कार करते हुए उसे विशुद्ध रूप में 'भावात्मक एवं आत्मगत'

मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी काव्य के प्रारम्भ में कवि अपने वातावरण से त्रस्त होकर एवं ऊब कर किसी शाँन्ति पूर्ण एकान्त स्थान में आश्रय पाना चाहता था और यह एकान्त उसे प्रकृति के रम्य क्रोड़ में ही प्राप्त होता था। प्रसाद ने इसी कारण कहा था—

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी--
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

जीवन की कुंठाओं से ऊबा हुआ एकान्त का आग्रही कलाकार आध्यात्मिक चिन्तन का स्पर्श नहीं करेगा ! वस्तुतः छायावाद को आध्यात्मिक भावना से प्रेरित या पूर्ण रूप से आध्यात्मिकता से शून्य मानना अतिवादी दृष्टिकोण है। छायावाद की प्रारम्भिक रचनाओं में यद्यपि इसका प्रभाव नहीं है परन्तु बाद की रचनाओं में आध्यात्मिकता का प्रभाव लक्षित अवश्य होता है। कवि इस पद्धति को अपना कर रहस्यवादी की भाँति आध्यात्मिक विवेचन उपस्थित कर किसी उपासना पद्धति का निर्माण नहीं करना चाहता। प्रकृति के रूप एवं अद्भुत व्यापारों को देखकर स्वतः ही उसमें उस अज्ञात के प्रति एक जिज्ञासा उत्पन्न हो उठती है। प्रारम्भ में इन कवियों के पास कोई दार्शनिक आधार नही था परन्तु कालान्तर में जब उन्होंने उपनिषदों आदि का अध्ययन किया तो उनकी रचनाएँ सर्वात्मवाद से प्रभावित हो उठीं। इसी आधार पर महादेवी वर्मा ने छायावाद का मूलदर्शन सर्वात्मवाद को माना है। उनका कथन है कि—"छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव चेतना से स्पन्दित मानकर अङ्कित किया गया है और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा।

छायावाद के मूल दर्शन की व्याख्या करते हुए डा० नगेन्द्र कहते हैं कि—"गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदयों से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता।""वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएँ अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय आध्यात्म दर्शन के सहारे, अथवा पन्त देश-विदेश के भौतिक सर्वहितवादी दर्शनों के आधार पर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भले ही कर पाए हों, परन्तु

आरम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।" आगे डाक्टर साहब लिखते हैं कि—"उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था,—जो एक विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी।""छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासायें ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मन की छलना पर आश्रित हैं।" ये ही छायावाद के मूल तन्तु हैं।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद की विवेचना करते हुए उसके विषय में प्रचलित तीन भ्रान्तियों का भी उल्लेख किया है—

(१) जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर न मानने के कारण हैं। छायावाद बौद्धिक है साधनात्मक नहीं।

(२) छायावाद और योरोपिय रोमान्टिसिज्म को एक मानना। योरोपिय रोमन्टिसिज्म के पीछे फ्राँस का सफल विद्रोह था। उसका आधार अधिक ठोस और स्वप्न अधिक माँसल थे। इसके विपरीत छायावाद असफल सत्याग्रह से उत्पन्न हुआ। वह अधिक अन्तर्मुखी और वायवी था।

(३) छायावाद को एक शैली मात्र मानना जैसा कि शुक्ल जी का मत था।

कुछ आलोचकों ने छायावाद को यूरोपिय रोमान्टिसिज्म से अत्यधिक प्रभावित माना और नगेन्द्र जिसे उनकी भ्रान्ति मानते हैं। ध्यान से देखने पर इन दोनों धाराओं में बहुत कुछ समानता मिलती है। रोमान्टिक कवि समाज, धर्म, साहित्य, राजनीति सब में क्रान्ति चाहता है और एक अद्वितीय स्वप्नलोक की सृष्टि कर उसमें शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है। विश्व के संघर्ष से वह दूर भागता है। सामाजिक बन्धनों के कारण स्वच्छन्द प्रेम के लिये अवकाश न रहने पर वह अपनी अतृप्त वासना को काव्य में साँकेतिक अभिव्यक्ति देता है। प्रकृति उसकी सहचरी का काम देती है। वह उसे संवेदन शील सजीव प्राणी के रूप में मानता है। कभी कभी तो प्रकृति के प्रतीकों से ही अपनी बात कहता है। उसे जड़-चेतन में एक ही भाव सूत्र पिरोया हुआ जान पड़ता है। यहाँ वह सर्वात्मवादी हो जाता है। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती है और भावनाएँ सूक्ष्म। अपना व्यक्तित्व ही उसका केन्द्र होता है। छायावाद में ये सब बातें मिलती हैं।

परन्तु छायावाद भारत की उपज है। उस पर यहाँ की साँस्कृतिक परम्परा, सामाजिक मान्यता और साहित्यिक विचार धारा का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है।

अतः छायावाद को हम संक्षेप में एक ऐसी कविता मानते हैं जिसके भावपक्ष में व्यक्तिवाद, अतृप्तप्रेम, निराशा और वेदना, प्रकृति का मानवीयकरण और तादात्म्य, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति, जिज्ञासात्मक रहस्य भावना आदि बातें मिलती हैं और भावपक्ष की इस नवीनता के कारण जिसके कलापक्ष में नवीन छंद विधान, नवीन अलंकार विधान, लाक्षणिक शब्दावलि और प्रतीकों का प्रयोग होता है। इसके अनुसार डाक्टर नगेन्द्र द्वारा बताई गई उपरोक्त तीनों भ्रान्तियों का खण्डन हो जाता है। डाक्टर नगेन्द्र इसे अहं का कलात्मक विस्फोट एवं बद्ध वासनाओं का स्वच्छन्द प्रवाह मानते हैं। यहाँ उन पर फ्रॉयड का प्रभाव बोल रहा है। वास्तव में छायावाद शुद्ध रूप से न तो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, न यूरोपीय रोमान्टिसिज्म का भारतीयकरण है, न बद्ध वासनाओं और अहं का विस्फोट है और न केवल एक शैली है। वरन् इसमें थोड़े बहुत रूप में उपर्युक्त सभी तत्व मिल जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं।

संक्षेप में हम छायावाद में पाँच प्रवृत्तियों की प्रधानता पाते है—१ सौंदर्य भावना, २—शृङ्गार अथवा प्रेम की भावना, ३—करुणा की निवृत्ति, ४—प्रकृति प्रेम, ५—जीवन दर्शन।

१—सौंदर्य भावना—मानव प्रत्येक सुन्दर वस्तु के साथ अपने रागात्मक हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सदैव उत्सुक रहता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उसका आकर्षण आन्तरिक सौन्दर्य के प्रति अधिक होता है। प्रसाद प्रकृति में नारी-रूप का मनोरम दर्शन करते हैं—

उठ उठ री लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई सी॥
मलयानिल का परछाँई सी।
इस सूने तट पर छिटक, छहर॥
शीतल कोमल चिर कम्पन सी।
दुर्ललित हठीले बचपन सी॥
तू लौट कहाँ जाती है री॥—लहर

२—शृङ्गार अथवा प्रेम की भावना—इस क्षेत्र में छायावादी कवि लौकिकता से ऊपर उठ कर अपनी प्रियवस्तु में प्रकृति की झलक देखने लगता है—

तड़ित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान।
प्रभा के पलक मार, उर चीर॥

गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर ।
मुझे करता है अधिक अधीर ॥
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण ।
खोजते हैं तब तुम्हें निदान ॥—पंत

३—करुणा की विवृत्ति—मानव हृदय में जब करुणा होती है तभी हृदय की सुकुमारता, कोमलता, उदारता आदि सभी मानवोचित गुणों की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। इसी से समस्त व्यापार आकर्षक बन उठते हैं। छायावादी कवि के एकाकी जीवन की संगीत लहरी को इसी का साहचर्य प्राप्त है। प्रसाद अपने करुणाकलित हृदय की विकल रागिनी को सुनकर हाहाकार के स्वरों में गर्जन करने वाली असीम वेदना को अपनी व्याकुलता के क्षणों में कह उठते हैं—

"अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना।"

—आँसू

४—प्रकृति प्रेम—छायावादी कवि ने प्रकृति के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। उसने इसी के द्वारा प्रकृति का मानवीकरण किया है। प्रकृति हमारी भावनाओं की प्रतीक बन कर उपस्थित होती है। कवि प्रकृति में मानव-व्यापारों का आरोप करते हुए अपने भावों की भी अभिव्यक्ति करता है—

"अपने ही सुख से चिर चंचल,
हम खिलखिल पड़तीं हैं प्रतिपल।
जीवन के फेनिल मोती को,
ले ले चल कर तल में टल-टल।
छू छू मृदु मलयानिल रह-रह,
करता प्राणों को पुलकाकुल ॥
जीवन की लतिका में लह लह,
विकसा इच्छा के नव नव दल।

—पंत "लहरों का गीत"

५—जीवन दर्शन—काव्य में जीवन की मौलिक प्रवृत्तियों की उद्भावना होती है, जिससे वह जीवन से दूर नहीं जा पाता। छायावादी कवि इसी तथ्य का अनुभव करते हुए अपने काव्य में जीवन दशाओं का बड़ा सुन्दर समन्वय करते हैं—

"यह साँझ-उषा का आँगन, आलिंगन विरह-मिलन का।
चिर हास-अश्रुमय आनन, रे इस मानव जीवन का॥" —पंत

इसी प्रकार दुखवाद की विवृत्ति महादेवी वर्मा में भी पाई जाती है—

"मैं नीर भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोना कोना
मेरा न कभी अपनी होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल मिट आज चली।"

जीवन क्या है, इसकी औकात क्या है, यह केवल क्षणभंगुरता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण उद्धरणों द्वारा हमने यह देखा है कि कवियों ने सर्वत्र अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रकृति को ही बनाया है। कहीं उसके प्रति विस्मय है, कहीं प्रेम है, कहीं करुणा है और कहीं शृङ्गार है। विरह-मिलन के गीतों को भी प्राकृतिक उपकरणों द्वारा ही गाया गया है।

छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इससे पूर्व काव्य में प्रकृति का इतना महत्व कभी भी स्वीकार नहीं किया गया था। इसमें प्रकृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व लिये हुए ही नहीं आई, उसका केवल मानवीकरण ही नहीं हुआ, प्रत्युत जीवन की अन्य भावनाओं की अभिव्यक्ति की भी वह माध्यम बनी। इसीसे यदि प्रकृति में मानव व्यापारों की छाया या ब्रह्म की छाया को व्यक्त करने वाली कविता को ही छायावाद कह दिया जाता है, जो प्रकृति प्राधान्य के कारण है, तो असंगत नहीं।

छायावादी काव्य कैसे उत्पन्न हुआ इसकी विवेचना तो हो चुकी। अब यह देखना है कि हिंदी में इसका प्रवर्त्तक कौन था? "अवन्तिका" नामक मासिक पत्रिका में "छायावाद का प्रवर्त्तक कौन?" शीर्षक एक परिसम्वाद में भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने अपना मत प्रकट किया था। आचार्य शुक्ल के इतिहास के आधार पर सियारामशरण गुप्त ने मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को छायावाद का प्रवर्त्तक माना। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—सम्वत् १९७० तक 'खड़ी बोली' के पद्यों में ढल कर मंजने की अवस्था पार हुई और मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यंजक रूप रंग देने में प्रवृत्त हुए।" रायकृष्णदास, पंत तथा इलाचंद्र जोशी प्रसाद को छायावाद का प्रवर्त्तक मानते हैं। विनयमोहन शर्मा तथा प्रभाकर माचवे माखनलाल चतुर्वेदी की १९११-१२ के आसपास की रचनाओं में नवीन शैली का दर्शन कर उन्हें

हो छायावाद का आदि कवि मानते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी सन् १६१३ से १६२० तक की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति को ही "छायावाद की विशिष्ट काव्य शैली" मानते हुये मुकुटधर पांडेय, रायकृष्णदास और प्रसाद में छायावाद की प्रयोगावस्था मानते हैं और छायावाद की राष्ट्रीय शाखा का उद्भव और उन्मेष माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं में पाते हैं तथा 'निराला' को छायावादी शैली की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी भावधारा के अधिक निकट देखते हैं।

छायावादी काव्य के प्रथम पाँच वर्ष (१६२० २५) बहुत ही विवाद ग्रस्त रहे क्योंकि यह प्रयोग काल था। यह काव्य नया हर्ष और नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था। नई वस्तु और नई शैली, नए छन्द और नई उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बंधन हीन स्वच्छन्द प्रवाह, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत से प्रभावित नया स्वरूप और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है, इन सब कारणों से काव्य जगत में एक नया बवंडर सा उठ खड़ा हुआ। इसमें सब कुछ नया था। इस नवीनता से भयभीत एवं काव्य हत्या के डर से संत्रस्त महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके नए पुराने सभी सहयोगियों ने एक स्वर से इसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इस काव्य के प्रवर्तक और पोषक कर्मठ और दिग्गज विद्वान थे। उन्होंने इस विरोध का समुचित उत्तर दिया। छायावाद प्रसाद, पंत, निराला का संरक्षण और साहचर्य पाकर फलता फूलता रहा और एक दिन वह आया जब द्विवेदीजी द्वारा संस्थापित साहित्यिक मर्यादाओं का अस्थि विसर्जन कर दिया गया। यह युग की प्रतिगामी रूढ़ियों पर विजय थी। छायावाद ने हिंदी कविता को यदि कोई अन्य ठोस वस्तु नहीं दी तो कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसने आधुनिक हिंदी काव्य और भाषा को शक्ति, सजीवता और सौंदर्य प्रदान किया।

डाक्टर रामविलास शर्मा इसमें विद्रोह की भावना को प्रमुख मानते हैं। उनका कथन है कि "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान में हुआ था। इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।" अस्तु,

१६२५—३० की हिंदी कविता पकने लगी और सधने लगी। इसे देखकर आचार्य शुक्ल जैसे कठोर मर्यादावादी आलोचक को भी मानना पड़ा कि—

"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे धीरे काव्य शैली का अच्छा विकास हुआ इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" प्रसाद के आँसू, झरना में; पंत के वीणा, पल्लव और गुंजन में; महादेवी के नीहार, रश्मि, नीरजा और दीपशिखा में; निराला के अनामिका, परिमल, गीतिका, आदि रचनाओं में छायावाद के सुन्दरतम रूप के दर्शन हुए। परन्तु इस सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन के उपरान्त एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काव्य में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो हृदय या मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाल सकती। इसकी अन्तर्मुखी चेतना इतनी कुंठित थी कि बहिर्जगत के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गयी। उसमें उद्वेग तो था, किंतु प्रतिरोध और सक्रियता का नितान्त अभाव था। अतृप्ति तो थी किन्तु स्वस्थ सृजनात्मक शक्ति की कमी थी। इसी से वह कुछ काल जीवित रह कर समाप्त हो गई।

यहाँ तक हमने छायावाद की मूल प्रेरणाओं, उसकी उद्भावना, विकास और परिणिति पर प्रकाश डाल कर उसकी रूप रेखा समझने का प्रयास किया है। अब उसकी अन्तरंग और बहिरंग परीक्षा भी कर लेना श्रेयस्कर है।

छायावाद में एक नवीन अभिव्यंजना पद्धति का निर्माण हुआ जिसे 'चित्र भाषा-पद्धति' भी कहा जा सकता है। उसमें अत्यन्त अरूप सादृश्य के आधार पर, आन्तरिक प्रभाव-साम्य को लेकर, अप्रस्तुत एवं अपरिज्ञात वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत उपादान प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। इसीसे इस काव्य की भाषा को 'प्रतीक प्रधान भाषा' भी कहते हैं। इसका कारण यह था कि परम्परागत खड़ीबोली नवीन अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देने में नितान्त जड़ और कुंठित सी जान पड़ी। इसलिए छायावाद ने अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति केलिए तो नवीन शब्द योजना प्रस्तुत की साथ ही परंपरागत शब्दावली के साथ बाह्य समानार्थक शब्दों को भी नवीन भाव चित्रों से समन्वित कर दिया। उसे 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल का कोमल स्पंदन और 'ऊर्मि' में मधुर मुखरित हिलोरों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार शब्दों की वृत्तियों को विस्तृत कर जो भिन्न भिन्न भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत की, उसने हिंदी भाषा की शक्ति और सौन्दर्य को कई गुना और बढ़ा दिया। परन्तु इसमें एक दोष भी था। यह अतिशय बौद्धिक थी। इसके भाव-चित्र अधिकांशतः बुद्धि प्रधान हैं। इसी से उसमें

अस्पष्टता आ गई। साधारण पाठक के लिए वह दुरूह होने के कारण सहज संवेद्य न बन सकी।

७ काव्य-भाषा और शब्द योजना के अतिरिक्त इस काव्य ने नई छन्द योजना भी प्रस्तुत की। इस छोटे से काल में छन्दों के विविध प्रयोग किए गए। ये कवि छन्द योजना में अन्तर्हित लयात्मकता की शक्ति को पूर्णतया पहचानते थे। इसीलिए उन्होंने परम्परागत मात्रिक छन्द योजना और वर्णवृत्त की कठोर नियम बद्धता की उपेक्षा कर नए प्रयोग किए। इस क्षेत्र में पंत ने शब्द चयन में सूक्ष्म कलात्मकता का परिचय दिया और निराला ने छन्द-योजना के सर्वाधिक नवीन रूपों की सृष्टि की। पंत का मत है कि—'छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर करता है। दोनों में स्वरैक्य होना चाहिए। जहां दोनों में मैत्री नहीं रहती वहां छंद अपना स्वर खो बैठता है।'' निराला ने सङ्गीत की शास्त्रीय रीति में बंधी गीति काव्यात्मक छंद योजना और स्वच्छंद भावातिरेक के उपयुक्त 'मुक्त वृत्त' योजना का श्रीगणेश किया। महादेवी वर्मा की छंद योजना तो स्वभावतः रागिनी प्रधान अतः कोमल है। इस प्रकार छायावादी छंद योजना में लयात्मक ऐक्य के आधार पर 'मुक्त छंद' की उद्भावना हो सकी।

८ स्वरूप-विधान की दृष्टि से यह काव्य प्रधानतः गीतात्मक रहा। परन्तु वह गीति काव्य लोक जीवन से विच्छिन्न था। इसी कारण सूर का गीत "निसि दिन बरसत नैन हमारे" आज भी हमारी आँखों में सावन भादों उमड़ा देता है; किंतु महादेवी वर्मा की—"मैं नीर भरी दुख की बदली"—हमारी संवेदना को केवल उकसा कर रह जाती है। फिर भी इस काव्य ने हमें दो सर्वथा अभिनन्दनीय वस्तुएं प्रदान कीं—गीति-प्रबन्ध और मुक्तवृत्त प्रबन्ध। यह नवीन प्रयोग थे। गीति प्रबंध की कामायनी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह रूप इतना आकर्षक था कि गुप्त जी भी 'साकेत' और यशोधरा' में इसे अपनाने का लोभ संवरण न कर सके।

९ छायावाद के अन्तरग में हमें तीव्र अतृप्ति और असन्तोष मिलता है। ये कवि बहिर्जगत की भीषणता से त्रस्त होकर उससे एक तटस्थता का भाव रख कर अपने कल्पना लोक में जा बैठे। परंतु अंतर्जगत का सीमित क्षेत्र भी उन्हें संतोष न दे सका। उन्होंने अपनी शांत विह्वलता का रूप प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में देखा। प्रकृति उनके लिए संवेदनशील बनकर आई। उन्होंने प्रकृति में अपनी अतृप्ति और अवसाद, करुणा और वेदना, रोमांस और रहस्य भावना के दर्शन किये। इस अंतर्मुखी जीवन दर्शन के कारण ही इस काव्य में

अन्विति का अभाव दिखाई पड़ा। यह जीवन संघर्ष से पलायन की भावना के कारण ही था। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने हमें स्वस्थ सृजनात्मक जीवन-दर्शन भले ही न दिया, किंतु उसने हमारी मौलिक विद्रोह भावना को उत्तेजना अवश्य दी।

८ छायावादी काव्य में वैयक्तिकता की प्रधानता रही। स्वच्छंद रूप से समाज में व्यक्त न की जा सकने वाली भावनायें प्रकृति की कल्पनाओं के साथ काव्य में व्यक्त हुईं। इस वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण छायावादी कवि सांसारिकता से निराश होकर आदर्श की ओर उन्मुख हुआ। यही आदर्शोन्मुख भावना अध्यात्म की ओर बढ़ती हुई सी प्रतीत हुई। छायावाद ने प्रकृति को विराट सजीव सौंदर्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया। यही भावना आगे चलकर रहस्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई। इस रहस्यवाद में न तो साधनात्मक रहस्यवाद की कठोरता है और न मध्ययुग के ज्ञानात्मक रहस्यवाद का बोझीलापन। प्रसाद के शब्दों में छायावादी रहस्यवाद—"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहं' या 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।" कामायनी में यह भावना स्पष्ट हुई है। साधारण छायावादी रचनाएं उस उच्च धरातल को स्पर्श नहीं कर पातीं। जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भावात्मक था। इसीलिये वह निष्क्रिय रहा। यही उसकी सब से बड़ी निर्बलता और मृत्यु का कारण बना।

छायावाद अधिक काल तक नहीं चल सका, इसका कारण बताते हुये पंत ने लिखा है कि—"छायावाद इसलिये अधिक नहीं चल सका क्योंकि उसके पास भविष्य के लिये उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" महादेवी वर्मा के शब्दों में—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्यसत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिये कठिन होगया।" आगे चलकर वे लिखती हैं कि—"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बंधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह एक अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर, बद्ध सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जाय। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार जीत आज

मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।" उपरोक्त कथनों से यही ध्वनि निकलती है कि छायावाद मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है जो सुन्दर रूपवाली होती हुई भी जन जीवन से पृथक अतः निष्प्रयोजन होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। अपने 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा' में वह अनुत्तीर्ण रही है।

इसी कारण पंत ने—"छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना" को "एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती" प्रदान कर उसे जन-जीवन के साथ ला मिलाया। कल्पना लोक में विचरण करने वाले छाया वाद का प्रगतिवाद ने गला घोंट दिया है। आज के कवि ने यह अनुभव कर लिया है कि—"कितनी चिड़िया उड़े आकाश, दाना है धरती के पास।" चिड़िया को कल्पना लोक से ठोस यथार्थ की भूमि पर उतरने पर ही दाना सुलभ हो पाता है। इसी क्रिया से कृषि, वाणिज्य, व्यवस्था, कला कौशल, समाज शास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन एवं भिन्न भिन्न राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में खण्ड खण्ड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ होता है।

२०—रहस्यवाद

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?"

इस चराचर विश्व का नियमन करने वाली उस 'अज्ञात', 'अव्यक्त' सत्ता की खोज मानव-मन चिर काल से करता चला आया है। उसे उस अज्ञात सत्ता का आभास तो हुआ परन्तु वह निश्चित रूप से यह नहीं जान सका कि वह है कौन? वह उसका रहस्य समझने में अब तक सर्वथा असमर्थ रहा है। अपने इस अज्ञान से संकुचित और उस सत्ता के आभास से आश्चर्य विजड़ित होकर वह जिज्ञासा के स्वर में पुकार उठा—

"हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।"

मानव ने सृष्टि के आदि से अब तक जिस वस्तु की आकांक्षा की है उसे प्राप्त करके रहा है परंतु उसकी शक्ति 'ब्रह्म' के समीप आकर ही कुण्ठित हो उठी है—

"पाना अलभ्य को जग की यह कैसी अभिलाषा।
है सदा अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा॥"

इसी 'अप्राप्य ब्रह्म' को प्राप्त करने के लिए मानव-हृदय और मानव-मन ने निरन्तर जो प्रयत्न किए हैं वह रहस्यवाद की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। आदि काल से उस 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिन' वाले रूप को मानव सदैव से 'रूप-रेख-गुन जाति जुगुति सह' बनाकर उसे समझने और प्राप्त करने का प्रयत्न करता आया है। अग्नि-विद्या, मधु-विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना आदि के द्वारा उस अतीन्द्रिय ग्राह्य को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा मानव के जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा रही है। इस प्रकार उसकी निरा-

कारता को खण्डित किए बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य-भावना की मूल है।

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर प्राणी उससे तादात्म्य स्थापित कर एकाकार हो जाना चाहता है। इसके लिए वह साधना के दो रूप अपनाता है—एक अपने भीतर और दूसरा अपने बाहर। अपने को पूर्ण बनाना और पूर्ण में अपने को मिला देना—परिणाम में एक ही होने पर भी व्यापार में भिन्न हैं। इसीलिए तुलसी ने कहा था कि "तुहि प्रिय लागै राम कै तू रामहिं प्रिय होय।" इस प्रकार साधना के इन विभिन्न मार्गों पर चलते हुए भक्त के कई रूप हो गए। उसकी पलायन, दीनता, आहत भावना ने भय, दैन्य और निराशा की सृष्टि कर उसे आर्त भक्त बनाया; संग्रह प्रवृत्ति ने अर्थार्थी, जिज्ञासा ने जिज्ञासु, और आत्म प्रकाश ने मुमुक्षु। इसमें साध्य की एकता थी परन्तु साधन विभिन्न थे। इसी से अनेक पंथों का निर्माण हुआ। विभिन्न प्रतीकों के रूप में उस अव्यक्त सत्ता की खोज और आराधना चलती रही। और आज तक भिन्न रूपों में चल रही है। उस अज्ञात को जानने की यही भावना और प्रयत्न रहस्यवाद कहलाता है। अर्थात जहाँ आत्मा परमात्मा से मिलने का प्रयत्न करती है और उसे प्राप्त कर उसमें लय हो जाना चाहती है तब उस आत्मा के जो उद्‌गार निसृत होते हैं काव्य में वही रहस्यवाद कहलाता है।

ब्रह्म की इस प्राप्ति की साधना में तीन सोपान माने गए हैं—साधारण प्राण से विश्व प्राण और विश्व प्राण से महाप्राण। अर्थात् पहली अवस्था में साधक स्वप्राण की ही साधना में रत रहता है, दूसरी अवस्था में वह विश्वप्राण की अनुभूति में समस्त जगत से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है। तीसरी अवस्था में वह 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है।

रहस्यवाद की सत्ता काव्य और दर्शन दोनों में है। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उद्‌गम स्रोत हृदय। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उद्‌गम स्रोत मस्तिष्क। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में सांसारिक अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय तथा ज्ञान चिन्तना आदि प्रमुख तत्व हैं। भावना का रहस्यवाद अपने प्राणों में तीन मुख्य तत्व लेकर चलता है—मानव प्रेम, आश्चर्य का भाव और आत्मा की परमात्मा से विरह-अनुभूति। तुलसी और कबीर के रहस्यवाद में इसी मानवप्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। तुलसी इसी के कारण—"सियाराममय सब जग" मानते हैं। आश्चर्य का भाव कवि को बालक के समान अबोध बना देता है। ऋग्वेद की

ऋचाओं में, गीता के विराट स्वरूप-प्रदर्शन में तथा कबीर की उलटवांसियों में इसी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। तुलसी का प्रसिद्ध पद "केशव कहि न जाय का कहिए" इसी आश्चर्य का प्रतीक है। महादेवी वर्मा ने निम्न पंक्तियों में इसी आश्चर्य के भाव का बड़ा सुन्दर और रहस्यवादात्मक काव्यमय भावचित्र अङ्कित किया है—

"शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार - सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?"

आत्मा परमात्मा का अविच्छिन्न अंश है। इसको उससे बिछुड़े हुए न जाने कितना समय बीत चुका है। उस 'महामिलन' का क्षण अभी नहीं आया। आत्मा इसी 'महाविरह' में क्रन्दन कर उठती है—

"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के।।" —प्रसाद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद की विभिन्न व्याख्यायें की हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि—"साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" बाबू गुलाबराय का मत है कि—"प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है और उसके मूर्त की अमूर्त से तुलना करने वाले अलङ्कार-विधान में, जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल', लहरों के लिये 'इच्छाओं सी असमान' तथा मानवीकरण प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणत हो जाता है।" 'साहित्य विवेचन' के लेखक द्वय के शब्दों में—"रहस्यवाद अन्तरात्मा की उस रहस्यमय भावना का नाम है जिससे वह अज्ञात शक्ति को पाना चाहता है और उससे ऐसा गाढ़ा नाता जोड़ना चाहता है जिससे वह और उसका प्रियतम कभी भिन्न न हों।" गंगाप्रसाद पांडेय रहस्यवाद की विवेचना करते हुए कहते हैं कि—"रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महाअस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।" एक अन्य लेखक का कहना

है कि—"निराकार के प्रति प्रणयानुभूति रहस्यवाद का मूल तन्तु है और निराकार के प्रति काल्पनिक प्रणयानुभूति की साहित्यिक अभिव्यक्ति रहस्यवादी काव्य का मूल है।" डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।" उपर्युक्त सभी मतों से केवल आत्मा और परमात्मा के मिलन के प्रयत्न और मिलन की ही ध्वनि निकलती है। इस प्रकार रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं। उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनतापूर्ण आध्यात्मिक है।

अनेक सन्तों ने अपनी साधना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस मार्ग की अपनी विभिन्न अनुभूतियों को भी व्यक्त किया है जिसका क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है—

१—प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना—वैदिक ऋचा "कस्मै देवाय हविषा विधेय" में यही जिज्ञासा है। प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे लिए भयकारक और आनन्ददायक दोनों ही रहीं जिससे आश्चर्य और कुतूहल की सृष्टि हुई। फिर यह जिज्ञासा हुई कि इनका विधायक कौन है? यह बुद्धि की सीमा से परे है। यदि उसका 'कौन' का परिचय मिल भी गया तो उसकी अभिव्यक्ति असम्भव है—वह गूँगे के गुड़ के समान है—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो, भार विचार न सह सकता॥" प्रसाद

२—महत्ता और अनिर्वचनीयता—साधक अपनी अनुभूति की व्यापकता में उस 'अव्यक्त' सत्ता के व्यापकत्व का अनुभव कर उसकी महत्ता से अभिभूत हो उठता है। उसके महत्व का ज्ञान प्राप्त करना मानो उसी में लय हो जाना है। कबीर कहते हैं—

"लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल॥"

साधक को प्रकृति के कण-कण में उसी का प्रभाव, उसी का रूप और उसी का सौन्दर्य दिखाई देने लगता है—

"नयनन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥" जायसी

उसका रूप अनिर्वचनीय है। अनेकानेक चिन्तन-प्रणालियों ने उसके

स्वरूप को अपने तर्क-वितर्क के आवरण से आवृत्त कर डाला है—

"सब कहते हैं खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवन धन की।
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की ॥" कामायनी-प्रसाद

३—दर्शन का प्रयत्न—प्रभु के महत्व का अनुभव होते ही साधक उसके दर्शन के लिए लालायित हो उठता है। कबीर 'कब रे मिलहुगे राम' की रट लगा रहे हैं। जायसी के 'पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई ॥' पास रहते हुए भी दर्शन न होने का बड़ा दुःख है। उसे सदैव यह अनुभव होता रहता है कि प्रियतम अब आए, अब आए—

"नयन श्रवण-मय, श्रवण नयन-मय,
आज हो रही कैसी उलझन,
क्या प्रिय आने वाले हैं ? —महादेवी

४—विभिन्न सम्बन्धों की उद्भावना—साधक प्रभु को अनेक रूपों में देखता है—कभी स्वामी के, कभी माता-पिता के, कभी पति-पत्नी के। पति-पत्नी सम्बन्ध में अधिक निकटता होती है। इसी दाम्पत्य-भाव में उत्सुकता, सौंदर्यानुभुति, करुणा-विरह, मिलन-सुख आदि की उत्पत्ति होती है। प्रभु और साधक के बीच माया का अवगुंठन पड़ा हुआ है। जब यह दूर हो जाता है तो साधक को अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

५—प्रभु से एकाकारिता—यह रहस्यमयी भूमिका की अन्तिम स्थिति है जिसमें साधक को प्रभु में तन्मयी भावत्व की उपलब्धि होती है। सखा भाव की स्थिति तक आते-आते वह सखा के रूप में ब्रह्म की प्रत्येक लीला के साथ अपने को अनन्य मानता है। इस स्थिति में उसमें न दास की सी दीनता, न पुत्र की सी लघुता और न प्रणय का सा संकोच ही रहता है। उन समस्त मर्यादाओं से मुक्त वह अपने प्रिय का स्वयं भी प्रियतम बन जाता है।

रहस्यवाद कई प्रकार का होता है। बाबू गुलाबराय ने पाँच प्रकार के रहस्यवाद माने हैं—

१—ज्ञान और दार्शनिकता प्रधान रहस्यवाद—जैसे कबीर, दादू, प्रसाद, निराला आदि का। दार्शनिक रहस्यवाद में तर्क कम किंतु आश्चर्य-मयी जिज्ञासा और ऐक्य की अभिलाषामयी भावुकता अधिक रहती है। यथा:

"चढ़कते नयनों में जो प्राण।
कौन किस सुख: जीवन के गान ?

२—दाम्पत्य प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद—जैसे कबीर, जायसी, मीरा और महादेवी आदि। यथा:

"नयनन की कर कोठरी पुतली पलग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लीन्ह बिठाय॥" कबीर

३—साधनात्मक रहस्यवाद—इसमें योग और कर्म काड की साधना का प्राधान्य रहता है जैसे गोरख कबीर आदि का और कुछ प्राचीन तांत्रिकों, महायानी बौद्धों और शाक्तों का।

४—भक्ति और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद—जैसे सूर तुलसी का। इसमें अद्वैत भावना की अपेक्षा सान्निध्य-सुख को अधिक महत्व दिया जाता है। कृष्ण भक्तों में यह रहस्य भावना सखी भावना और दाम्पत्य-भावना का रूप धारण कर लेती है। तुलसी का "सिया राम मय सब जग जानी" वाला पद भी इसी कोटि का है।

५—प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें प्रकृति के माध्यम से परमात्मा की अनुभूति की जाती है। यहाँ आकर यह छायावाद से मिलता जुलता स्वरूप धारण कर लेता है। यथा—

"मिले तुम राकापति में आज,
पहन मेरे दृग-जल का हार।
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूं अविरल जलधार॥
नहीं फिर भी तो आती लाज।"—पंत

हिन्दी में रहस्यवाद का इतिहास उसके प्रारम्भिक युग से ही प्रारम्भ हो जाता है। सर्व प्रथम, इस भावना का दर्शन नाथपंथी योगियों की वाणी में होते हैं। परन्तु वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन सर्व प्रथम भक्ति काल में जाकर कबीर और जायसी के काव्य में ही हुए हैं। कबीर और जायसी हिंदी रहस्यवाद के आदि कवि माने जाते हैं। आचार्य शुक्ल जायसी में शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के सर्व प्रथम दर्शन करते हैं और डा० श्यामसुन्दरदास कबीर को हिन्दी का सर्व प्रथम रहस्यवादी कवि मानते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में—"जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है। बात यह है कि वैदिक ऋषि चिरकाल तक मनन करने के उपरान्त उपनिषद्-काल में इस सत्य पर पहुँचे थे कि संसार में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। माया के कारण सांसारिक जन को उसके भिन्न भिन्न रूप दिखाई देते हैं। द्वैत के अभाव की घोषणा करता हुआ जब यह सिद्धान्त एक और ब्रह्म तथा जीव की एकता तथा

दूसरी ओर ब्रह्म तथा जगत की एकता स्थापित करने लगा तो इसका नाम सर्वा-वाद हो गया।" ज्ञानियों ने इस सत्य का उद्घाटन तर्कों एवं दृष्टान्तों द्वारा किया, परन्तु वह साधारण जनता के मस्तिष्क से परे की वस्तु थी। अतः यह कार्य 'कान्ता सम्मति' उपदेश देने वाले कवियों द्वारा सम्पादित हुआ।

उपनिषदों के इस सर्ववाद के दर्शन हिंदी साहित्य में कहीं नहीं होते। यहाँ तो उस अद्वैतवाद का फारसी रूप ही अधिक दिखाई देता है। सूफी रहस्यवाद, कबीर का रहस्यवाद, तथा परवर्ती प्रेममार्गी कवियों का रहस्यवाद मूलतः भले ही एक रहा हो, पर वाह्य रूप में भिन्न ही है। सूफी कवियों के रहस्यवाद का उत्कृष्ट एवं स्पष्ट रूप जायसी के 'पद्मावत' में प्रकट हुआ है। ब्रह्म तथा जीव को दाम्पत्य प्रेम में बद्ध दिखाकर उनका स्थायी मिलन कराना इसकी विशेषता रही है। कबीर का रहस्यवाद सूफियों से कुछ भिन्न है। कबीर ने केवल सूफियों की मनोरम शैली अपनाई है, सिद्धान्त नहीं। उनमें भारतीय अद्वैतवाद, इस्लामी एकेश्वरवाद, वैष्णवों की भक्ति तथा अवतारवाद का विचित्र सम्मिश्रण है। संसार में सर्वत्र उसी ब्रह्म का प्रकाश देखकर उसके प्रेम में पड़ जाते हैं और लम्बे वियोग के उपरांत अपने प्रियतम से मिलकर एकाकार हो जाते हैं। कबीर से पूर्व अव्यक्त और अशरीरी ब्रह्म के साथ प्रणय की भावना नहीं थी। कबीर के उपरान्त मीरा में इसके दर्शन हुए। मीरा की भक्ति भावना और सन्तों की रहस्य साधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। तुलसी के भी 'केशव कहि न जाय का कहिए" जैसे पदों में रहस्य भावना मिल जाती है। सगुण भक्तों में स्पष्ट रूप से रहस्यवाद के दर्शन नहीं होते। मीरा के अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों में ताज,रसखान, घनानन्द आदि में भी रहस्यात्मक उक्तियाँ मिलती हैं पर वास्त-विक रहस्यवाद कबीर और जायसी के उपरान्त केवल आधुनिक कवियों में ही मिलता है जिनमें प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी विचारधारा भारतीय होते हुए भी उनकी अभिव्यक्ति पर कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा अंग्रेजी काव्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इनमें सूफियों की सी तन्मयता न होकर भी उच्चकोटि की भावुकता है।

वर्तमान काल में रहस्यवाद का कहीं कहीं बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। इसका सहारा लेकर अनेक कवि अत्यन्त रूढ़िग्रस्त भाषा के माध्यम से हृदतंत्री के टूटे तारों के राग अलापने लगे हैं। उनमें वास्तविक अनुभूति तो होती नहीं किन्तु अपनी दुरूह भाषा द्वारा वे उसे उत्पन्न करने का प्रयास अवश्य करते हैं। आधुनिक कवियों में वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन केवल महादेवी वर्मा में

मिलते हैं। रहस्यवाद तो सदैव से रहा है और जब तक संसार पूर्ण वास्तविक नहीं हो जायगा तब तक न्यूनाधिक मात्रा में रहेगा। वैसे आज के युग में कोई भी इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करता। भावी संघर्ष के युग में तो इसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

रहस्यवादी काव्य का कलापक्ष छायावादी काव्य के कलापक्ष के ही समान है। इसकी शैली पर छायावादी शैली का पूर्ण प्रभाव है क्यों कि वर्तमान रहस्य वादी सभी कवि छायावादी रहे हैं। सदैव से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति पदों (या गीतों) द्वारा होती आई है इसलिए आधुनिक युग में गीतों का ही प्राधान्य है। प्राचीन कवियों में से केवल जायसी ने प्रबन्ध काव्य द्वारा रहस्य-वाद का अंकन किया है। कबीर, मीरा आदि अन्य सभी रहस्यवादियों ने मुक्तक पदों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

आधुनिक कुछ आलोचक रहस्यवाद को छायावाद की द्वितीय अवस्था मान कर इनमें मूलतः कोई अन्तर नहीं मानते। अतः इस निबन्ध को समाप्त करने से पूर्व इस पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। बाबू गुलाबराय छाया-वाद और प्राकृतिक रहस्यवाद दोनों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक मानते हुए भी दोनों में थोड़ा सा अन्तर पाते हैं। छायावादी प्रकृति को व्यक्ति का रूप देना चाहता है किन्तु प्राकृतिक रहस्यवादी "प्रकृति को समष्टि रूप में लेकर उसके दर्पण द्वारा अपने प्रियतम की छाया देखता है।" वह प्रकृति के अव-गुंठन में छिपी हुई सत्ता को झाँक कर देखना चाहता है। उसमें एक विचार भावना रहती है और छायावादी में सौन्दर्य की भावना का प्राधान्य रहता है। छायावाद में प्रकृति में मानवीय-भावनाओं का आरोप होता है और रहस्यवाद में प्रकृति में उस असीम सत्ता का आरोप होता है। छायावादी कवि प्रकृति में भौतिक मांसलता देखता है और रहस्यवादी उसमें परमात्मा का रहस्यमय आभास पाता है। निम्न अवतरणों से दोनों का प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा—

छायावादी कवि 'जुही की कली' को देखकर कह उठता है—

"—विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल-तनु, तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।"

रहस्यवादी कवि— "किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार।

अनिल से चल पंखों के साथ
दूर हो उड़ जाती झंकार।
जन्म ही जिसे विरह की रात
सुनावे क्या वह मिलन प्रभात।"

इन दोनों की शैली तो एक ही है परन्तु रहस्यवाद की भावभूमि छायावाद से अधिक उच्च और सूक्ष्म है। प्रकृति के विभिन्न पदार्थ दोनों में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। परन्तु छायावाद में ये पदार्थ स्वयं स्वतन्त्र वर्णन के विषय होते हैं और रहस्यवाद में ये स्वयं विषय न रह कर किसी भाव को घनीभूत करने में सहायक या अज्ञात सत्ता के अव्यक्त इंगितों का सन्देश देने वाले होते हैं। इसीलिए रहस्यवाद में भी प्रकृति का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कि छायावाद में। कवि सम्पूर्ण प्रकृति में उसी अव्यक्त सत्ता का आभास पाता है। प्रकृति भी कवि के समान 'उसके' विरह में अश्रुमुखी दिखाई देती है। जायसी ने तो सम्पूर्ण प्रकृति को 'उसके' विरह में दग्ध होते हुए दिखाया है। महादेवी प्रिय से निवेदन करती हैं कि हे निष्ठुर देखो सम्पूर्ण सृष्टि मिटी जा रही है। केवल मैं ही तुम्हारे वियोग में नहीं मिट रही हूँ—

"हँस देता नव इन्द्र धनुष की स्मिति घन मिटता मिटता,
रंग जाता है विश्व राग से निष्फल दिन ढलता-ढलता,
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता-झरता,
भर जाता आलोक तिमिर में, लघु दीपक बुझता-बुझता,
मिटने वालों की है निष्ठुर,
बेसुध रंग रलियाँ देखो।"

छायावादी काव्य भी शृङ्गार प्रधान है और रहस्यवादी काव्य भी। छायावाद में शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग मिलते हैं परन्तु रहस्यवाद में केवल वियोग पक्ष। रहस्यवादी कवि का विरह प्रकृति व्यापी है। विरह की शीतल ज्वाला कवि को उस असीम प्रिय के प्रति प्रेमोन्मुख रखती है—

"शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का
क्यों व्यर्थ श्वाँस चल चल कर
करती है काम अनिल का।" —प्रसाद

कवि की जीवन संध्या में उसका प्रियतम अद्भुत और अरूप सौंदर्य से आवृत, जिसमें रहस्य था, आया—

"शशि मुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए॥"

महादेवी कहतीं है कि मेरे अस्तित्व से ही ईश्वर की पीड़ा का राज्य चल रहा है। जब मैं ही समाप्त हो जाऊँगी तो फिर वह पीड़ा का राज्य भी समाप्त हो जायगा—

"चिंता क्या है रे निर्मम! बुझ जाए दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अंधेरा।"

आचार्य शुक्ल रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष मानते हैं। महादेवी रहस्यवाद को छायावाद की दूसरी मंजिल मानती हैं। उनके अनुसार छायावाद में कवि सौंदर्य का केवल रसास्वादक के रूप में रहता है। रहस्यवाद में आत्म-निवेदन की भावना भी आ जाती है। प्रसाद छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यपूर्ण अभिव्यंजना मानते हैं जो साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। गंगाप्रसाद पांडेय छायावाद और रहस्यवाद का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए कहते हैं कि—"वास्तव में दोनों एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाए उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।" आगे चलकर इसी विभाजक रेखा की स्थापना करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है; वह केवल आत्मा और जगत के ही प्रदेश में विचरण करता है।""छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किंतु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतन का विकास या आभास पाते हैं, तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी। यही रहस्यवाद और छायावाद का एक छोटा सा अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादी जीवन का कम्पन नहीं, किन्तु अपने प्रियतम की रूप माधुरी देखता है—

"सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव नव अस्फुट हास।"

इन्हीं सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने

लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन—पाश माँगता है—

"गाओ, गाओ, हे कुसुम बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल—गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे॥
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान!
हाँ सखि! आओ बाँह खोल, हम
लगकर गले, जुड़ा लें प्राण!" —पंत

२१—प्रयोगवाद

परिवर्तन जीवन का शाश्वत नियम है। वह साहित्य के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के लिए। परिवर्तन सदैव विकासशील होता है। उसमें एक क्रम रहता है। प्रत्येक परिवर्तन का सम्बन्ध अपने अतीत और वर्तमान दोनों से ही रहता है इसीलिए उसमें एक शृङ्खला, एक नियम, एक पद्धति रहती है जो अपने नवीन प्रयोगों द्वारा भविष्य को वर्तमान में खींचता हुआ इतिहास की सृष्टि करता है। हिंदी साहित्य भी इस प्रकार के परिवर्तनों या प्रयोगों से शून्य नहीं रहा है। वह प्रारम्भ से आजतक विभिन्न प्रकार के प्रयोग करता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर होता आया है। तुलसी ने काव्यशैली और वर्ण्य विषय दोनों के कदाचित सबसे अधिक प्रयोग किये थे परन्तु उनके ये प्रयोग साध्य न होकर साधन मात्र थे।

हिंदी साहित्य में पिछले लगभग १५ वर्षों से एक नवीन प्रकार के काव्य के दर्शन होने लगे हैं जिसे उसके प्रतिष्ठापकों और उन्नायकों ने 'प्रयोगवादी काव्य' की संज्ञा से अभिहित किया है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन जो अब 'अज्ञेय' से ज्ञेय हो गए हैं इसके कर्णधार हैं। उनका तथा उनके सह-धर्मी कवियों का यह मत है कि हमारी सीमा आज भारत तक ही सीमित न रह कर विश्व बन्धुत्व की ओर अग्रसर हो रही है। नवीन युग-चेतना नवीन आदर्शों एवं नवीन संस्कृतियों का निर्माण कर रही है। इसलिए हमें उसे अभिव्यक्ति देने के लिए नवीन भाषा, नवीन प्रतीक और नवीन उपमाओं का सहारा लेना पड़ेगा। हमारी भाषा का अब तक का स्वरूप प्राचीनता के कारण शिथिल और अशक्त होने के कारण नवीन विचारों, अनुभूतियों एवं अभि-व्यक्तियों को वहन करने में असमर्थ है। इसलिये हमें चलती हुई भाषा और आलंकारिक परम्पराओं का मोह छोड़ कर नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसके लिये वे लोग नवीन विषय, नवीन भाषा यहाँ तक कि सब कुछ नवीन ही नवीन लाना चाहते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए 'तारसप्तक' में, जो प्रयोगवादी कवियों की कविताओं का सर्वप्रथम संग्रह है, अज्ञेय ने लिखा है कि—"प्रयोग (या अन्वेषण) सभी कालों के कवियों ने किया है।""किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुये हैं, उनसे आगे

बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।" परन्तु आधुनिक प्रयोगवादी कवियों की कविता से प्रयत्न करने पर भी यह नहीं मालूम हो पाता कि आज कल वे किस अभेद्य क्षेत्र का अन्वेषण करने में संलग्न हैं।

आधुनिक प्रयोगवादी अपने प्रयोगशील काव्य का स्पष्ट विकास सर्व-प्रथम निराला की 'कुकुरमुत्ता' और 'नए पत्ते' जैसी रचनाओं में पाते हैं। पंत छायावादी युग से ही प्रयोगवादी कविता का प्रारम्भ मानते हैं। उनका कथन है कि प्रसाद ने 'प्रलय की छाया' 'वरुणा की कछार' नामक कविताएं लिख कर वस्तु तथा छंद सम्बन्धी नए प्रयोग किए थे। निराला ने मुक्त छंद के अनेक रूप तथा शैलियाँ प्रस्तुत कर उसे निखारा और परवर्ती कवियों ने उसमें युद्धोत्तर कालीन जन भावना, विद्रोह, वैचित्र्य, नवीन वस्तु, नवीन दृष्टि, व्यापक सौंदर्य बोध, तीव्र उद्‌गार तथा अतृप्त रागात्मकता का समावेश कर उसे सब प्रकार से संवारने तथा आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया।

डा० प्रेमनारायण शुक्ल प्रयोगवाद का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि-"द्वितीय महायुद्ध के समय में एक ऐसा जागरूक वर्ग रहा जिसने अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति से असन्तोष अनुभव किया, आर्थिक अव्यवस्था एवं नैतिक पतन ने उसे चिन्तित कर दिया। विवशता की स्थिति में उसकी यह चिन्तना एक प्रकार की खीझ के रूप में व्यक्त हुई। इस खीझ ने उसकी भाषा और अभिव्यक्ति दोनों ही को अव्यवस्थित कर दिया। इस प्रकार हिंदी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही साथ मानना उचित होगा। सन् १९४७ में 'प्रतीक' नामक पत्रिका के कुछ अङ्क भी हिंदी जगत को उपलब्ध हुए। इससे भी प्रयोगवाद का परिचय प्राप्त हुआ। 'तारसप्तक' के बाद सन् १९५१ में दूसरा सप्तक निकला। इसके द्वारा भी प्रयोगवादी रचनाएं प्रकाश में आईं। पटना के दो पत्र 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' भी प्रयोगवादी कविता के इतिहास में अपना महत्व रखते हैं।"

अनेक आलोचक प्रयोगवादी साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य के निकट की वस्तु मानते हैं क्योंकि दोनों का मूल स्रोत एक ही है अर्थात् आर्थिक एवं सामाजिक वैषम्य से उत्पन्न विद्रोह की भावना। प्रयोगवादी साहित्यकार काव्य की शास्त्रीय परिभाषा 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' में आस्था न रख काव्य के द्वारा केवल अपनी विद्रोहात्मक भावना का प्रचार करना चाहता है। वह 'रस' के चक्कर में न पड़ कर केवल यह जानना चाहता है कि उसके काव्य ने जन-

जीवन को कितना प्रभावित किया है। अज्ञेय का कथन है कि वे 'स्वांतः सुखाय' नहीं लिखते। उनकी अभिव्यक्ति को सुनने या पढ़ने के लिए किसी श्रोता या पाठक का होना अनिवार्य है। परन्तु नवीन प्रयोगवादी कवि अपनी बुद्धि और भावना के संघर्ष में इस बुरी तरह दब जाता है कि वह अपने पाठक और श्रोता के बीच के द्वन्द्व को मिटा ही नहीं पाता क्योंकि उसकी 'संवेदना' स्पष्ट न होकर उलझी हुई रहती है। फिर जन-जीवन को इस प्रकार का काव्य प्रभावित कैसे कर सकेगा ? इसके विपरीत प्रगतिवादी जो कुछ कहता है वह बिल्कुल स्पष्ट और संवेदना से परिपूर्ण होता है। उसमें उलझाहट का नाम भी नहीं होता। इसी से वह जन-जीवन को प्रभावित कर सका है।

दूसरी बात जो अज्ञेय ने प्रयोगवादी कवियों के लिये कही है वह यह है कि—"उनके (तारसप्तक के कवियों) तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।....काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।....उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी अलग अलग राय है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पिति घी की बुराई अथवा काननवाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हंसते हैं।" समझ में नहीं आता कि अज्ञेय जी उपर्युक्त शब्दों में प्रयोगवादी कवियों का मजाक उड़ा रहे हैं या उनकी व्याख्या कर उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। यदि तारसप्तक के सभी कवि अपनी ही बात और दृष्टिकोण को छोड़कर सम्पूर्ण दूसरे सिद्धान्तों, रुचियों, मान्यताओं, पद्धतियों आदि पर आस्था नहीं रखते यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों तक पर हंसते हैं तो उन्हें उठाकर किसी चिड़िया घर के कठघरों में बन्द कर देना चाहिये जहाँ अलग अलग रहते हुए वे एक दूसरे से लड़ न सकें। ऐसे व्यक्तियों से कल्याणप्रद साहित्य की रचना की आशा कोई जड़ मूर्ख या पागल ही कर सकेगा।

भानमती के पिटारे की विभिन्न अनोखी वस्तुओं के समान अपना पृथक

अस्तित्व, जो जन-जीवन से परे है, रखने वाले तथा अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग अलापने वाले इन कलाकारों (?) से हम क्या आशा करें। क्या अपने साहित्य द्वारा ये हमें कोई नवीन चेतना या सन्देश दे सकेंगे। हम ऊपर कह आए हैं कि इनमें विद्रोह की भावना है परन्तु विद्रोह की भावना का यह अर्थ तो नहीं कि आप खिन्न होकर अपने कपड़े फाड़ने लगें, दूसरों का मजाक उड़ाने लगें या पागल का सा अनर्गल प्रलाप करने लगें। ऐसा करके आप समाज का क्या कल्याण कर सकेंगे। या तो अज्ञेय इन प्रयोगवादियों के प्रच्छन्न शत्रु है या उन्हें मति भ्रम हो गया है। यदि प्रयोगवादी कवि ऐसे ही हैं जैसा कि अज्ञेय ने उन्हें ऊपर के उद्धरण में चित्रित किया है तो भगवान उनसे बचाए।

पं० नन्ददुलारे बाजपेयी का कथन है कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिनका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज सम्बन्ध नहीं है।" अंत में बाजपेयी जी ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष दिए हैं—

१—प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२—प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य-प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं।

३—प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

कवि का उत्तरदायित्व प्रधान रूप से तीन वस्तुओं के प्रति होता है—१—व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति, २—काव्य-सत्ता के प्रति और ३—सामाजिक जीवन के प्रति। हमारे प्रयोगवादी कवि इन तीनों ही उत्तरदायित्व से पूर्ण रूपेण शून्य हैं।

हम ऊपर अज्ञेय के एक मत का उल्लेख कर आये हैं। अब अन्य प्रमुख प्रयोगवादी कवियों के साथ उनके दूसरे मत का उल्लेख भी आवश्यक है—

अज्ञेय—"प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

धर्मवीर भारती—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न-चिह्न लगा है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनि मात्र है।"

गिरजाकुमार माथुर—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्व बोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके।"

प्रभाकर माचवे—"हिन्दी कविता में विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, आदि का विकास होना चाहिए।........हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिम्ब बर्चों के से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परंपरागत होते हैं। इनके बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रियक, आवेगाश्रित और अभिजात मूर्त विधान करना है।" इसीलिए "प्रयोगशील अभिव्यंजना (या प्रयोगवादी कविता) के मध्य मार्ग पर चलने की आवश्यकता और गुंजायश है।"

शिवमंगलसिंह 'सुमन' प्रयोगवादी काव्य में ऊपर से तो शैलीगत और व्यंजनागत चमत्कार तथा अन्दर से विषयगत और वस्तुगत तत्व का भी पूर्ण समावेश मानते हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि प्रयोगवाद में अभी तक शैलीगत और व्यंजनागत चमत्कार के ही दर्शन विशेष रूप से हुए हैं विषयगत और वस्तुगत तत्व का पूर्ण समावेश अभी भविष्य के गर्भ में है।

अब प्रयोगवादी कुछ कविताओं के दर्शन कर लेना भी आवश्यक है। अज्ञेय की 'प्रथम किरण' नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"भोर की प्रथम फीकी किरण,
अनजाने जागी हो याद किसी की,
अपनी मीठी, नीकी।
धीरे धीरे उदित रवि का लाल-लाल-गोला,
चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाखी बोला।"

इन पंक्तियों में असंगतियों की भरमार है। भोर की प्रथम किरण का

फीका होना जब कि वह हल्की गुलाबी आभा से परिपूर्ण होती है। फिर किसी की 'मीठी और नीकी याद' से उसकी तुलना। यदि किरण में फीकापन न दिखाया गया होता तो यह समता अत्यन्त सुन्दर बन पड़ती। और वह किरण फीकी कब है जब 'रवि का लाल लाल गोला' उदित हो रहा है। उसकी लाली से भी किरण का फीकापन दूर नहीं होता। दूसरी विशेषता यह कि सूर्य के उदय होने पर कोई 'बन-पाखी' चौंक कर बोल उठा। सब जानते हैं कि पक्षी सूर्योदय से बहुत समय पूर्व ही उठकर कलरव करने लगते हैं। परंतु यह तो प्रयोग वादी कविता है। इसमें यदि कोई नवीनता न हुई तो उसका उद्देश्य ही क्या? प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन का प्रयोग दृष्टव्य है।

एक दूसरा उदाहरण शमशेर बहादुर सिंह की 'सावन की बहार' कविता का देखिए—

"पूर्णिमा से भर उठी है आज की बरसात की रात,
घोल में इन बादलों के सांवली मिट्टी घुली है।
खो गई है बहुत कोमल झलक जैसे,
किसी की गोदी के झमकड़े की,
हाँ इसी आकाश में मानो।"

सावन की बहार में बरसात की रात का पूर्णिमा से भर उठना ही इसका नया प्रयोग है। साधारणतः ऐसा नहीं होता। भावों की संप्रेषणीयता की दृष्टि से एक प्रयोगवादी का उत्साह देखिये—

"मेरे सपने इस तरह टूट गए
जैसे भुंजा हुआ पापड़।

यह नवीन उपमा देने का नवीन प्रयोग है। एक और कविता देखने योग्य है—

"झननन झननन
घननन घननन
दीप जला
दीप बुझा।"

यहाँ कवि न मालूम किस रस की सृष्टि करना चाहता है। कुछ प्रयोग-वादी कलाकार चीनी काव्य से प्रभावित होकर केवल शब्दों के प्रयोग द्वारा क्रिया के भाव का अनुभव कराना चाहते हैं—

"मेंढ़क पानी झम्प"

इसमें और अबोध बालकों की सांकेतिक और संक्षिप्त भाषा में क्या अंतर

हैं। कदाचित कलाकार अस्फुट स्वरों में अपने अस्फुट भावों को अभिव्यक्त करके उनके भावों को समझने एवं अर्थ लगाने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पाठक पर छोड़ देने का नवीन प्रयोग कर रहा है।

अब भाषा के कुछ प्रयोग भी देख लेने चाहिए। रघुवीर सहाय की एक कविता प्रस्तुत है—

"शक्ति दो बल दो हे पिता।
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय॥

\+ \+ \+ \+

कैसे सहा होगा, पिता, तुम कैसे बचे होगे?
तुमसे मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
उसे क्या करें!
तुमने जोरी अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें! कहीं—अपने पुत्रों, मेरे छोटे
भाइयों के लिए, यही कहो।"

ऊपर 'थकने आय' क्रिया का प्रयोग खड़ीबोली की दृष्टि से ग्राम्य प्रयोग है। साथ ही सरल, चलताऊ भाषा में 'विक्षत', 'अनाहत', 'जिजीविषा' जैसे क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी इस प्रयोगवादी कविता की एक विशेषता (?) है। इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा एक अजब खिचड़ी भाषा की उत्पत्ति होती जा रही है। वे लोग शब्द के संस्कार और उसमें व्याप्त अपने अर्थ गाम्भीर्य की ओर कोई ध्यान नहीं देते।

छन्दों के क्षेत्र में इन कवियों ने प्रायः मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। परन्तु उसमें वह सफाई और सुघड़ता नहीं है जो निराला आदि के मुक्त छन्दों की विभूति हैं। इसी तरह उपमानों की योजना, रूपकों का विधान आदि में भी ये कवि निरालापन लाने का प्रयोग कर रहे हैं। यथा—

"कितनी सहमी सहमी सी क्षिति की सुरमई पिपासा"
"पहले दरजे में लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने····"
"पूरब दिशि में हड्डी के रंग वाला बादल लेटा है।"

'पिपासा' के साथ 'सुरमई' विशेषण न मालूम किस भाव सृष्टि का सृजन कर रहा है! 'कफन की भाँति उजले वस्त्र' विकृत रुचि का प्रदर्शन मात्र कर रहे हैं किसी सौंदर्य का नहीं। इसी प्रकार बादल को हड्डी के रँग वाला बताना भी सुरुचि का परिचायक नहीं है।

परन्तु प्रयोगवाद में सब कुछ बुरा ही बुरा नहीं है। कुछ कवि अपनी सहज अभिव्यक्ति के द्वारा मानव हृदय को स्पर्श करने में समर्थ हुए है। यथा—

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे, सावन सरसा री॥
बादल आए आसमान में, धरती फूली री।
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली भूली री॥
बिजली चमकी भाग, सखी री दादुर बोले री
अंध प्राण ही बहो, उड़े पंछी अनमोले री॥

भवानीप्रसाद मिश्र

उक्त कविता में एक सहज कोमलता एवं माधुर्य है। कवि की दीन दशा का चित्रण करते हुए एक दूसरी कविता द्रष्टव्य है—

"जी, बहुत देर लग गई हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ।
मैं बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ
या भीतर जाकर पूछ आइए आप
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप।
क्या करूँ मगर लाचार हार कर गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।"

आज पूँजीवादी समाज व्यवस्था में कवि का जीवन कितना कठोर हो उठा है इस पर कठोर व्यंग्य है।

प्रयोगवाद की उक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ थोड़ी सी कविताओं को छोड़कर बाकी का सम्पूर्ण प्रयोगवादी काव्य एक लक्ष्य हीन भ्रांत व्यक्ति के समान मुँह ऊपर उठाए चला जा रहा है। इसी बात को लक्ष्य कर नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि—"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।" प्रयोगवादी कवि यह भूल जाता है कि वर्णन मात्र ही काव्य नहीं है। वर्ण्य विषय के साथ कवि की अनुभूति का मिश्रण होना चाहिए तभी वह प्रभावोत्पादक बन सकता है। डा० प्रेमनारायण शुक्ल के शब्दों में—"आज का प्रयोगवादी कदाचित रस की चिन्तना रूढ़िवादिता मानता है। ऐसे स्वयंभू कवियों की इस अहम्मन्यता के परिणामस्वरूप ही साहित्यिक क्षेत्र में विकृति उत्पन्न हो रही है।" इसी कारण प्रयोगवादी साहित्य की आलोचना करते हुए सुमित्रानन्दन पन्त को

कहना पड़ा है कि—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कुतर्कों में फँसकर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल, छल-छल करती हुई, फ्रॉयडवाद से प्रभावित होकर, स्वप्निल-फेनिल स्वर-संगीत हीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन-अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई, दमित कुण्ठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक-चेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर अड़ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोंघों मेढ़कों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।"

२२—हालावाद

फारसी के तीन प्रसिद्ध कवि मौलाना रूम, हाफिज और उमर खैयाम के काव्य के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य में हरिवंश राय 'बच्चन' द्वारा जिस मादक कविता का प्रणयन किया गया उसे आलोचकों ने 'हालावाद' के नाम से पुकारा। फारस के इन रहस्यवादी सूफी कवियों ने इस्लाम के कट्टर आचार-वाद के विरुद्ध विद्रोह किया जिसके फलस्वरूप इनमें गुह्य साधना, चमत्कार, सुरा-प्रेमोन्माद का अजस्त्र प्रवाह चल निकला। सूफी कवि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अपने उस रहस्यमय प्रिय का आभास पाकर हर्षोन्मत हो उठता है। उसके इस हर्ष में शराब के नशे की सी तीव्रता, मादकता और खुमारी रहती थी। फारस इस्लाम का अनुयायी था। इस्लाम में शराब को हराम माना गया है। ये सूफी विद्रोही थे। इसलिए रोजे और नमाज की अवहेलना कर ईश्वरीय प्रेम के इस शराब जैसे नशे में मस्त होकर उन्होंने अपनी भावनाओं को प्रकट किया। सम्भवतः शराब के इस अधिक वर्णन का कारण यह था कि ईश्वर प्रेम के नशे की तुलना केवल शराब के नशे से ही की जा सकती थी। इस तरह शराब वहाँ ईश्वरीय प्रेम की प्रतीक बनगई थी। दूसरे शराब का नाम लेने से इस्लाम के 'कठमुल्लावाद' के प्रति विद्रोह की भावना भी व्यक्त हो जाती थी। इसी नशे में डूबकर उन्हें 'इलहाम' होता था और उस तन्मयता की अवस्था में रूह और खुदा में कोई अन्तर नहीं रह जाता था। इसी तन्मयता में विभोर होकर सूफी कवि कह उठा था—

"मज़ा शराब का कैसे कहूँ तुमसे ज़ाहिद।
हाय कम्बख्त तूने पी ही नहीं॥"

फारस के इन सूफी कवियों ने, जिन पर इस्लाम के कट्टर अनुयायियों ने भयङ्कर अत्याचार किए थे तथा कुछ को सूली पर भी चढ़ा दिया गया था, शराब, सुराही, साकी, प्याला और मीना (बोतल) आदि वस्तुओं को अपने काव्य में प्रतीक रूप में उपस्थित कर अपनी स्वतन्त्रता और तन्मयता का इज़-हार किया। इनका विश्वास था कि खुदा रोजा, नमाज आदि के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे उससे तादात्म्य करने के लिए उत्सुक थे और यह प्रेम की गहन तन्मयता द्वारा ही सम्भव था। इस प्रेम की अत्यधिक तन्मयता

में आकंठ निमग्न इन सूफी साधकों को केवल शराब ही एक ऐसी वस्तु दिखाई दी जिसकी तन्मयता की तुलना ईश्वरीय प्रेम की तन्मयता से की जा सकती थी। इसीलिए उसी को आधार बनाकर उन्होंने अपने उद्गारों को लौकिक बाना पहना दिया। उपरोक्त तीनों सूफी कवियों में से उमर खैयाम ने अपनी प्रसिद्ध रुबाइयों द्वारा सबसे अधिक गहन तन्मयता का प्रदर्शन किया और सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। उसकी रुबाइयों में इस स्वच्छन्द वृत्ति का प्रकाशन इतना मादक और मनोरम हुआ है कि आज उसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि फिट्जराल्ड केवल उसकी रुबाइयों का अँग्रेजी अनुवाद कर अँग्रेजी साहित्य में अमर हो गया।

उमर खैयाम का हिंदी साहित्य पर प्रभाव अंग्रेजी के माध्यम से ही पड़ा। फिट्जराल्ड का अनुवाद सर्व प्रथम सन् १८५६ में प्रकाशित हुआ परन्तु प्रारम्भ में इसे कोई विशेष सम्मान नहीं प्राप्त हो सका किंतु बाद में जब पारखियों की दृष्टि इस अनुवाद पर पड़ी तो उसे इतनी प्रसिद्धि मिली कि उसके जीवन-काल में ही इसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए। हिन्दी में इसके अनेक अनुवाद निकले। सम्भवतः 'सरस्वती' द्वारा सन् १६२७-२८ के लगभग सर्वप्रथम हिन्दी में उमर खैयाम की रुबाइयों की चर्चा प्रारम्भ हुई। इन रुबाइयों की मादकता ने बहुत शीघ्र हिंदी संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और कुछ नवयुवक कवियों ने शराब की इस मादकता का प्रकाशन अपनी कविताओं द्वारा प्रारम्भ कर दिया जिनमें बच्चन, पद्मकान्त मालवीय, हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश,' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि प्रमुख हैं। इन कवियों की इस भावना और आकर्षण के मूल में तत्कालीन परिस्थितियां काम कर रही थीं। सन् १६३० से लेकर १६३५ तक का समय भारतीय इतिहास में राजनीतिक निराशा का समय था। गोलमेज़ कान्फ्रेंस असफल हो चुकी थी। क्रांतिकारियों का दमन किया जा चुका था। दूसरी ओर समाज पर गांधीवादी नैतिकता का दबाव बढ़ता जा रहा था। साहित्य के क्षेत्र में छायावाद के सूक्ष्म वासनात्मक और सौन्दर्यपरक उद्गारों से कवियों को पूर्ण तृप्ति नहीं मिल सकी थी। जनता कुछ ऐसी चीज चाहती थी जिसके खुमार में डूब कर वह वर्तमान निराशा की कचोट को भूल जाय। साहित्य की बंधी हुई परम्परा के प्रति विद्रोह कर बच्चन आदि ने जनता को ऐसे ही काव्य का सृजन कर उसे कुछ समय तक मद-विभोर बना दिया। और ये कवि इस भावना में स्वयं डूब कर अपनी निराशा को कुछ समय तक भूल गए।

हिन्दी साहित्य में हालावाद एक तूफान की तरह आया। इसकी आयु

सन् १६३३ से लेकर १६३६ तक केवल चार वर्ष की ही रही। वह जितनी तेजी से उठा था उतनी ही शीघ्रता से विलीन हो गया। हिंदी साहित्य की सम्पूर्ण धाराओं एवं सम्पूर्ण वादों में से 'हालावाद' की आयु सबसे कम रही। इसका कारण यह था कि इसकी उत्पत्ति कुछ तरुण कवियों की घोर वैयक्तिकता से हुई थी। यह कुछ ऐसे मानसिक रूप से विभ्रांत युवकों का उद्गार था जो सामाजिकता को अभिशाप मान कर व्यक्तिगत प्रेम, वासना एवं क्रीड़ा का स्वतन्त्र और निरपेक्ष राज्य चाहते थे। बच्चन ने जो कुछ लिखा वह उन पर स्वयं बीत चुका था। उनकी रुद्ध वासनाओं को उमर खैयाम की रुबाइयों में अपनी रुद्ध प्रवृत्तियों का प्रकार मिला। जहां तक इनकी रचनाओं के वर्ण्य विषय का सम्बन्ध है इनमें उमर खैयाम की अनुकरण प्रवृत्ति का दर्शन होता है किंतु उसकी सी मस्ती और दर्शन का इनमें अभाव है। "अधिकांश हालावादी रचनाएँ ऊबे हुए मन को सान्त्वना देने के लिये एक हलकी सी तरंग के समान है। हालावादी साहित्य उस लहर के समान है जो आती तो बड़े वेग से है, किंतु तटीय प्रान्त को सिक्त करने के पश्चात् तत्क्षण ही शान्त हो जाती है।

पं० नन्ददुलारे बाजपेयी हालावाद में वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता मानते हुए कहते हैं कि—"इस प्रकार की अनुभूतियाँ हिन्दी के लिए अपरिचित थीं और हिन्दी काव्य की किसी गृहीत परम्परा में नहीं आती थी। साथ ही इनका सामाजिक जीवन-प्रगति में भी कोई सुस्पष्ट योग न था। निराशावादी प्रतिक्रिया के रूप में ही इनकी परख हुई थी।" उस समय जनता का सामाजिक स्तर गिर रहा था। अतः उसके गम को गलत करने के लिए 'हालावादी' साहित्य ने वही काम किया जो शराब करती है जिसके रस में मानव-जीवन के दुख दर्दों की कहानी क्षण भर के लिए भूली सी जान पड़ती है। जिसकी मादकता में अनन्त सुख का प्रादुर्भाव होता है तथा हालावादी कवि झूम झूम कर अपने सुख का अनुभव कर कह उठता है—

> "प्रिये, मदिरा से देना सींच
> अधर मेरे होते मृत-म्लान
> मरूँ तब मदिरा से ही, प्राण
> कराना मेरे शव को स्नान।
> अंगूरी पत्तों से मृत देह
> मूँद, उनकी ही शैया डाल
> सुला देना मुझको चुपचाप
> किसी मधुमय उपवन के पास —बच्चन

हालावादी कवि की दृष्टि में जीवन क्षण भंगुर है, न मालूम कब काल का ग्रास बन जाय इसलिए—

"पिलाकर प्यारी मदिरा आज
नशे में कर दो इतना चूर
भविष्यत् के भय जाएं भाग
भूत के दारुण दुख हों दूर।
प्रिये, लेना मत कल का नाम
नहीं कल पर मुझको विश्वास
अरे, कल दूर, एक क्षण बाद
काल का मैं हो सकता ग्रास
—बच्चन

जीवन में आग लगी हुई है इसलिये—

"कुछ आग बुझाने को पीते यह भी, कर मत इन पर संशय,
मिट्टी का तन, मस्ती का मन क्षण भर जीवन मेरा परिचय।"
—बच्चन

बच्चन ने ऐसे काव्य का सृजन क्यों किया? इसका उत्तर देते हुये उन्होंने लिखा है कि—

"वासना जब तीव्रतम थी, बन गया था संयमी मैं।
हो रही मेरी क्षुधा ही सर्वदा आहार मेरा॥"

परन्तु जब इन वासनात्मक उद्‌गारों को देख कर उन पर चारों ओर से प्रहार होने लगा तो उन्होंने अनुभव किया कि मैंने अपनी असली भावनाओं को प्रकाश में लाकर तथा उन्हें ईमानदारी से समाज के सम्मुख उपस्थित करने में बड़ी गल्ती की थी—

"कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो, जग मुझे साधू समझता॥
शत्रु मेरा बन गया है, छल रहित व्यवहार मेरा।"

विश्व से उसका सम्बन्ध ही क्या है क्योंकि—

"विश्व पूरा कर सका है कौन सा अरमान मेरा।"

इसलिए—

"वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी।"

सामाजिकता से विद्रोह कर कवि ने अपने दृष्टिकोण से वस्तुओं को देखना प्रारम्भ कर दिया है। वह 'पग पायल की झंकार' को सुनते ही 'दीवानों की

होली' के साथ 'मदिरालय के दरवाजों' पर 'मधुप्यास बुझाने' के लिए चल देता है और कह उठता है कि—

"हमने छोड़ी कर की माला, पोथी - पत्रा भू पर डाला।
मन्दिर मस्जिद के बन्दीगृह को तोड़, लिया कर में प्याला।।"

कवि के इस कार्य को लोग भले ही बुरा कहें उसे कोई चिंता नहीं—

"वह पुण्य कृत्य, यह पाप कर्म, कह भी दूँ तो दूँ क्या सबूत,
कब कंचन मन्दिर पर बरसा, कब मदिरालय पर गिरी गाज।"

कवि की दृष्टि में मन्दिर मस्जिद झगड़ा कराते हैं इसलिए वह उन्हें स्वीकार न कर 'मधु सिंचित डगर' पर चल पड़ा है जो आज दुनिया की नज़र में कुपथ पर पाँव रखना है—

"रक्त से सींची गई है - राह मन्दिर मस्जिदों की।
किन्तु रखना चाहता मैं, पाँव मधु सिञ्चित डगर में।।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे - आज दुनियाँ की नजर में।"

कवि के जीवन में एक भयंकर हाहाकार है, चीत्कार है जो उसे चैन नहीं लेने देता। इसलिए वह कुछ क्षणों के लिए अपनी इस वेदना को भुला देना चाहता है—

"मैं कहाँ हूँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है।
विस्मरण दे जागरण के साथ मधुबाला कहाँ है?
है कहाँ प्याला कि जो दे, चिर तृषा चिर तृप्ति में भी
जो डुबा तो ले मगर दे, पार कर, हाला कहाँ है?"

कवि मधुशाला, मधुबाला, प्याला और हाला के सहयोग से अपनी उस वेदना को क्षणभर के लिए भुला देना चाहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह जीवन से भागना चाहता है। उसमें जीवन से पलायन की भावना नहीं है। वह स्पष्ट कहता है—

"राग के पीछे छिपा, चीत्कार कह देगा किसी दिन।
हैं लिखे मधु गीत मैंने, हो खड़े जीवन-समर में।।"

क्योंकि कवि ने जीवन में बहुत दुख पाए हैं। वह स्वयं अपने मार्ग से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ता केवल क्षणभर की मादकता में अपने जीवन-व्यापी अवसाद को भुला देना चाहता है। इसके लिए वह स्वयं से सन्तुष्ट नहीं है—

"मैं हँसा जितना कि खुद पर—
कौन हँस मुझ पर सकेगा
और जितना रो चुका हूँ—रो नहीं निर्झर सकेगा।"

इसलिए वह अपने इस हास-रुदन को क्षण भर के लिए भुलाने का प्रयत्न करता है—

"निस्मृति की आई है बेला, कर पाँय न इसकी अवहेला।
आ भूलें हास रुदन दोनों---मधुमय होकर दो चार पहर॥"

कवि को मधुशाला में विश्रान्ति प्राप्त होती है इसलिए वह उसके लिए प्रेय और श्रेय दोनों ही हैं। वह वेदों के ठेकेदारों को अपनी मधुशाला की महत्ता बताता है—

"वेद विहित यह रस्म न छोड़ो, वेदों के ठेकेदारो।
किसी तपोवन से क्या कम है मेरी पावन मधुशाला॥"

साथ ही वह इस्लाम की कट्टरता पर आक्षेप करता हुआ कहता है—

"शेख कहाँ तुलना हो सकती, मस्जिद की मदिरालय से।
चिर विधवा है मस्जिद तेरी, सदा सुहागिन मधुशाला॥"

हमने ऊपर बच्चन के 'हालावाद' की उन्हीं के दृष्टिकोण के व्याख्या की है। अब साथ ही इस पथ के अन्य पथिकों का भी परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है। 'हृदयेश' ने हाफिज़ और उमर खैयाम की शीराजी अंगूरी को भारतीय सोमरस और द्राक्षासव के बीच की वस्तु मानकर अपने काव्य का उसे आधार बनाया। उन्होंने आँख मूंद कर फारसी कवियों का अनुकरण नहीं किया। फारसी कवि जहाँ आनन्द की तृप्ति के लिए दरिया का किनारा, चारों ओर चमन की बहार, अँगूरी लताओं के झुरमुट में बगल में साकी और हाथ में 'मये अर्गवानी' (शराब की सुराही) का जामे गुलेरंग देखता है वहाँ 'हृदयेश' का हृदय उसे पूर्णतः भारतीयता के रंग में देखना चाहता है—

"यमुना तट पर कदम कुंज में खुली स्नेह की मधुशाला।
श्याम-सलोना सा प्रिय प्यारा अधर मुरलिया का प्याला।
झूम रहे हैं पीने वाले भूल रहे हैं जगती को।
प्रणय मदोत्पादक श्रवणों में घुल कर स्वर आसव ढाला॥"

हृदयेश ने माया को मधुबाला का रूप प्रदान कर जीवन के तथ्य को व्यक्त किया है—

"योगी पीते भोगी पीते पंडित प्याला पर प्याला।
यही विरत बैरागी पीते तन का होश भुला डाला।"

× × ×

दुनियाँ में 'हृदयेश' सभी को पानी पड़ती है आकर।
माया मधुबाला के हाथों दुनियाँ की सुख दुख हाला।"

'प्रणय और प्रलय के अमर गायक' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी इस 'हालावाद' में अपनी लेखनी का योग दिया है परन्तु बच्चन से भिन्न। बच्चन में घोर अश्लीलता है जब कि हृदयेश और नवीन में उसका रूप अत्यन्त मनोरम और संस्कृत है। नवीन की 'साकी' शीर्षक कविता कवि की मस्ती, उसकी प्यास, उसकी भाव तल्लीनता और सदाशयता एवं सार्वभौम हित-चिंतन की भावना व्यक्त करती है। उसमें बच्चन का सा उच्छृंखल उन्माद नहीं है। कविता का प्रारम्भ अनुकूल वातावरण और तीव्रतम लालसा से होता है—

"साकी मन घन गन घिर आए, उमड़ी श्याम मेघ माला।
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला।
× × ×
कब से तड़प रहे हैं—खाली पड़ा हमारा प्याला।
× × ×
और ! और ? मत पूछ, दिए जा, मुँह माँगे वरदान लिए जा।
तू बस इतना ही कह साकी और पिए जा, और पिए जा।"

वे एक बार समस्त विश्व को अपनी मदिरा विशेष से उन्मत्त देखना चाहते हैं—

"कूजे दो कूजे में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं।
बार बार ला ! ला ! कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।
अरे बहा दे अविरल धारा, बूँद बूँद का कौन सहारा।
मन भर जाए, जिय उतराये, डूबे जग सारा का सारा।"

हमें संक्षेप में हालावाद की रूपरेखा का विवेचन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हालावाद में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उच्छृंखल विद्रोह।

२—भूलोक पर स्थित रहते हुए भी स्वर्गीय सुख का अनुभव करने की लालसा।

३—जीवन की कठिनाइयों एवं भीषण पीड़ाओं से क्षणिक मुक्ति।

४—सुख का क्षणिक अनुभव।

५—कल्पना की ऊँची उड़ान।

६—सौंदर्य, प्रेम एवं यौवन की ओर आकर्षण।

७—विवशता से त्रस्त होकर अरण्य-रोदन।

८—पथ भ्रष्ट, लक्ष्यहीन अराजकता।

९—सीधी उन्मादक भाषा में सरल अभिव्यक्ति।

इन कवियों के इस विद्रोह का रूप क्या था ? प्रश्न यह उठता है कि इस विद्रोह में एक नपुंसक हृदय का चीत्कार था या एक सशक्त हृदय का गुरू गम्भीर गर्जन । हमने ऊपर बच्चन के काव्य का उन्हीं के दृष्टिकोण से विवेचन करते हुए यह देखा कि वे इसमें समाज, धर्म, मर्यादा आदि के प्रति खुला विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र पथ निर्मित करना चाहते हैं । परन्तु क्या यह पथ कल्याणकारी भी है ? कवि केवल अपने नशे में डूबा रहना चाहता है । उसके पास समाज के लिए कोई सन्देश नहीं है । फिर ऐसा सन्देश हीन काव्य हमारा क्या उपकार कर सका । इस 'हालावाद' ने केवल इतना ही किया कि कुछ क्षण के लिए हमारे भावुक तरुणों को अपनी तीव्र मादकता से सराबोर कर दिया । बच्चन का यह हालावाद बहुत चला । उस समय प्रत्येक तरुण के हाथ में 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि पुस्तकें ही दिखाई देती थीं । अन्ताक्षरियों, कवि सम्मेलनों आदि में तरुण झूम झूम कर उन्हें गाते थे । परन्तु उन्हें सन्देश क्या मिला ? उन बेचारों को तो उस क्षणिक खुमारी के अतिरिक्त और मिलता ही क्या जब स्वयं बच्चन को इस हालावाद से केवल निराशा और अतृप्ति मिली । इसीलिए वे स्वयं इस पथ को छोड़कर 'एकान्त संगीत' के 'निशा निमंत्रण' में खो गये ।

दूसरा सबसे बड़ा मज़ाक यह है कि बच्चन अपने काव्य को रूपक मानते हैं—

"मैं मदिरालय के अन्दर हूँ—
मेरे हाथों में प्याला ।
प्याले में मदिरालय बिम्बित—
करने वाली है हाला ।
इस उधेड़बुन में ही मेरा
सारा जीवन बीत गया ।
मैं मधुशाला के अन्दर था—
मेरे अन्दर मधुशाला ।"

'पद्मावत' और 'कामायनी' भी तो रूपक काव्य हैं । वे जीवन के कठिन क्षणों में हमें आशा और विश्वास का सन्देश देते हैं जिसके मूल में साधना है, हालावाद के समान क्षणिक खुमारी का सन्देश नहीं । हालावाद में कुछ लोग 'दर्शन' भी देखते हैं परन्तु हमारी राय में यह कहना दर्शन का अपमान करना है । उसमें किसी विकृत 'दर्शन' के भी तो दर्शन नहीं होते । वह तो शुद्ध रूप से एक 'खुमारी' का काव्य है जिसकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं ।

साहित्यालोचन

२३—रस-निष्पत्ति

रस निष्पत्ति के मूल-प्रवर्तक नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं। उन्होंने रस के बारे में जो बतलाया है वह इतना अस्पष्ट है कि उसके आधार पर उसका वास्तविक अर्थ लगाने के लिये कोई भी कल्पना की जा सकती है उनका रस सम्बन्धी सूत्र है—

विभावानुभाव व्यभिचार संयोगाद्रस निष्पत्ति :—

अर्थात् विभाव (नायक नायकादि आलम्बन और वाद्य वीणामलय समीरादि उद्दीपन) अनुभाव (अश्रु, स्वेद कम्पादि, शारीरिक विकार और चेष्टायें) व्यभिचारी भाव, (हर्षस्मरण आदि) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द ही अबतक विवाद के विषय रहे हैं और भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों के इस संबंध में विविध मत होते चले आरहे हैं। प्रश्न यह था कि 'संयोग' और 'निष्पति' शब्द से भरत मुनि का क्या तात्पर्य था ? बस इसी को लेकर भिन्न भिन्न आचार्यों ने इसके भिन्न २ अर्थ किए, जिसके कारण रस संबंधी कितने ही मत चल पड़े। उनकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य प्रमुख हैं। (१) भट्टलोलट्ट (२) श्री शंकुक (३) भट्ट नायक (४) अभिनव गुप्त। आगे चलकर कुछ और भी विचारक हुए हैं।

भट्टलोलट्ट का उत्पत्तिवाद—इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्टलोलट्ट हैं। ये मीमांसक थे। इन्होंने अपना "उत्पत्तिवाद" चलाया। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ लिया उत्पत्ति और 'संयोग' का अर्थ लिया कार्य-कारण सम्बन्ध। कार्य से तात्पर्य है स्थायी भाव द्वारा उत्पन्न हुआ रस और कारण से तात्पर्य है विभाव (आलम्बन+उद्दीपन) और संचारी भाव। अधिक स्पष्ट करने के लिये इसे यों भी कह सकते हैं।

(क) स्थायी भाव (यद्यपि स्थायीभाव सूत्र में हैं नहीं किंतु रस के लिये स्थायी भाव तो मूल हैं) आलम्बन द्वारा उत्पन्न होकर, उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त होकर, संचारी द्वारा पुष्ट होकर, भावों द्वारा व्यक्त होकर (प्रतीत योग्य बनकर) अनुकार्य में (मूल पात्र में) रस रूप में रहता है अर्थात स्थाई भाव उत्पन्न होता

है जो रस रूप में आता है। उत्पन्न करने के कारण विभाव और संचारी भाव हैं, जो उसे प्रतीति योग्य बनाते हैं। (अर्थात् व्यक्त करते हैं) अनुभाव इस प्रकार कारण (विभाव+संचारी ×अनुभाव) और कार्य (रस रूप में परिणत होने वाला स्थायी भाव का सम्बन्ध है।

(ख) नट अभिनय द्वारा केवल उनका अनुकरण करता है। वास्तव में वह रस रूप स्थायी भाव नट में उत्पन्न नहीं होता। अनुभावों के अभिनय द्वारा या उसकी वेष भूषा द्वारा नट में उसका आरोप (प्रतीति) कर लिया जाता है। नट का अर्थ तो केवल अनुकरण की कुशलता है।

(ग) वह रस रूप में रहने वाला स्थायी भाव प्रेक्षक या दर्शक में भी नहीं रहता। प्रेक्षक केवल नट के कुशल अभिनय द्वारा नट में ही उस रस की प्रतीति कर चमत्कृत हो जाता है और चमत्कार आनन्द हो सकता है।

(घ) इस प्रकार सारांश यह है कि मूल पात्र (अनुकार्य) का रस नट (अनुकर्त्ता) द्वारा (सामाजिक या दर्शक में) केवल चमत्कार के नाम से गौण रूप में रहता है ; अर्थात् प्रधान विषय रस है। जिसका प्रधान कारण है अनुकार्य का हृदय जहाँ वह उत्पन्न होकर रहता है। नट उसकी प्रतीति करने का माध्यम है और प्रेक्षक गौण है जो चमत्कृत होकर ही आनन्दित हो जाते हैं।

(ङ) इस प्रकार रस सिद्धान्त के तीन नामकरण किए जा सकते हैं—

१—उत्पत्तिवाद—(मूलनायक के कारण)

२—आरोपवाद—(नट के कारण)

३—चमत्कारवाद—(प्रेक्षक के कारण)

दोष या आपत्तियाँ

१—रस या स्थायी भाव सम्बन्धी—भरतमुनि ने स्थायीभाव का सूत्र में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसका स्थायी भाव रस से भिन्न नहीं और न अस्पष्ट ही हैं। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो फिर पुष्टि किस चीज की होती है।

२—कार्य सम्बन्धी स्थायी भाव या रस को कार्य मान लेना भी ठीक नहीं जँचता। यदि रस कार्य है तो कारण विभावादि हैं किंतु कार्य कारण के पश्चात् भी रहता है जब कि विभावादि के पश्चात् नहीं रहता।

३—इस प्रकार विभावादि को आदि जनक कारण (कुम्हार की तरह) से भी नहीं कह सकते और न ज्ञापक कारण भी (जैसे अँधेरे में रखे हुए घड़े को दिखाने वाले दीपक) क्योंकि वह तभी सम्भव हो सकता है जबकि ज्ञाप्य

पहले से वर्तमान हो ; यहाँ रस (भाव्य) वर्त्तमान नहीं है वह तो बाद में उत्पन्न किया जाता है क्योंकि भट्टलोलट्ट तो उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं।

४—नट सम्बन्धी—यह समझ में नहीं आता कि भावों का अनुकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? वेष भूषा क्रियादिद्वारा बाहरी बातों का अनुकरण किया जा सकता है और उनके भावों की सूचना भर दी जाती है किंतु भावों का अनुभव जन्य अनुकरण चाहे वह गौण रूप में ही क्यों न हो नहीं किया जा सकता।

प्रेक्षक सम्बन्धी—यदि रस उत्पन्न भी होगा तो दर्शकों को आनन्द कैसे होगा ? क्योंकि जहाँ रति होगी वहाँ रस भी। किन्तु प्रेक्षकों के अन्दर 'रति' तो होती नहीं तो फिर रस भी नहीं होगा। फिर आनन्द भी किस प्रकार हो सकता है। दूसरे की तृप्ति से अपनी भूख की तृप्ति तो नहीं हो सकती।

यदि इसमें अनुकरण की सफलता कही जाय तो विना कार्य को देखे सफलता का पता किस प्रकार लगाया जा सकता है और अनुकार्य हमारी पहुंच से बाहर है।

फिर अनुकर्त्ता में रस का आक्षेप होता है; आरोपित रस द्वारा दर्शकों में उत्पन्न हुआ चमत्कार मिथ्या से रहित किस प्रकार हो सकता है ?

फिर अनुकर्त्ता का रस भी उसी में सीमित होगा और वह भी लौकिक होगा। फिर प्रेक्षक में अनुकर्त्ता के माध्यम द्वारा (आरोपित माध्यम द्वारा) उत्पन्न हुआ चमत्कार किस प्रकार अलौकिक आनन्ददायी होगा ?

(१) एक आपत्ति और उठाते हैं वह है कार्य कारण में समय का अन्तर। उनका कहना है कि नट के अभिनय और श्रोताओं के आनन्दित होने में समय लगना चाहिए किंतु नहीं लगता जबकि कार्यकारण में समय का अन्तर अवश्य होता है। उनका कहना है कि चन्दन के लेप और शीतलता के अनुभव में समय अवश्य लगता है चाहे थोड़ा ही। वास्तव में हमारे विचार से तो यह ठीक नहीं है। चन्दन के लेप और शीतलता के अनुभव में जिस प्रकार अल्प समय लगता है उसी प्रकार नट के अभिनय और प्रेक्षक द्वारा आनन्द की प्राप्ति में समय तो लगता ही है। यह दूसरी बात है कि इसके समय का अन्तर इतना कम होता है जो समझने में नहीं आता।

(२) श्री शंकुक का अनुमितिवाद—भट्टलोलट्ट के सम्बन्ध में उठी हुई आपत्तियों का निराकरण करने को श्रीशंकुक ने अपना अनुमितिवाद निकाला। वे नैयायिक थे।

अनुमिति का अर्थ यह है कि नट के कुशल अभिनय के कारण प्रेक्षक नट

में नायकत्व (अनुकार्यत्व) का अनुमान कर लेता है और उसे नायक समझकर चित्र तुरङ्ग न्याय द्वारा उसके अभिनय द्वारा व्यक्त किए गए अनुभावों से ही आनंद पाता है जिससे चमत्कार का अनुभव होता है जो आनन्दजन्य होता है। दूसरे शब्दों में शंकुक ने रस की निष्पत्ति गम्य-गमक भाव से मानी है। गम्य गमक का अर्थ भी कार्य कारण सम्बन्ध से है। उनके अनुसार कार्य कारण का नामकरण इस प्रकार है—

गमक—कारण या विभावादि या अनुमापक या अनुमान कराने वाले।

गम्य—कार्य या रस या अनुमान किये जाने वाले या मुख्य विषय या अनुभाव।

अनुमान्य—नट जिसमें रस का अनुमान कर लिया जाता है अर्थात् माध्यम।

अनुमानक—प्रत्येक (दर्शक) या गौण।

अनुकार्य—अनुकार्य या मुख्य नायक (वास्तव में वही सब कुछ होता है) इसके अनुसार भी रस न नट में रहता है और न प्रेक्षक में ही। केवल नट में उसके अनुमान के माध्यम से प्रेक्षक को चमत्कार होता है जिससे उसको आनन्द प्राप्त होता है।

आपत्तियाँ—श्री शङ्कुक का जोर दो बातों पर है। १—अनुकरण २—अनुमान। किंतु जो कठिनाइयाँ भट्टलोलट्ट के सम्बन्ध में उठी थीं वही यहाँ भी उठती हैं।

१—अनुकरण न स्थायी भावों का और न सहकारी भावों का ही हो सकता है। अनुकरण तो केवल वेष-भूषा का ही हो सकता है। अनुभावों के अभाव में यह अनुकरण भी वास्तविक अनुकरण नहीं हो सकता है। अनुमान सत्य नहीं है फिर मिथ्या के आधार पर सत्य की प्रतीति हो ही नहीं सकती अतः प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कार पूर्ण आनन्द मिल सकता है वह अनुमान से नहीं। "चित्र तुरङ्ग न्याय' से चित्र का घोड़ा अवश्य दिखाई देता है किंतु उस पर चढ़ कर आनन्द नहीं लिया जा सकता। वास्तव में रस या भाव सीधे अनुभव द्वारा ही भावना के विषय बन सकते हैं अनुमान द्वारा नहीं! और उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद दोनों में ही रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती है। यदि मानी भी जाय तो यह प्रश्न उठेगा कि दूसरे व्यक्ति के भावों को उसने किस प्रकार अपनाया?

यदि ऐसा मान भी लें जैसा कि कुछ विद्वानों द्वारा कहा जाता है कि विभावादि द्वारा नायक के स्थायी भावों की प्रतीति सहृदय प्रेक्षकों को होती है

जिससे वह अपने को ही नायक समझने लगाता है उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी कल्पित नायकत्व से छा जाता है। किन्तु यह एक विलक्षण प्रकार का रूप होगा।

यह बात देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के विषय में किस प्रकार हो सकेगी? सीता के विषय में राम की रति का प्रेक्षक के हृदय में आना निस्सन्देह ही दोषपूर्ण है। फिर नायक के पराक्रमपूर्ण कार्य जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, प्रेक्षक के हृदय में किस प्रकार आ सकते हैं? जैसे—हनुमान का समुद्र पार कर लङ्का चला जाना आदि।

एक प्रश्न और भी उठे बिना नहीं रह सकता और वह यह कि नायक के दुःख शोक, इत्यादि के भाव प्रेक्षक को आनन्ददायक न होकर दुःख दायक हों तो फिर भवभूति के नाटकों को दुःखी होने के लिए कौन प्रेम से पढ़ेगा? किन्तु ऐसी बात है नहीं।

३—भट्टनायक—इन्होंने अपना भुक्तिवाद का सिद्धान्त चलाया। ये साँख्यशास्त्र के अनुयायी थे। उनका कहना है कि रस की न तो प्रतीति (अनुमिति होती है जैसा श्री शंकुक मानते हैं) न उत्पत्ति ही होती है (जैसे भट्टलोलट्ट का सिद्धान्त है और न अभिव्यक्ति ही होती है) (जैसे कि अभिनव गुप्त ने माना है) अनुभव और स्मृति के बिना रसकी प्रतीति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती है। कारण, इन सब से दर्शक या पाठक एक बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। यदि वह अनुकार्य तथा मूल नायक में तादात्म्य करता है तो उसे शायद औचित्य की सीमा पार कर लज्जा का अनुभव करना पड़े और यदि अपने को उससे भिन्न समझता है तो यह प्रश्न एक दम सामने आ जाता है कि दूसरे की रति से उसे क्या? इस प्रकार वह समझ नहीं पाता कि वास्तव में वह अपने को किसमें रखने का प्रयत्न करे।

भट्ट नायक ने इस कठिनाई को बड़ी सरलता से दूर करने का सफल प्रयत्न किया हैं उन्होंने रस निष्पत्ति की तीन क्रियाएँ मानी हैं। पहली 'अभिधा' जिसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है, दूसरी "भावकत्व" जिसके द्वारा विभावादि तथा रत्यादि स्थायी भाव साधारणीकृत (व्यक्तिगत भाव न होकर सर्वसाधारण के भाव बनकर) मेरे या पराये, शत्रु के या मित्र के, ऐसे बन्धनों से मुक्त होकर उपभोग योग्य बन जाते हैं। तीसरा भोजकत्व—वह स्थायी भाव जो साधारणीकृत होकर उपभोग किया जाता है। भोजकत्व में नायक के रजोगुण' तमोगुण, सतोगुण, युक्त लौकिक भाव रज, तम, रहित, शुद्धसतोगुणमय रहने से अलौकिक हो जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वमान्य के उपभोग योग्य हो जाते

है। इस प्रकार की अलौकिकता में आनन्द का प्रकाश होता है और यही आनन्द रस है। यही बन्धन मुक्त आनन्द अलौकिकता को प्राप्त होने वाला आर ब्रह्मानन्द महोदर कहलाता है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में यही भेद है कि ब्रह्मानंद नित्य है और काव्यानंद कुछ समय के लिए रहता है।

इस प्रकार भट्ट नायक ने संयोग का अर्थ 'भोज्य' और 'भोजकत्व' भाव माना है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति माना है। भट्ट नायक के मत की व्याख्या करने वाले किसी विद्वान् ने संयोग का अर्थ साधारणीकृत विभावादि के साथ सम्यक योग लिया है।

संक्षेप में हम भट्ट नायक के मत में दो प्रमुख विशेषताएँ पाते हैं। पहली उन्होंने इस समस्या का हल हमारे समक्ष रखने का प्रयत्न किया है कि दुःख से सुख की प्राप्ति किस प्रकार होती है। अर्थात साधारणीकरण वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। दूसरी सामाजिक को नायकादि के भावों में आनन्द लेने की समस्या को हल करने के लिए (अभिधा) भावकत्व, और 'भोजकत्व' तीन व्यापार माने हैं। और फिर (भावकत्व) द्वारा अपने पराये के भेद को मिटा कर उसके भोग की समस्या को हल किया है।

भट्ट नायक के मत की आलोचना—भट्ट नायक के साधारणीकरण वाले सिद्धान्त को मानते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि उन्होंने काव्य में दो ऐसे नए व्यापारों को स्थान दिया है जिनके लिए शास्त्र में कहीं भी कोई प्रमाण नहीं मिलता और न जिन बातों के लिए युक्ति-युक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं। उनके लिए अप्रमाणित सिद्धान्त को ग्रहण करना उचित नहीं। अभिनव गुप्ताचार्य के अनुसार इन दो क्रियाओं—'भावकत्व' और 'भोजकत्व' का काम व्यञ्जना और ध्वनि से चल सकता है। 'भोजकत्व' स्वयं रस निष्पत्ति ही है। इस प्रकार दोनों को ही ध्वनि का व्यापार अर्थात व्यञ्जना के अन्तर्गत माना है। इधर 'भावकत्व' भावों का अपना निज का गुण है। भरत मुनि ने इसलिए कहा है कि 'काव्यार्थान भावयतीति भावा' जो शब्दार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। काव्यार्थ का अर्थ है वह मुख्य अर्थ जिसमें काव्य का आनन्द छिपा रहता है अर्थात् जो काव्य के आनन्द को सबका आनन्द बनावें। काव्यार्थ रस का भी भावक है। वास्तव में रस वही है जिसका आस्वादन किया जा सके। अत: योग का अर्थ तो स्वयं के साथ ही है फिर यह भट्ट नायक द्वारा 'भोजकत्व' को अलग शक्ति मानने का कोई उचित कारण ही नहीं था। कारण, वह तो ध्वनि के द्वारा स्वयं ही सम्पन्न हो जाता है।

अतः संयोग का अर्थ ध्वनि तथा व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ आनन्द भाव में प्रकाशित होना निकला।

४—अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद— अभिनव गुप्त का कहना है कि मनुष्य समय समय पर भिन्न २ परिस्थितियों में पड़ कर जिन जिन भावों का अनुभव करता है वे सभी वासना या संस्कार रूप में उसके हृदय में स्थित होते जाते हैं। अतः कहने का अर्थ यह है कि स्थायीभाव पहले से ही वासना या संस्कार रूप में मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं। किन्तु सामान्य अवस्था में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं हो पाता क्यों कि उन पर अज्ञानता का आवरण छाया रहता है। परन्तु किसी विशेष घटना या कुशल अभिनय द्वारा विभावादि के प्रदर्शन से वे व्यक्तावस्था में आ जाते हैं अतः यह स्पष्ट हुआ कि रस की अभिव्यक्ति केवल वासना जन्य संस्कारों की अभिव्यक्ति है। यदि वे संस्कार नहीं है तो इसकी अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती है। और सहृदय व्यक्ति भी वही व्यक्ति कहलाते हैं जिनके हृदय में वे संस्कार विद्यमान रहते हैं। वासना शून्य मनुष्यों को तो साहित्य—दर्पणकार ने लकड़ी के कुल्हाड़ों वा पत्थरों के समान संवेदना शून्य कहा है। मनुष्य हृदय तीन प्रकार से सहृदय हो सकता है। सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से और अभ्यास से। किंतु जो इन तीनों सौभाग्यों से रहित हैं वे सहृदयों की श्रेणी में नहीं आ पाते और न रसास्वादन ही कर पाते हैं। शास्त्रकारों, मीमांसकों, और वैयाकरणों को इसी कोटि में माना है।

संक्षेप में अभिनव गुप्ताचार्य के मत में निम्न विशेषतायें हैं—

१—रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।

२—सामाजिक में स्थायी भाव वासना को संस्कार के रूप में स्थित रखते हैं किंतु उद्-बुद्धावस्था में साधारणीकरणकृत विभावादि के संयोग से अव्यक्तावस्था में, अभिव्यक्ति अवस्था में ठीक उसी तरह आ जाते हैं जिस प्रकार मिट्टी की अव्यक्त गन्ध जल के छींटे पड़ने से तत्काल ही व्यक्त हो जाती है—

३—सफल अभिनय से सहृदय दर्शक ही तन्मय होते हैं और उन्हें ही ब्रह्मानन्द सहोदर अखण्ड रस का आनन्द प्राप्त होता है।

४—संयोग का अर्थ व्यंजना और निष्पत्ति की अभिव्यक्ति है।

५—दशरूपककार धनंजय का मत—अभिनव गुप्ताचार्य के मत को लगभग सभी अनुवर्ती आचार्यों ने प्रमाणित माना है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी अपने मत में अभिनव गुप्त के मत को ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभि-

चारों भावों द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। आगे आपने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रस वास्तविक रूप में सामाजिक (दर्शक) को ही प्राप्त होता है ; क्योंकि वह वर्तमान है। वह न अनुकार्य (मूलनायक) में रहता है और न कृति में ही ; वास्तव में दर्शक की अवस्था उस बालक की सी होती है जो मिट्टी में खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता रहता है। ठीक उसी प्रकार पाठक हनुमान की वीरता का वर्णन पढ़कर अपने स्वयं के उत्साह का ही आस्वादन करते हुए आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

किंतु सहृदय पाठक या श्रोता रसास्वादन ही कर सकता है। तब तो यह भी सम्भव है कि यदि अभिनेता सहृदय है तो वह भी अभिनय के समय रसास्वादन करने का अधिकारी हो जाता है और केवल अभिनेता न रहकर उपभोक्ता भी बन जाता है।

इस प्रकार वास्तविक रस निष्पत्ति केवल सहृदय प्रेक्षक या श्रोता में ही होती है।

२४—सत्यं शिवं सुन्दरम्

भारतवर्ष की यह शास्त्रीय प्रणाली रही है कि पहले सूत्र का निर्माण होता है उसके पश्चात् उसकी व्याख्या होती है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी हिंदी साहित्य के लिए इसी प्रकार का सूत्र है जो अनायास ही हिन्दी साहित्य में प्रवेश कर गया है। आज यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य के आदर्श और उद्देश्य के सूत्र-रूप में व्यवहृत हो रहा है। बङ्किम के 'वन्देमातरम्' की तरह उसकी व्यापकता बराबर बढ़ती ही आ रही है और इस बढ़ती हुई व्यापकता के प्रवाह में हमने कभी यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि कौन इस सूत्र का जन्मदाता है और इसका प्रारम्भिक इतिहास क्या रहा है। कारण भी स्पष्ट है कि जब हम एक वस्तु के परिचय में अत्यधिक आ जाते हैं तो उसके प्राचीन इतिहास को जानने की उत्सुकता प्रायः समाप्त सी हो जाया करती है। अधिकांशतः यह उत्सुकता प्रत्येक नवीन के प्रति ही जाग्रत रहती है।

हमारे यहाँ इन तीनों शब्दों का संकलित रूप में प्रयोग सर्व प्रथम बंगला साहित्य में रवीन्द्र बाबू के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। किंतु इस प्रयोग में उनका आधार क्या था यह बात आज तक संदिग्ध ही रही है। कुछ लोगों का विचार है कि यह सूत्र वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातून के "The True, The Good, The Beautiful" का अनुवाद है और ब्रह्म समाज द्वारा हमारे यहाँ आया है। किंतु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में से कोई भी नवीन नहीं है वरन् यों कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति, धर्म और भारतीय दर्शन मूलतः इन्हीं तीनों पर आधारित हैं। 'सच्चिदानन्द' शब्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें स्पष्टतः सत्य आनंद का रूप प्रस्तुत है। शिवं और सुन्दरं का रूप हमें किरातार्जुनीय आदि नीति ग्रंथों में मिलता है—'हितं मनोहारि च दुर्लभंवचा।' भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में अर्जुन को सत्य प्रिय तथा हितकर वाणी बोलने के लिए उपदेश दिया है—

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितंच।

फिर सत्यं शिवं सुन्दरं इससे भिन्न कहाँ है। प्रिय में सुन्दर का पूर्ण भाव आजाता है और हितं में शिवं का। इतना ही नहीं 'साहित्य शब्द के मूल में भी

सत्यं शिवं सुन्दरम् का रूप मौजूद है। 'शिव तो प्रत्यक्ष है ही, सत्यं' और सुंदरम् भी प्रच्छन्न रूप से है। काव्य का रस या आनद सुंदरम् का रूपांतर है और सौंदर्य कभी सत्य से रहित नहीं हो सकता। इतने विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष तक पहुँच जाते हैं कि ये तीनों ही शब्द भारत के लिए नए नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि जिस रूप में और जिस अर्थ में उनका प्रयोग आज होता है उसमें अवश्य नवीनता है।

भारतीय कला और प्रवृत्ति सर्वत्र समन्वयात्मक है। इसलिए भारतीय मस्तिष्क भी समन्वय प्रिय है। यदि हम एक शब्द में कहें तो कह सकते है कि समन्वय और एकता ही हमारी संस्कृति की विशेषता है। साथ ही हमारे यहाँ अधिकाँशतः प्रत्येक क्षेत्र में ऊना संख्या को शुभ माना जाता है। इसीलिए धर्म में, कला में, सभी में तीन की संख्या को ही महत्व दिया गया है। धर्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश और हिंदू दर्शन के सत्, चित्, आनंद एवं सत् रज तम बीज तत्व हैं। हिंदू कला उन्हीं को सत्यं, शिवं, सुंदरम् के रूप में ग्रहण करती है। यही सृष्टि के तीन मूल तत्व हैं। इन्हीं से त्रिगुणात्मक सृष्टि आदि, मध्य अन्त बनी है और इन्हीं से ब्रह्मा के तीन रूपों—अव्यक्त (व्यक्त से पहले) व्यक्त और पुनः अव्यक्त (प्रलय के पश्चात्)—का अस्तित्व है। गीता में इसको कितने सुंदर ढंग से स्पष्ट किया गया है यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

अव्यक्तानि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधानाचेव तत्र का परिवेदना ॥

भक्ति के ज्ञान, कर्म, उपासना ये तीन ही तत्व हैं। इन तीनों का विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे के अंग बने हुए हैं। इनके समन्वित रूप में ही पूर्णता है। इसीलिये हमारे कलाकार सत्यं शिवं सुंदरम् तथा ज्ञान, कर्म, उपासना की विभाजक रेखाओं को मिटाने में प्रयत्नशील हैं। यही वास्तविक समन्वय है जो भारतीय संस्कृति का, भारतीय साहित्य का, भारतीय धर्म और दर्शन का प्राण है। इसीलिए हमारे यहाँ के संस्कृत के दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य सुखांत हैं। कारण, हमारे यहाँ मृत्यु का अर्थ है उस अव्यक्त सत्यं से व्यक्त हुए जीव का अंत में अपनी व्यक्तावस्था त्याग कर उसी अव्यक्त सत्यं से आ मिलना। मृत्यु हमारे लिए इसीलिए शिव है। भारतीय कला इसी शिव को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव से करती रही है और करती रहती है। फिर मृत्यु में दुःख कहाँ? उसमें तो कल्याण है। जीव इस संसार में व्यक्त होकर अनेक यातनाएँ सहता है किंतु मृत्यु उस पर दया

करके उसे उन यातनाओं से मुक्त कर देती है। मृत्यु का यही कल्याण है; यही उस का 'शिव' रूप है और यही वास्तविक तथा चिरकालिक सत्य है। किन्तु जहाँ यह 'शिव' नहीं रहता वहाँ चिर काल तक सत्य भी नहीं रहता।

फिर जो सत्यं और शिवं है उसे आनन्दमय होना ही चाहिए। और आनन्द कोई अन्य वस्तु नहीं सौंदर्य का फल है अथवा सौंदर्य की प्रभावात्मक अनुभूति ही आनन्द है। इस प्रकार सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करना ही धर्म का, दर्शन का, साधना का और लोक व्यवहार का श्रेष्ठतम और आदर्शतम रूप है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कला भी इसी श्रेणी में आती है। वह भी इन्हीं सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करने का सतत और श्रेष्ठ तम प्रयत्न करती है और ऐसा करने में सफल भी होती है। वस्तुतः यही कला का लक्ष्य है।

यदि सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् का समन्वित रूप अधिक संक्षिप्त और स्पष्टतः रखने का प्रयत्न करें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्यम् ही शिवम् बन जाता है और भगवान से समन्वित होकर यही सत्यम् सुन्दरम् हो जाता है। सौन्दर्य सत्य का परिमार्जित रूप है। वह सत्य को ग्राह्य बना देता है। अतः इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इन तीनों के अनन्य सम्बन्ध को पंत जी ने बड़े ही कलात्मक और स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त किया है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार।

वास्तव में विचार-क्षेत्र में देशी विदेशी का प्रश्न ही नहीं उठता। इस क्षेत्र में सब एक ही धरातल पर आ ठहरते हैं। उसमें विश्वात्मकता रहती है। इसीलिए तो अङ्गरेजी कवि कीट्स ने भी—सत्य और सुन्दरं एक माना है और जब सत्य और सौंदर्य अभिन्न हैं तो शिवम् भी उनसे भिन्न नहीं हो सकता—

'Beauty is truth, Truth is beauty
That all ye know on earth,
And all ye need to know,

अर्थात् "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है यही संसार में मनुष्य जानता

है और यही जानने की आवश्यकता है।"

मृत्यु में भी यही नित्य सत्य व्याप्त है। कला ने मृत्यु और जीवन की दुख-मय धारणाओं को निकाल बाहर किया और आनन्द का रूप ग्रहण किया। आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और प्रलय के बाद आनंद में सृष्टि प्रतिष्ठित होगी।" तब मृत्यु, शोक दुख कुछ भी नहीं है।

किंतु सत्य का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है। दर्शन में सत्य का अर्थ है जिस आनंद स्वरूप अव्यक्त सत्ता से जीव अभिव्यक्त होकर अनेक साँसारिक यातनाओं में पड़कर अनेक दुख भोगता है और लौटकर उसी अव्यक्त सत्ता में अपने को अव्यक्त बना देता है। यह संसार स्वप्नवत है, असत्य है। किंतु ऐसा तभी हो सकता है जब वह इन सभी साँसारिक रूपों और व्यापारों के समक्ष कभी अपनी पृथक सत्ता की धारणा को भूल कर अर्थात विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता हैं, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यही मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है। यही ज्ञान दशा सत्य दशा है। उस समय उसे केवल उस एक सत्य सत्ता के और कुछ भी लक्षित नहीं होता। साहित्य का सत्य भी इससे भिन्न नहीं है। "जिस प्रकार आत्मा की मुक्ता वस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।' इस रस दशा में आने के पश्चात भी मनुष्य अपनी पृथक सत्ता भूल कर अपने हृदय को स्वार्थ सम्बंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल तक अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन कर देना होता है। इस अवस्था को भावयोग भी कहते हैं।

शुक्ल जी ने इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष कहा है। और वास्तव में यह है भी। इस अवस्था में मनुष्य के भात्र जगत पर पड़े सभ्यता के अनेक आवरण हटकर उसका मूल गोचर रूप समक्ष हो जाता है। यह हृदय की प्रकृत दशा कहलाती है। वह मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर पहुँच जाता है। शुक्लजी के शब्दों में ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न उसी का एक अंश अनुभव करता है। "जगत के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है।" यही सत्य का स्वरूप है।

और शिव! शिवात्मा में लोकमङ्गल का जो तत्व है वही शिव है—अर्थात लोकमङ्गल ही शिव है। ऊपर बताई गई सामान्य भूमि पर पहुँचने पर शिवत्व ही प्रारम्भ हो जाता है। उस समय मनुष्य को उसकी अपनी "अश्रु,राग में

जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।" यही उसका कर्तव्य है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्य ही शिव बन जाता है। यह सब कुछ अनुभव कर चुकने के पश्चात् वह अपने को लोक सेवा के मार्ग पर गतिमान कर देता है। यही शिव है। जैसाकि हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं। पंतजी ने प्रज्ञा के सत्य स्वरूप को ही तो लोक सेवा में आ जाने पर अविकार शिव कहा है।

हमारे यहाँ शिवजी के रूप में इस शिव की सम्पूर्ण विशेषताएँ आ जाती हैं। शिवजी में कुरूप (नर मुण्ड माल आदि), अमङ्गल (सर्प, विष आदि) हैं, किन्तु इन सबके ऊपर अमृतमय चन्द्रमा और सम्पूर्ण कर्दम, कलुष धो देने वाली पावन गङ्गा है। इस प्रकार वह वर्तमान कुरूप और अमङ्गलकारी भूली-भटकी आत्माओं को धारण तो अवश्य करते हैं किन्तु सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्र और कलुष निकन्दनि गङ्गा को ही प्रभुत्व दिया है—उन्हीं को सबके ऊपर मस्तक और सिर पर स्थापित किया है। इसी प्रभुत्व ने सम्पूर्ण कुरूपों और अमङ्गलों को सुन्दर और मङ्गलमय बना दिया है। यही शिवत्व है। इतना भयानक वेशधारी शिव इसीलिए तो शिव है, इसीलिए तो उन्हें औढर दानी कहा जाता है।

राम धनुष बाण लेकर पर पीड़क रावण पर गहरा आघात करते हैं क्रोध का प्रदर्शन भी करते हैं और उसका उसके कटक तथा वंश सहित संहार भी करते हैं फिर भी राम शिवकारी हैं। क्यों ? इसीलिए कि उनमें इनके इन सभी अशोभनीय कार्यों को अधिकृत करने वाली उनकी परजन हितकारी भावना है। गीताजी में भी श्रीकृष्ण ने यही कहा है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी निम्न पंक्तियों में यही कहा है—

जब जब होय धरम की हानी।
बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा।
हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥

यही कार्य कलाकार का है। वह मानव के गंदे पाताल को—भूली भटकी आत्माओं को संसार के, सौंदर्य की खोज में आँख की ओट नहीं कर देता। प्रत्युत प्रत्येक वस्तु उसकी कला का आधार बन सकती है किन्तु उसका अन्तिम स्पर्श कुरूपता को सौंदर्य में और अमंगल को मंगल में बदल देता है।

अब हमें सौंदर्य के रूप को भी देख लेना आवश्यक है। प्रज्ञा का सत्य

स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और वही नेत्रों में जाकर अनूप लावण्य बन जाता है। यह अनूप लावण्य ही सौंदर्य का पर्यायवाची है। कालरिज ने इसी को तो 'Beauty is truth truth beauty' कहा है। शुक्लजी के शब्दों में—"हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। सौंदर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है—इसीलिए तो "सुधा सराहिए अमरता गरल सराइए मीचु।" सौंदर्य की श्रेणियाँ नहीं की जा सकती और न वह किसी व्यक्ति विशेष का कोई विशेष अनुभव मात्र ही है क्योंकि सौंदर्य एक वस्तु है—अखण्ड और अभिन्न है और अनुभव करने वाले अनेक हैं। सभी अपने अपने अनुसार उसका अनुभव करते हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि सौंदर्य विषय है और विषयी अनुभवकर्त्ता है किन्तु उसकी महिमा कभी किसी एक के कारण उसी प्रकार नहीं घट सकती जैसे "सीतलता अरु सुगंधि की महिमा घटी न मूढ़ पीनसवारो ज्यों तजै सोरा जानि कपूर।'

वास्तविक सौंदर्य वह है जो एक सा रहते हुए भी दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता का प्रस्फुटन हो। संस्कृत के आचार्यों ने यही तो कहा है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।
तदेव रूपं रमणीयतायाः॥

बिहारी की नायिका का ऐसा ही तो सौंदर्य था जिसमें प्रतिपल नवीनता आ रही थी—

लिखन बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

मानव मन की तीन अवस्थाओं—सत्, चित और आनन्द में से कला आनन्द को अधिक मानती है और जानती है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाओं—१ साधनावस्था, २ सिद्धावस्था में से पहली में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहानुभूति और उनके प्रकाशमय भविष्य को उनके समीप ला देती है। वह अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की चेष्टाओं के गीत गाता है। इसी से डण्टन ने शक्ति काव्य (Poetry of Energy) कहा है। ये मानवीय उपासना के तीनों क्षेत्रों ज्ञान, कर्म और उपासना में सौंदर्य के दर्शन करते हैं। उनकी तीव्र दृष्टि उनके असुन्दर के अन्दर प्रच्छन्न सौंदर्य को बहुत दूर से ही देख लेती है। उनके सभी अशिव चिन्ह शिव की सृष्टि करते हैं। गोर्की ने यही तो कहा है—"वास्तव में हमारे कवि संघर्ष और प्रतिद्वन्द्वी तत्वों के भीतर से सौंदर्य के बीज तत्व तक

पहुँचते हैं। इसका आधार सूत्र है मानवता पर विश्वास करो।" इसी प्रकार हिन्दू कला की जड़ में भी 'सर्वात्मनः परमात्मनः' और 'बहुजन हिताय' जैसी भावनाएँ कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों में अधर्म पर धर्म की जय, अन्धकार पर प्रकाश की जय, अशिव पर शिव की जय ही सौन्दर्य का मूल रूप है।"

लोकमङ्गल की दूसरी अवस्था है सिद्धावस्था। इसी को उपभोग पक्ष भी कहते हैं। यहाँ केवल सौन्दर्य का ही साम्राज्य रहता है और वह भी साधनावस्था की तरह प्रच्छन्न नहीं बिल्कुल स्पष्ट। उसमें साधना द्वारा सम्पूर्ण अमंगल और अशिव रूपों को नष्ट करके सिद्धि रूप में मङ्गल और सुन्दर रूप का उपभोग किया जाता है। तुलसी यदि साधनावस्था के कवि थे तो सूर सिद्धावस्था के। राम यदि साधनावस्था के नायक थे तो कृष्ण विशेष रूप से सिद्धावस्था के। सौन्दर्य का प्रतीक नारी को माना गया है। न्यूमैन ने कहा है कि "यदि तुम्हारी आत्मा उच्च धर्मराज्य की पवित्र सीमा में प्रवेश करना चाहती है तो उसे नारी रूप में ही जाना पड़ेगा। मानवसमाज में पुरुषाकार का तुम्हें कितना ही गर्व क्यों न हो उस राज्य में जाने के लिए नारी के रूप के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।"

हम पहले ही कह आये हैं कि कला सौंदर्य का पक्ष अधिक ग्रहण करती है। इसलिये सुन्दर सत्य ही कला है। वास्तविक रूप में जीवन को दो प्रकार की उपयोगिता की आवश्यकता है—१—स्थूल रूप में (भोजन वस्त्र आदि की) दूसरी सूक्ष्म रूप में आनन्द की या यों कहें कि शरीर को स्वस्थ और गतिमान रखने के लिए जिस प्रकार से भोजन वस्त्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार से अनेक सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार इस हृदय को गतिमान और स्वस्थ रखने के लिये सत्यमय सौंदर्य की आवश्यकता है। व्यक्ति जिस प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपना शारीरिक भोजन प्राप्त करता है उसी प्रकार भावनाओं द्वारा वह इस सुन्दर सत्य, जिसे कला कहते हैं, का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य स्वयं ही अपना प्रकाशन और अपनी सृष्टि तथा अपना रूपांतर है—केवल अपने ही अर्थ से यहाँ तात्पर्य मानव से है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह अव्यक्त ब्रह्म स्वयं को ही आनन्दित करने के लिए अपने में से ही "एकोऽहं बहुस्यामि" का विचार कर अनेक रूपों में व्यक्त हो जाता है। यह उसका आत्म प्रकाशन व्यर्थ नहीं आत्मसंतोष के लिए होता है। तभी तो कलाकार अपने को व्यक्त करने के लिए कितना बेचैन रहता है इसका चित्रण श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी ने खूब समझा और समझाया है—

"लेखक में ऐसी स्फूर्ति होनी चाहिये जो उसके निर्माण को आत्मवेदना की मूर्ति का स्वरूप दे सके। वह लेखन कला का चतुर चित्रकार है जो अपने आत्म मनन और आत्म चिंतन को कलम के घाट उतारने के लिए अपनी रोटियाँ बेचकर रात को लैम्प पर अपनी आँखों और उँगलियों द्वारा मस्तिष्क के तनाव और हृदय की धड़कन से प्रभावित रक्त चढ़ा देने के लिए बाजार में तेल खरीदता नजर आता है। इसलिए शुद्ध कला की उत्पत्ति स्वान्तः सुखाय होती है।"

कुछ लोगों का कहना है कि सुन्दरम् में सत्य की हत्या भी हो जाया करती है। किन्तु यह उनका मिथ्या भ्रम है। सुन्दरम् किसी की भी हत्या नहीं करता वह तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द करता है या यों कहें कि वह सत्य को और भी अधिक आकर्षक और आनन्दित रूप में प्रस्तुत करता है। गोस्वामी तुलसीदास के निम्न उद्धरण को लेकर वे अपने मत की पुष्टि करते हैं --

"कहा कहूँ छवि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुषबाण लेउ हाथ॥"

इसमें सत्य की हत्या नहीं हुई वरन् तुलसी ने कृष्ण को भी अपने इष्टदेव राम के रूप में देखकर अपनी अनन्य भक्ति की सत्यता को और भी अधिक सुन्दर रूप में रखने का प्रयत्न किया उन्होंने 'सत्यं' को भी 'सुन्दरम्' के रूप में देखना अपना ध्येय माना है। इसमें वह सत्य की अवहेलना नहीं करते वरन् उसे 'सुन्दरम्' का पुट देकर और अधिक ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसमें सत्य की कुछ काट छांट अवश्य हो जाया करती है किंतु इसमें उसके आदर्श की पूर्ति होती है इसलिए सत्य इसे अपना और अधिक गौरव ही समझता है। यदि किसी पत्थर को काट छाँट कर कोई कारीगर उसमें सुन्दर सुन्दर पच्चीकारी करके और भी अधिक सुन्दर बना देता है तो उस पत्थर की सत्यता नष्ट नहीं होती। हाँ, वह अधिक सुन्दर होकर उसकी ग्राह्यता अवश्य बढ़ा जाता है।

यहाँ तक हम यह समझ चुके सत्यं शिवं सुन्दरम् क्या है, इसका क्या प्रयोजन है। साहित्य में इसका क्या स्थान है और कला के लिये इसका क्या उपयोग है। अब हमें थोड़े में इस पर और विचार कर लेना है कि कला का उद्देश्य क्या है। कारण कुछ लोगों का कहना है कि कला हमारे आचार और चरित्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उसका काम सुधार करना नहीं अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति द्वारा कलाकार को आत्मसंतोष प्रदान करना है। किंतु वे इस प्रकार की बात कह कर सत्यं और शिवं की अवहेलना करते हैं।

कला का सम्बन्ध जीवन से है, आत्मा से है और है मानव मात्र की सामान्य भावनाओं से।

साथ ही यह भी लोगों का भ्रम है कि कला जीवन के लिए है अर्थात् समाज सुधार के लिए। शुद्ध रूप से न तो कला केवल कला के ही लिए है और न केवल जीवन के लिए ही। टाल्स्टाय, लेनिन, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ आदि ऐसे महानुभाव हैं जो कला को उपयोगिता की कसौटी पर कसते हैं। टाल्स्टाय का कहना है कि Art is the means of union among men joining them in the same feeling (कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।" महात्मा गाँधी का कहना है कि "कला से जीवन का महत्व है! जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लावे तो वह कला क्या हुई।" इस सम्बन्ध में रोमा रोलाँ का कथन बड़े महत्व का है—"कलाकार स्रष्टा है। वह सृष्टि के बीज बखेरता चलता है। उसका काम सिर्फ बोना है। फल का विचार करना या विचार का बीज लगाना न तो उसके लिये सम्भव है और न उसका काम ही।" वस्तुतः कला उस खिलते हुए फूल के समान है जो करतार द्वारा खिला तो दिया गया किंतु किसको क्या चाहिये यह चाहने वालों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। कोई उसकी सुगन्धि को पसन्द करता है कोई उसके सौन्दर्य को। कोई उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहता है तो कोई उसके गुणों पर ही मुग्ध है। कला उसी प्रकार अपने में पूर्ण है। अलग अलग लोग उसे अलग अलग दृष्टियों से देखते हैं।

इस सम्बन्ध में चित्रकार रैफेल का कहना है कि—सत्य की खोज में जब लोग मन्दिर में गये तो पुजारियों ने उन्हें पीने के लिये एक प्रकार की मदिरा दी। वह मदिरा किसी को मीठी, किसी को कड़ुवी तथा किसी को तीखी लगी। मदिरा वही थी किंतु उसका स्वाद भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है।"

वस्तुतः यह विवाद व्यर्थ का है। कला की सृष्टि करने वाला कलाकार ही तो होता है और वह समाज का प्राणी होता है। उसकी आवश्यकता समाज की आवश्यकता है और समाज की आवश्यकता उसकी आवश्यकता है। अतः उसके दो प्रकार के रूप हुए—एक सामाजिक और दूसरा व्यक्तिगत और उसकी सृष्टि ने भी दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण किया। इस प्रकार कला में विरोध कहाँ है। वह स्वांतः सुखाय ही होती है किंतु जैसा कि हम पहले कह आए हैं कला मनुष्य को मानवमात्र की उस भाव भूमि पर ले

जाती है जहा वह अपनी पृथक सत्ता को भूलकर मनुष्यता की उच्च भावभूमि पर जा ठहरता है। फिर उसका अपना और पराया कहाँ रहा ? फिर कला में भावों का चित्रण और अनुभूति की अभिव्यक्ति ही तो होती है। भाव मूलतः मनुष्य मात्र के क्या प्राणि मात्र के तथा सम्पूर्ण प्रकृति के एक ही होते हैं। फिर यदि वह 'व्यक्ति सुखाय' होगी तो सर्व सुखाय भी होनी ही चाहिए। तुलसी की रामायण भी तो स्वांतः सुखाय लिखी गई थी किंतु क्या वह सब को आनन्द नहीं देती।

फिर कला कला के लिये है अथवा जीवन के लिये यह प्रश्न वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ यह समझ लिया जाता है कि वह समष्टि से अलग नहीं है। कारण दोनों के जीवन का उद्देश्य है उस परम लक्ष्य की खोज। कला भी उसी की खोज करती है। किस प्रकार करती है ? वह आनन्द स्वरूप है और कला का अंतिम लक्ष्य भी आनन्द ही है। अतः जहाँ कला का अंतिम लक्ष्य आनंद है वहाँ ही उसका अंतिम लक्ष्य उस ब्रह्म की प्राप्ति भी हो ही जाती है। अतः यह प्रश्न निर्विवाद है।

२५—साधारणीकरण

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है" इसमें काव्य के मनन द्वारा पाठक या श्रोता भाव की सामान्य भूमि पर आ जाता है। "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" दूसरे शब्दों में रस दशा में आए हुए कवि द्वारा विषय का इस रूप में वर्णन करना जो सामान्य लोक हृदय कोभी रस दशा में लादे तब साधारणीकरण की अवस्था होती है। एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण भली प्रकार हो जायगा। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रति रति का भाव न रखते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुंतला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति, शकुन्तला के प्रति साधारण रति मात्र रह जाती है। अर्थात जो भी पाठक या दर्शक दुष्यन्त शकुंतला के इस दृश्य को पढ़ता या देखता है वही अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। ऐसा किस प्रकार होता है? इसका उत्तर यही है कि सामान्यतः भाव जगत सब का समान है। उसका जाग्रत होना भी समान है। दुष्यन्त के भाव सामान्यतः सभी पाठक या श्रोता के भाव हो सकते हैं, अतः दुष्यन्त की शकुंतला के प्रति रति भी सामान्य पाठक या श्रोता में हो सकती है। कारण, "आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इस से स्पष्ट जाना जा सकता है कि साधारणी करण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है। और जब आलम्बन का साधारणीकरण हो जायगा तो आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक है। यह शुक्लजी का अपना विचार है। विश्वनाथ ने भी उसी ओर संकेत किया है। परन्तु भट्टनायक और अभिनव गुप्त का मत इससे और आगे बढ़ जाता है। उन दोनों ने तो स्थायी

भाव तथा विभाव आदि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव (आलम्बन अर्थात् केवल शकुन्तला) का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि शकुंतला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भाव रखना अनुचित होगा। इसलिए सहृदय प्रत्येक दशा में न आलम्बन के साथ साधारणीकृत सम्बन्ध स्थापित करता (प्रेम करता है) और न आश्रय के साथ तादात्म्य। कारण, उसका यह प्रेम अपना व्यक्ति गत प्रेम नहीं होता। "नममेति न परस्येति।"

किन्तु शुक्लजी का कहना है कि "काव्य का विषय सदा विशेष होता है सामान्य नहीं। वह व्यक्ति सामने लाता है जाति नहीं" कारण "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।" बात भी ठीक है। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है अर्थ ग्रहण-मात्र से उसका काम नहीं चलता और बिम्ब ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा। इसीलिए शुक्लजी ने आलम्बन (अर्थात काव्य में वर्णित विशेष पात्र यानी शकुन्तला सीता आदि) का साधारणीकरण माना है क्योंकि इन पात्र विशेष का बिंब उपस्थित किया जासकता है। किंतु इतने से भी हमारी पहले वाली शंका का समाधान तो हो नहीं पाता कि हमारा (पाठक या श्रोता का) पूज्य व्यक्ति अपना वही आलम्बन हर अवस्था में किस प्रकार हो सकता है ? सीता के प्रति हमारा मातृ भाव है किन्तु पुष्प वाटिका में जब राम सीता को देखकर लक्ष्मण से अपने रति सम्बन्धी भाव व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि "मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय तिन कीन्ही।" तो राम के समान यदि सीता के प्रति सबका मन ही 'कुपंथ' पर 'पग धरने' लगे तो एक अनर्थ खड़ा हो जायगा। मर्यादा का अतिक्रमण बड़े भयङ्कर रूप में हो जायगा और पूज्य भावना को एक गहरी ठेस लग जायगी। ऐसी अवस्था में शुक्लजी ने एक मार्ग बताया अवश्य है किंतु ह कहाँ उपयुक्त है यह भी विचारने की बात है।

उन्होंने कहा है कि ऐसी अवस्था में उसकी कल्पना में उसकी स्वयं की प्रेयसी की मूर्ति ही आयगी। यहाँ आलम्बन सीता न रह कर उसी प्रकार के सम्बन्ध वाली उसकी कोई भी प्रेयसी हो सकेगी। किंतु यदि पाठक या श्रोता की कोई प्रेयसी ही नहीं है तो उसी के समान गुणों से युक्त सुन्दरी की कोई

कल्पित मूर्ति ही उसकी कल्पना में आजायगी। किंतु यह कल्पित मूर्ति भी किसी विशेष की होगी सामान्य की नहीं। बात कुछ अधिक जँचती हुई नहीं जान पड़ती। भट्टनायक और अभिनव गुप्त भी इस मत से सहमत नहीं हैं। किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति का रूप है। दूसरी बात है कि यदि भाव मधुर न होकर कटु है; जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर अपना भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है। अपना यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नहीं कह सकते।

इसी समय एक प्रश्न और भी उठ खड़ा होता है कि एक ही आलम्बन भिन्न भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों का आलम्बन किस प्रकार हो सकता। काव्य का आलम्बन यदि एक युवती है और दर्शकगणों में बालक, युवक तथा वृद्ध भी हैं और अधिक विचारणीय अवस्था उस समय होगी जब कि स्त्रियाँ भी दर्शक हों। ऐसी दशा में सभी का आलम्बन समान रूप से तो काव्य में वर्णित युवती नहीं हो सकती। दूसरी ओर किसी पूँजीपति के शोषक.कर्म को देखकर या किसी निरीह गरीब पर क्रूर अत्याचार करते हुए देखकर तो उसके साथ तादात्म्य होना तो दूर रहा केवल सहानुभूति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार इन सभी शंकाओं का समाधान शुक्लजी द्वारा बताए अनुसार नहीं हो पाता।

एक बात और भी उठे बिना नहीं रह सकती। सभी हिंदू अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार राम के प्रति श्रद्धा और रावण के प्रति घृणा का भाव; कृष्ण के प्रति श्रद्धा और कंस के प्रति घृणा का भाव रखते हैं। काव्य में ऐसी अवस्थाएँ बराबर आती रहती हैं कि दुष्टबुद्धियाँ सद्बुद्धियों के प्रति अत्याचार करती हैं और उन दुष्टों का विरोध करने वाले, सद्भावना वाले वाले तथा दुष्टों की दुष्टताएँ दूर करने वाले नायक उनका विरोध करते है। ऐसी अवस्था में पहले पहले कितनी ही घटनाएं ऐसी आती हैं जिनमें दुष्ट प्रतिनायक की विजय और नायक की पराजय होती रहती हैं। उदाहरण स्वरूप राम रावण के युद्ध में रावण राम के प्रति दुष्ट वचन कहता है या राम की कभी कभी की हार पर प्रसन्न होता है और अनेक प्रकार की खुशियाँ मनाता है तब क्या दर्शकगण रावण के प्रति तादात्म्य करके उसकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मिला देंगे ? क्या राम के प्रति बुरे भाव उनके मन में आ सकेंगे ? सम्भव है सभी का उत्तर यही होगा कि नहीं। तब ऐसी अवस्था में क्या होगा ? इसके लिए शुक्लजी ने रस की दो

अवस्थाएँ मानी हैं—एक वह जिसमें दर्शक या पाठक काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य करता है और काव्य के आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है। यह रस की उच्च अवस्था मानी गई है; किंतु दूसरी रस की एक नीची अवस्था में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नहीं होगी, वरन् श्रोता या पाठक वा दर्शक उस आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रस दशा को हम मध्यम कोटि की मानेंगे। इस दशा में श्रोता या दर्शक वा पाठक का हृदय उस आश्रय के हृदय से अलग रहता है अर्थात् श्रोता या दर्शक वा पाठक उसी भाव का अनुभव नहीं करता है जिस भाव की व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उसके प्रति किसी और ही भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग आदि का—अनुभव करता है। इस दशा को भी एक प्रकार की रस दशा माना गया है। शुक्लजी ने कहा है कि "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य रहता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि जहाँ हम काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं कर पाते वहाँ कवि के साथ करते हैं।

यहीं पर विचार के लिए एक शंका और आ खड़ी होती है। काव्य में कुछ स्थल या व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका कवि केवल चित्रण करके ही सन्तुष्ट होता है। वहाँ आलम्बन और आश्रय का प्रश्न ही नहीं रहता ऐसे स्थान पर हम किसी आलम्बन को स्वीकार करें या करें हीं नहीं। यदि आलम्बन नहीं होता तो आश्रय का अस्तित्व ही नहीं रहता और न तादात्म्य का प्रश्न ही रह जाता है और जब आश्रय और आलम्बन नहीं तो कहाँ रस और कहाँ साधारणीकरण। शुक्ल जी ने भी यह शंका स्वयं ही उठाई है और उसका समाधान भी उन्होंने स्वयं ही अपने ढंग से कर लिया है। उनका कहना है कि "जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देते हैं वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण कर उसके प्रति कोई भाव रखकर ही वह ऐसा करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का

तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।"

ये सभी शंकाएँ एक ओर तो अलग अलग करके शान्त होती जाती हैं किन्तु दूसरी ओर कई नई शङ्काएँ उत्पन्न करती जाती हैं और वह यह कि क्या साधारणीकरण का भी विभाजन होता है? क्या साधारणीकरण की भी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होती है? क्या साधारणीकरण के आलम्बन और आश्रय अवस्था और समय के अनुसार बदलते रहते हैं? क्या रस दशा की भी ऊँची नीची कोटियाँ होती हैं? किन्तु भाव जगत सर्वत्र एक है। रस सर्वत्र एक, अभिन्न तथा अखण्ड है फिर यह सब विभाजन, यह सारी अनेकता और यह सब ऊँची नीची कोटियाँ क्यों? तो प्रश्न उठता है कि क्या शुक्ल जी ने इस सबको तत्वतः समझ नहीं पाया है या हमारे प्राचीन आचार्यों ने ही इस सबको समझने में भूल की है; जिन पर आधारित होकर आचार्य शुक्ल ने अपना विवेचन किया है।

वस्तुतः बात कुछ और है। कला का अथवा कला के अंग साहित्य तथा उपांग काव्य का निर्माण पहले होता है और उस निर्मित काव्य पर ही उसको सिद्धान्तों में प्रतिष्ठापित किया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने भी साधारणीकरण का सिद्धान्त इसी प्रकार प्राचीन वर्णित काव्य के आधार पर ही निर्धारित किया है। प्राचीन काल में काव्य का नायक विशेष रूप से ऐसा ही व्यक्ति होता था जिसमें खोज खोज कर ऐसे सभी आदर्श और उच्च गुणों की कल्पना की जाती थी जिन के कारण वह हमारे भावों के साथ तादात्म्य कर जाता था (यद्यपि प्रेम आदि के स्थान पर अपने पूज्य नायक और नायिका के साथ शृङ्गारी स्थलों पर फिर भी हम तादात्म्य न कर पाते थे जैसा कि राम और सीता के सम्बन्ध में अभी ऊपर कह आए हैं।) प्राचीन आचार्यों ने इसी लिए काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य वाला सिद्धान्त बनाया है। किन्तु आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों, नाटकों और काव्यों के नायकों का चरित्र उक्त आदर्शों के बिल्कुल विपरीत हो गया है जिनके साथ तादात्म्य करना न तो सहज होगा और न स्पृहणीय ही। यदि ऐसे नायक के साथ भी कोई तादात्म्य कर सके तो यह उस साहित्यकार की सबसे बड़ी असफलता होगी। कारण, उपन्यासकार, नाटककार या काव्यकार ने चित्रित चरित्र में इसीलिए ऐसे विपरीत गुणों का समावेश किया जिससे वह समाज में इस प्रकार के दुर्गुणों के प्रति घृणा क्षोभ और ग्लानि का भाव उत्पन्न कर

सके । इस प्रकार इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः नायक का सीधा सम्बन्ध साधारणीकरण से नहीं होता । नायक के प्रति तादात्म्य होने या न होने का उत्तरदायित्व कवि या लेखक के ऊपर है । अर्थात् यदि कवि या लेखक अपने नायक के प्रति तादात्म्य करता है जो निश्चित ही पाठक या श्रोता को भी करना होगा और यदि कवि या लेखक उस नायक का चित्र केवल दुर्गुणों के प्रति अपनी घृणा आदि भावों की अभिव्यक्ति का साधन ही बनाता है तो पाठक या श्रोता के अन्तर से भी उसके प्रति वही भाव जाग्रत होगा । सफल कवि या लेखक तो वही है जो अपने अन्तर के भावों को इस प्रकार व्यक्त करे कि वे पाठक या श्रोता के कोमल भावों से जा टकराएँ और सच्चा साहित्य वही है जो कवि या लेखक के अभिव्यक्त भावों को पाठक या श्रोता के भाव बना दे । इन सबसे परिणाम यही निकला कि पाठक या श्रोता का सीधा सम्बन्ध कवि काव्य या लेखक से है न कि काव्य में वर्णित नायक से । पाठक की नायक के प्रति वही धारणा बन जाती है जो कवि बनवाता है अथवा जो कवि की धारणा होती है । फिर तादात्म्य भी पाठक और श्रोता का कवि के साथ ही होना चाहिए नायक के साथ नहीं ? यदि यह बात ठीक है तो हमारी शंकाएँ एक साथ समाप्त हो जाती हैं । उनके उठने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता । यह प्रश्न भी फिर समाप्त हो जाता कि है कि किस अवस्था में नायक के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य होता है और किस अवस्था में वह उसके शीलद्रष्टा के रूप में रहता है । किस समय पाठक अपने को नायक से अभिन्न समझता है और किस समय वह अपने को नायक से भिन्न कर लेता है । कहाँ रस की उच्च दशा होती है और कहाँ रस नीची कोटि में रहता है । हम तो हर अवस्था में कवि के साथ तादात्म्य करते हैं । आश्रय चाहे दुष्ट प्रवृत्ति का हो चाहे सुप्रवृत्ति का हम तो हर अवस्था में उसकी ऊँची कोटि की ओर ही अग्रसर रहते हैं । शुक्ल जी को रस की कोटियाँ, साधारणी करण का जो विभाजन आदि करना पड़ा वह केवल इसलिए कि उन्होंने इस सत्य पर पर्दा डाल दिया कि प्रत्येक अवस्था में तादात्म्य कवि के साथ होता है । जब कि उन्हें कुछ अवस्थाओं में कवि के साथ तादात्म्य मानकर ही अपनी शंकाओं का समाधान करना पड़ा है । आखिर चारा भी क्या था ? कवि को पीछे देकर हम कभी वस्तु स्थिति तक पहुँच ही नहीं सकते हैं । कारण, कवि तो ब्रह्मा है; स्रष्टा है । वह अपने अनुकूल ही अपनी काव्य सृष्टि का निर्माण करता है और करता है उन्हीं भाव-साधनों से, जो उसके पास हैं तथा करता है उन्हीं परिस्थितियों

में जिनमें वह गुजर रहा है। फिर कवि समाज में रहने वाला एक मानव ही तो है। उसके भाव भी वही होने चाहिए जो समाज के अन्य व्यक्तियों के हैं। इसीलिए तो विभिन्न कवियों के एक ही नायक अपना व्यक्तित्व भिन्न रखते हैं। इसीलिए तो सूर के राधा-कृष्ण से बिहारी के राधा-कृष्ण बहुत भिन्न हैं, विद्यापति के उनसे भी अलग है और आज के युग में आकर महाकवि हरिऔध के राधाकृष्ण प्राचीन लीक छोड़कर चलने वाले सायर सिंह सपूत में से हैं। हम किस कवि को बुरा कहें? किन राधाकृष्णों को बुरा कहें? उत्तर में सब यही कहेंगे कि किसी को भी नहीं। सभी अपने-अपने युग के अनुकूल हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि सूर तथा विद्यापति के राधाकृष्ण के साथ तो हमारा तादात्म्य हो जाता है किन्तु आज के हरिऔधी राधाकृष्ण के साथ नहीं होता। सब के साथ होता है और इसका कारण है कवि। अर्थात हम कवि की उस भावना के साथ तादात्म्य करते हैं जो उनके राधाकृष्ण के माध्यम द्वारा समाज के समक्ष सचित्र रूप में व्यक्त हुई है। अतः एक शब्द में हम यही कह सकते हैं कि तादात्म्य सदैव कवि के साथ होता है।

अब प्रश्न आता है आलम्बन का। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है? यदि हाँ तो पुष्प वाटिका की सीता का साधारणीकरण होने पर सीता भी हमारे लिए उसी प्रकार रति की जाग्रत करने वाली प्रेयसी के समान है जिस प्रकार राम के लिए जब लोग उसके साथ मातृ-भाव स्वीकार करते हैं। निश्चय ही इन दोनों बातों में से एक को सत्य और दूसरी को असत्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि या तो तुलसी का काव्य काव्य नहीं है यदि वह सीता को उसी रूप में सब का आलम्बन नहीं बना सके जिस रूप में वह राम की है; या सीता के लिए मातृ भाव रखने वाले लोग ही पाखण्डी हैं। किन्तु ध्यान देने पर इन दोनों में कोई भी असत्य नहीं है। कारण, हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं न कि राम की प्रिया से और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमें किसी प्रकार का संकोच हो; जिसके लिए हमें मर्यादाओं का ध्यान रखना पड़े वह कवि की अपनी मानसी सृष्टि है अर्थात् वह कवि की अनुभूति का प्रतीक है न कि रक्तमास की बनी हुई नारी। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेदनशील बनाया है। अतः हम जिसे आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की, अपनी अनुभूति का प्रतीक मात्र है, सम्वेद्य रूप है और उसके साधारणीकरण का अर्थ होता है कवि की अनुभूति का साधा-

रणीकरण । यह हम पहले ही कह आए हैं कि अनुभूति मूलतः सब के अन्तर में एक ही है उसे जाग्रत करना ही कवि का काम है ; साधन सब के पास हैं किंतु उसको प्रतिमा रूप में चित्रित करने का काम असली काम है । वह काम कवि करता है । भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का समर्थन भी हमें इस पक्ष में अनायास ही मिल जाता है ।

अतः साधारणी करण केवल कवि की अनुभूति का होता है । कवि उसी को तो कहते हैं जिसमें यह शक्ति हो कि अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के द्वारा अन्य सभी के अन्तर में समान अनुभूति की जाग्रति कर सके अर्थात जो अपनी अनुभूति को सब की अनुभूति से मिलाकर एक कर दे । दूसरे शब्दों में जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर दे वही सच्चा कवि है ; उसी की कृति सच्चा काव्य है और यह क्रिया ही वस्तुतः साधारणी-करण है ।

अतः साधारणी करण के दोनों पक्ष आश्रय और आलम्बन कवि से भिन्न नहीं है । दोनों रूपों में हमारा सम्बन्ध कवि से है काव्य के आश्रय और आलम्बन से नहीं ।

अब थोड़ा इस पर भी विचार कर लिया जाये कि कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों और आचार्यों के दो मत हैं—एक का कहना है कि साधारणीकरण का होना भाषा की शक्ति पर आधारित है और दूसरे का कहना है कि साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी व्यक्तियों के हृदय में—भारतीय संस्कृति तो सम्पूर्ण चराचर को इस घेरे में ले लेती है— एक ही समान व्याप्त है । किन्तु ध्यान देने पर यह विवाद विवाद नहीं रह जाता । कारण, साधारणीकरण के दो पक्ष निश्चित हुए हैं एक कवि का जो अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है और दूसरा श्रोता या पाठक का जो कवि की अभिव्यक्त अनुभूति द्वारा अपनी अनुभूति को भी जाग्रत करते हैं । एक प्रेरक पक्ष (कवि) है तो दूसरा प्रेरित पक्ष (श्रोता या पाठक) हैं । किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए कुछ न कुछ माध्यम, कोई न कोई साधन अवश्य चाहिए । कवि को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए, उसे दूसरों के अन्तर तक प्रविष्ठ कराने के लिए भी एक साधन की आवश्यकता है । भाषा वही साधन है । साधारणीकरण के लिए इन तीनों की—(१) कवि, (२) सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण पाठक और श्रोता, (३) माध्यम या साधनस्वरूप भाषा

आवश्यकता है। ये तीनों जब एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं तभी सारा काम बन जाता है।

भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१—जिसमें भाषा के प्रतीक केवल ज्ञान जाग्रत करते हैं और दूसरा वह जिसमें ज्ञान के आगे भावों को जगाया जाता है। ज्ञान जाग्रत करने के लिये तो सामान्य भाषा से भी काम चल जाता है क्यों कि ज्ञान का स्थान पहले है किन्तु भाव ज्ञान से अधिक गम्भीर हैं अतः भावों को जगाने के लिये एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। भट्टनायक ने तो काव्य में ही 'भावकत्व' नामक एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिससे भाव का आपसे आप ही भावन हो जाता है अर्थात साधारणीकरण हो जाता है किंतु अभिनव गुप्त इस 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना को निराधार मान कर शब्द की सर्व प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न उठाया जाय कि भावोद्दीपन में भाषा द्वारा एक व्यक्ति के उद्दीप्त भाव अन्यों के हृदयों में समान भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं तो उत्तर में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण मानवता मूलतः एक ही चेतना से चैतन्य है; सभी के अन्तर में समान भाव सुप्त हैं और उन सभी के अन्दर आपसे आप एक ऐसा सम्बन्ध है जैसे कि बिजली की सभी बत्तियाँ बिजलीघर के एक ही स्विच से सम्बन्धित रहती हैं। जब तक बटन दबाया नहीं जाता तब तक तो प्रकाश न जाने कितने गहरे में छिपा रहता है किन्तु जैसे ही बिजलीघर का एक बटन दबाया कि सम्पूर्ण बत्तियाँ एक साथ जगमगाने लग जाती हैं। भाव भी उसी प्रकार हैं। कवि उसका बिजलीघर वाला प्रमुख बटन है जिसके द्वारा अन्य सभी हृदयों में एक साथ ही अनुभूति का प्रकाशन होने लगता है। भाषा उस अनुभूति प्रकाशन का साधन है।

२६—कला

मानव की प्रगति के मूल में उसकी मनोवृत्तियों का सबसे प्रमुख हाथ रहता है। अपने चतुर्दिक वातावरण का उसके मानस पर जो प्रभाव पड़ता रहता है वह उसे व्यक्त करना चाहता है। भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रभाव के कारण हुई है। यदि वह अपने भावों को भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाता तो उनके व्यक्तीकरण के लिए अन्य साधनों को अपनाता है। मनोभावों को व्यक्त करने की यही अदम्य और शाश्वत भावना कला की जननी है। मनोभावों को व्यक्त करने की तीव्र लालसा रहती तो प्रत्येक मानव में है परन्तु जिन व्यक्तियों की कोमल वृत्तियाँ अधिक शक्तिशालिनी बन जाती हैं उनका जीवन सहृदयता एवं द्रवणशीलता से ओत-प्रोत रहता है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने मानव की अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति के मूल में, उसके हृदय में स्थित इसी सहृदयता एवं द्रवणशीलता को, जो करुण भावना से उत्पन्न होती है, माना है। इसी से भवभूति करुण रस से अन्य सभी रसों की उत्पत्ति मानते हैं। सहृदयता एवं द्रवणशील भावप्रवण हृदय शान्त नहीं रह सकता। उसे एक हल्की सी चोट चाहिए। उससे वह न केवल तिलमिला उठता है, वरन् कुछ ऐसी तान छेड़ता है जिस पर 'धरा मेरु' भी डोल जाते हैं। संसार की समस्त कलाओं का मूल यही कोमल मनोवृत्ति है। इसी कोमल मनोवृत्ति—करुणा की भावना—से क्रौंचवध के लोमहर्षक दृश्य को देखकर आदि कवि वाल्मीकि के विगलित हृदय से बधिक के लिए शाप निकल पड़ा था—

"मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः,
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

आज का वैज्ञानिक 'कला' और 'सौन्दर्य' को पर्यायवाची मानता है। मनुष्य की कृति में सौंदर्य का योग कला कहलाता है। सौंदर्य की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने कहा है कि—"जिन वस्तुओं में क्रम, सुडौलपन, सौष्ठव तथा अवयव संगति हो वे सुन्दर कहलाती हैं।" मानव की कृति में सौंदर्य तभी उत्पन्न होता है जब मन की वृत्ति का वस्तु से रागात्मक संतुलन हो। और इस सौंदर्य की सार्थकता तभी है जब वह परमार्थ का साधक होने में सहायक होता है। परन्तु कुछ विद्वान इस सौंदर्य के दो रूप मानते हैं। वस्तु का एक सौंदर्य

वह है जो सुख-प्रदायक (Pleasure value of a thing) होता है और दूसरा सौंदर्य वह है जो प्रभावशाली (Influence value of a thing) होता है। विशुद्ध कलावादी केवल सुख प्रदायिनी सुन्दरता पर विशेष ध्यान देते हैं और कला में उपयोगिता की प्रधानता को मानने वाले प्रभावशालिनी सुन्दरता पर। कला का यह विभाजन विदेशी विद्वानों द्वारा किया हुआ है। भारतीय विद्वान कला में इन दोनों का सन्तुलन मानता है। उसका काव्य यशकारक, अर्थ प्राप्ति का साधन, व्यवहारशास्त्र की शिक्षा देने वाला, अकल्याण का नाशक और उपदेश प्रद है। काव्य के सब कार्य हितैषी गुरुजन की भाँति नहीं होते, वरन् प्रियतमा के मधुर सम्भाषण की भाँति हृदय में रस घोलते हुए मनुष्य का हित साधन करते हैं जैसा कि 'काव्यप्रकाश' में कहा गया है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

काव्य मीमांसाकार मनुष्य में दो प्रकार की प्रतिभाएं मानता है—भावयित्री और कारयित्री। मनुष्य की इन दोनों प्रतिभाओं का समान विकास नहीं होता परन्तु एक के विकास में दूसरे का सहयोग अवश्य होता है। बालक में शैशव काल से ही उत्सुकता की मौलिक प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। इससे उसके मन में वस्तुओं के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा से ज्ञान का संग्रह होता रहता है। परन्तु विभिन्न बालकों में इसका रूप और परिमाण उनकी मानसिक उपकरणों की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार का होता है एक बालक एक नये खिलौने को केवल उलट-पुलट कर सन्तुष्ट हो जाता है परन्तु दूसरा उसे तोड़कर 'उसके भीतर क्या है' यह जानने को भी उत्सुक हो उठता है। बालक की यह उत्सुकता की प्रवृत्ति ही भावयित्री प्रतिभा का मूल है।

बालक में एक दूसरी प्रवृत्ति होती है निर्माण करने की। वह स्वयं अपने बनाए हुए खिलौनों, गुड़ियों, ईंट-पत्थर को जोड़कर बनाए गए घरों अथवा घरोंदों में दूसरों के बने बनाए खिलौनों से अधिक आनन्द लेता है। यही मनोवृत्ति कारयित्री प्रतिभा का मूल है। परिस्थितियाँ इसके विकास और निर्माण में अधिक सहायक होती हैं। किशोरावस्था में बालक में एक तीसरी प्रतिभा का उदय और होता है—कल्पना शक्ति का। यह उपर्युक्त दोनों प्रतिभाओं को प्रेरणा देती है। इसी कल्पना शक्ति की सहायता से भावयित्री प्रतिभा वस्तु के सौंदर्याङ्कन में प्रवृत्त होती है और निर्माण में सौन्दर्य स्थापन का

प्रयत्न करती है। इस प्रकार इन तीनों शक्तियों के पारस्परिक सहयोग से कला की उत्पत्ति होती है। परिस्थितियाँ कलाकार की रुचि विशेष की नियामिका होती हैं। इन्हीं परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप अकबर काव्य का प्रेमी बना और शाहजहाँ स्थापत्य कला का। इन्हीं मौलिक वृत्तियों की विकासमयी स्थिति कलाकार की कला में तारतम्य उत्पन्न करती है। इन्हीं के प्रभाव से नवयुवक कलाकार की कला में बाह्य सौन्दर्य की प्रधानता रहती है और प्रौढ कलाकार की कला में अन्तर्बाह्य सौन्दर्य का संतुलन।

बालक में एक और मनोवृत्ति होती है—अनुकरण करने की मनोवृत्ति। यह उसकी मौलिक मनोवृत्ति है। यहाँ तक कि इस अनुकरण की वृत्ति से अधिकांश वयस्कों के भी अनेक व्यापारों का संचालन होता है। कोई कलात्मक कृति इस मौलिक वृत्ति का सर्वथा तिरस्कार नहीं कर सकती।

कला के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त कला के जन्म और उद्देश्य के विषय में विभिन्न विदेशी और भारतीय विद्वानों की परिभाषा भी अत्यन्त आवश्यक है। अरस्तू और दान्ते के मतानुसार कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में निहित है और इस अनुकरण का विषय मौलिकता की दृष्टि से प्रकृति है। दान्ते ने अपने महाकाव्य 'डिवाइन कामडियाॅ' में कला के विषय में कहा है कि—"Art, as fas as it is able, follows nature, as a pupil imitates his master, thus your art must be, as it were, gods grandchild." इस परिभाषा द्वारा दान्ते ने कला का सम्बन्ध प्रकृति और ईश्वर से माना है परन्तु कला-प्रवृत्ति न केवल प्रकृति के अनुकरण में ही सीमित है और न केवल ईश्वर के अनुमोदन में ही। मानव का 'स्व' इन दोनों का अभिनन्दन करते हुए भी इनसे स्वतन्त्र और रचनाशील होता है। मानव का यही 'स्व' पूर्णता को आत्मसात कर सर्वोपरि हो उठता है जैसा कि चन्डीदास ने कहा था—"सावार ऊपर मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाईं।" दूसरी बात यह है कि अनुकरण की प्रवृत्ति में आत्महीनता की भावना भी होती है जिसकी अनुभूति कला जैसी विश्वास-जन्य वस्तु को जन्म नहीं दे सकती।

अरस्तू का कथन है कि—"स्वभाव अथवा कला के माध्यम से मनुष्य विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है। कुछ कलाकार रंगों और मूर्तियों के द्वारा अनुकरण करते हैं तथा अन्य शब्दों के द्वारा।" हीगल की धारणा कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में 'मेटाफिजीकल' ही है। वह कहता है—"प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वरीय सौंदर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।" क्रोचे का

दृष्टिकोण कला-उद्भावना के सम्बन्ध में कुछ अधिक मानवीय गौरव की रक्षा कर सका है और एक अर्थ में 'अनुकृतिवाद' के मनोवैज्ञानिक पक्ष की विकसित दशा प्रस्तुत करता है। वह 'मानसिक अभिव्यक्ति' को कला मानता है। अनुकृतिवाद में मानव मन की अविकसित अवस्था विस्मय या कौतूहल की प्रेरणा से अनुकरणशील मानी गई है, वही अवस्था, एक सतत-चेतन प्रगति से विकास की विशेषताओं को एकत्र कर, आकर्षण और जिज्ञासा की प्रेरणा से स्वभावतः अभिव्यक्तिशील समझी गई है। यही क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' कहलाता है। उपर्युक्त परिभाषाओं के मूल में आत्म प्रकाशन की मनोवृत्ति कार्य करती है। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। तथ्य यह है कि उपर्युक्त प्रारम्भिक परिभाषाएं मानसिक भावनाओं के उद्गम की ओर संकेत करती हैं और क्रोचे की परिभाषा अभिव्यक्ति पर बल देती है। इसमें प्रयोजन पर बल नहीं दिया गया है। उपनिषदों के अनुसार जगत की उत्पत्ति इसलिए होती है कि ब्रह्म उसके द्वारा अपनी लीला देखना चाहता है। उसके मानसिक सौन्दर्य की अनुकृति से जगत-सौंदर्य की सृष्टि होती है। उसका यह अभिव्यक्त सौन्दर्य निष्प्रयोजन नहीं है। तब हम यह कैसे स्वीकार करलें कि मानव-निर्मित सौन्दर्य निष्प्रयोजन होता है।

टाल्स्टाय कला-सृजन की प्रेरणा को केवल सौन्दर्य बोध की बन्दिनी नहीं मानता। उसके विचार से कला की प्रेरणा भावना-संप्रेषण की इच्छा में निहित है। उसका कहना है कि शब्द विचारों के वाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका होती है। उसके अनुसार कला-निर्माण की प्रेरणा अनुभूतियों की प्रेषणेच्छा से मिलती है और इन अनुभूतियों को प्रेषित करने की इच्छा व्यक्ति की निजी आवश्यकता है क्योंकि यह इच्छा उसकी मूल प्रवृत्तियों में है। ऐसा करके उसे आत्मतोष प्राप्त होता है।

कला के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार व्यावहारिक दिशा की ओर उन्मुख हैं। मार्क्स की धारणा है कि मनुष्य का दैनिक जीवन उसकी अपनी चेतना पर अवलम्बित नहीं, प्रत्युत मनुष्य की चेतना ही उसके समष्टि जीवन पर अवलम्बित होती है। इसीलिए कलाकार की चेतना भी सामाजिक जीवन की ही देन है। सामाजिक जीवन आर्थिक बिन्दु पर केन्द्रित होने कारण कला भी अपनी मूल प्रेरणा आर्थिक स्थिति से ही पाती है। अतः शोषक वर्गों के द्वारा संचालित समाज की आर्थिक स्थिति के शोषणात्मक होने के कारण उस वर्ग की कला भी शोषणात्मक होने को बाध्य है। इसी आधार पर शोषितों की कला विद्रोहात्मक होगी और दोनों वर्ग एक दूसरे की कला को अपने अपने

न्यायों के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक मानेंगे। इस तरह मार्क्स ने चिरंतन कला का आदर्शात्मक उच्चता का द्वार बन्द कर तथा इतिहास के काल-खण्डों में अमरत्व-प्राप्त कलावस्तुओं को संकीर्णता का वर्गवादी प्रतीक बना कर, उनका महत्व ही शून्य कर दिया है। इसी कारण रमणीयता, मानवीय अन्तः सौंदर्य और भावनात्मक विच्छिति की भी स्वाभाविकता को प्रकारान्तर से अस्वीकार करने वाला मार्क्स कला-निर्माण को एक वर्ग-स्वार्थ से प्रेरित सामाजिक कर्त्तव्य समझता है।

फ्रॉयड की चिन्तन-पद्धति अपनी परम्पराओं से बिल्कुल भिन्न और निराली है। वह कला द्वारा मानव की दमित वासनाओं का उन्नयन मानता है। उसके अनुसार मानव के अवचेतन मन की प्रवृत्तियों के मूल में उसकी अतृप्त वासना या यौन-प्रवृत्ति रहती है। कला-सृजन के द्वारा ये अवचेतन प्रवृत्तियाँ ही प्रायः प्रकाश में आती हैं और उनकी कल्पनात्मक वासना-तृप्ति होती है। इसके अनुसार कलाओं में दूषित मनोवृत्तियों का समुन्नयन होता है। साधारणतः हमारी जिन वृत्तियों के प्रकट हो जाने पर समाज में हमारा चरित्र अशुद्ध समझा जाने लगता है वे ही वृत्तियाँ जब कला के आवरण से आवृत्त होकर ऐसे सुन्दर रूप में आती हैं कि उनका प्रकटीकरण शिष्टता एवं शालीनता का उल्लंघन नहीं प्रतीत होता, तभी समुन्नयन की स्थिति उत्पन्न होती है। ग्रीस की नग्न मूर्त्तियाँ, यूरोप की नग्न चित्रकला इन्हीं दूषित मनोवृत्तियों के समुन्नत रूप हैं। परन्तु फॉयड का यह दृष्टिकोण उपर्युक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों में सबसे अधिक विकृत और अवैज्ञानिक है। मानवीय गुणों की हार्दिक और बौद्धिक प्रतिच्छायायें, जो कला सर्जन में सदा ही कलाकार की श्रद्धा, पवित्रता, विश्वास, आत्म दान और मूल प्रवृत्तियों की विभिन्नता बन कर व्यक्त होती हैं, अवश्य ही किसी वृहत्तर आवश्यकता के गर्भ से उत्पन्न हुई होंगी न कि मानव मन की अतृप्त वासनाओं का प्रतिफलन होंगी। आज फॉयड के इस मत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ रहा है।

सौन्दर्यवादी व्यक्ति कला को शुद्ध अर्थात उपयोगिता से असम्बद्ध प्रसन्नता या आनन्द का जनक मानकर उसके सुखात्मक मूल्य (Pleasure Value) को ही महत्व देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कला को फालतू शक्ति का व्यय मानते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि का यही मत है। इन्होंने कला को अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल की प्रवृत्ति का फल बतलाया है। जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है, कला का कुछ अंश इस सिद्धान्त द्वारा अवश्य अस्तित्व में आता है। केशव की राम-

चन्द्रिका विषयक कला उनके भीतर न समा सकने वाले पाण्डित्य का ही परिणाम है। इसी प्रकार सेनापति का श्लेष-वर्णन आत्म-प्रकाशन की भावना के साथ इसी फालतू शक्ति और क्रीड़ा-प्रवृत्ति का परिणाम है।

कुछ विद्वानों का मत है कि मानव का अन्तरात्मा बाह्य जगत को देखता है, अनुभव करता है। अनुभव कर वह उसे प्रकट करना चाहता है। यह प्रकट या अभिव्यक्त करने की भावना से ही 'कला' की उत्पत्ति होती है। मानव के अवचेतन मन पर उसके चतुर्दिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उससे उसके हृदय में सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आश्चर्य-भय आदि की विशिष्ट एवं विभिन्न भावनाएं उत्पन्न होतीं है। मानव सृष्टि के आरम्भ में ये भावनाएं अविकसित अवस्था में रहीं होगीं लेकिन जैसे जैसे उसका अनुभव और ज्ञान बढ़ता चला गया वह उसे स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्न शील होता गया। उसने प्रत्येक वस्तु और भावना का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयत्न से उसके कलाकार, दार्शनिक, मीमांसक आदि अनेक रूप बन गए। इसके मूल में अभिव्यक्ति की भावना ही मूल कारण रही। परन्तु प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति को कला नहीं कहा जा सकता। इसी बात को लक्ष्य कर गुप्त जी ने "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति" को ही कला माना है। अभिव्यक्ति की 'साधारण शक्ति' और 'कुशल शक्ति' में पर्याप्त अन्तर है। कलाकार अपने अभिव्यंजन में कुशल शक्ति का उपयोग करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु को जिस रूप में देखता है उसका उसी रूप में विश्लेषण कर उसके मूलतत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह उस वस्तु का खण्ड-खण्ड कर, अपनी बुद्धि की सहायता से उसका विश्लेषण कर, उसके समग्र रूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि कहलाती है। परन्तु, जैसा कि हम पहले कह आए है, कला के मूल में सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना रहती है। अतः कलाकार समग्र वस्तु को, उसके सम्पूर्ण सौंदर्य को एक बार में ही ग्रहण कर उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य की मीमाँसा या दर्शन की प्रवृत्ति कला नहीं है। यद्यपि अभिव्यक्ति यहाँ भी होती है परन्तु इस अभिव्यक्ति से कला का कोई सम्बन्ध नहीं होता। कला का सीधा सम्बन्ध तो, जगत की वस्तुओं का मानव मन पर जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति से है। विज्ञान में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है और कला में हृदय की। इन दोनों के इसी अन्तर को लक्ष्य कर, कविता की परिभाषा करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था कि—"कविता द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता

है।" इस रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की भावना ही सम्पूर्ण कलाओं की मूलाधार है। एक सुन्दर पुष्प जब एक वैज्ञानिक के हाथों में पड़ता है तो वह उसके खण्ड खण्ड कर उसकी उत्पत्ति, विकास और भावी प्रगति का विश्लेषण करता है। पुष्प का सौन्दर्य उसे अनुप्राणित नहीं कर पाता। परन्तु वही पुष्प जब एक कलाकार के हाथ में पड़ता है तो उसके सौंदर्य दर्शन से कलाकार के हृदय में भावों का एक आन्दोलन सा उठ खड़ा होता है। इसी कारण वह कभी उसमें अपनी प्रियतमा के दर्शन करता है और कभी जगन्नियन्ता के रूप की झलक देखता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति मात्र को कला नहीं कहा जा सकता। कला केवल उसी अभिव्यक्ति को कहा जायगा जिसके मूल में सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना होगी।

भारतीय चिन्तकों ने विदेशी चिंतकों के अनुसार कभी भी कला को उस व्यापक अर्थ की सूत्रधारिणी नहीं माना जिसके अनुसार वे लोग साहित्य, संगीत, चित्र, शिल्प और स्थापत्य को कला के अन्तर्गत मानते हैं। विदेशी विद्वान इनके अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक और प्रत्यक्षतः उपयोगी कौशलों को 'क्रैफ्टमैनशिप' मानते हैं परन्तु भारतीय विद्वानों ने उनमें भी विशिष्ट गुणों और चमत्कार पूर्ण क्रियाओं का समन्वय कर उन्हें चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत माना है। किंतु जैसे जैसे हमारा सम्पर्क पश्चिम से बढ़ता गया, विदेशी दृष्टिकोण के प्रभाव से भारतीय मान्यताओं में भी विशिष्टता और व्यापकता का मिश्रण विभिन्न अनुपातों में प्रकट होने लगा। परिणामस्वरूप परवर्ती भारतीय विचारधारानुसार 'कला' केवल ललित कला के तात्पर्य से प्रयुक्त होने लगी। यों तो वेदों पर ध्यान रखते हुए भारतीय दृष्टि से भी कला का सृजन चिरन्तन है।

भारत में कला शब्द का प्रयोग एक भिन्न ही अर्थ में हुआ है। यह भिन्न अर्थ सौंदर्य-भावना को लक्ष्य कर नहीं चला, वरन् इसके मूल में बुद्धि-तत्व की प्रधानता है। साधारणतः काम तो सभी करते हैं, पर कुछ व्यक्तियों के काम करने के ढङ्ग में कुछ ऐसी विशेषता होती है जो आकर्षण का कारण बनती है। इस आकर्षण में हृदयतत्व की अपेक्षा मनस्तत्व पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी गिरहकट ने ऐसी सफाई से हमारी जेब काटी कि हमें खबर भी न हुई तो जहाँ एक ओर हम अपनी हानि पर दुखी होते हैं वहीं हम उसकी चतुरता की सराहना भी करने लगते हैं। इस सराहना में जिस तत्व की प्रधानता होती है वह तत्व (मनस्तत्व) जब किसी कृति में उत्पन्न हो जाता है तब उसमें हमें कला के दर्शन होते हैं। इस तत्व की स्पष्ट व्यंजना करने वाली

चौंसठ कलाओं की गणना की गई है। इन चौंसठ कलाओं में चोरी, द्यूत-क्रीड़ा जैसी विगर्हणीय, काम कलाओं जैसी गोप्य और संगीत तथा नृत्य जैसी उन्नत कलाएं भी है।

रवीन्द्र बाबू भी कला के मूल में सौंदर्य भावना को ही मानते हैं परन्तु उनका मत है कि सौंदर्य केवल रूप या अभिव्यंजना मात्र नहीं है। उनका कथन है कि—"सौंदर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीति देकर, हमारी कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है। जब हम आत्मा के सौंदर्य का बोध करते हैं तो विश्वात्मा के परमानन्द का अनुभव हमारी कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है।" अतः कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिए आत्म-सौंदर्य और विश्व-सौंदर्य की अनुभूति व्यंजना आवश्यक हैं। 'प्रसाद' ने अपने 'काव्य और कला' निबन्ध में कला के व्यापक अर्थ की ओर संकेत करते हुए, प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धरणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की है। भोजराज के 'तत्त्वप्रकाश' से कला की परिभाषा उद्धृत करते हुए प्रसाद ने उसे 'कर्त्तृत्व की व्यंजक शक्ति माना है—"व्यंजयति कर्त्तृ शक्ति कलेति तेनेह कथिता सा।" साथ ही क्षेमराज के 'शिवसूत्र विमर्शिनी' के आधार पर कला को "नव-नव-स्वरूप-प्रथोल्लेख शालिनी संचित वस्तुओं में या प्रमाता में 'स्व' की आत्मा को परिचित रूप में प्रकट करती है, इसी रूप का नाम कला है" अनूदित किया है। इस परिभाषा और रवीन्द्र बाबू की परिभाषा में बहुत समानता है। इसी विश्वास के आधार पर प्रसाद काव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।

कला के आधुनिकतम विश्लेषकों में यूरोपिय आलोचक इलियट और भारतीय चिंतक अज्ञेय का मत भी उल्लेख योग्य है। दोनों ही समकालीन हैं अतएव दोनों के विचारों में किसी अनुपात में साम्य रहा है। अज्ञेय अपने 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध में कला की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।" उनका अनुमान है कि प्राचीन काल में जब आखेट जीवी परिवार का कोई एक सदस्य किसी कारण से कार्य करने के अयोग्य हो गया तो समाज क [illegible] न निभा सकने के कारण उसने एक विशिष्ट धर्म की दृष्टि द्वारा जीवन का क्षेत्र विकसित करने के लिए एक नई उपयोगिता की सूत्र धारिणी 'कला' को जन्म दिया

होगा। यदि अज्ञेय की इस स्थापना को मान लिया जाय तो इससे कला के मूल में सामाजिक दायित्वों के प्रति पंगुता और पलायन की भावना मिलेगी जिनमें एक भी हीनता की भावना से मुक्त नहीं है और हीनता की भावना कला की विश्वासमयी सृष्टि के प्रतिकूल है। अतः इस प्रकार कला का जन्म नहीं माना जा सकता। इलियट कला को भावों का उन्मोचन, भावों से मुक्ति और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना न मानकर व्यक्तित्व से मोक्ष मानता है। यह विचार भी अज्ञेय के विचारों का कुछ सीमा तक समर्थक है। अस्तु,

यहाँ तक हमने देशी विदेशी विद्वानों द्वारा की गई 'कला' की विभिन्न परिभाषाओं को समझने का प्रयत्न किया है। उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—"मनुष्य ने विश्व सौंदर्य के रूप में व्यक्त चिरन्तन आनन्द की आत्मानुभूति को जीवन के प्रति आस्था, शक्ति और प्राणवत्ता के प्रसार के लिये व्यक्त कर देने की आवश्यकता पहचानी। यही आवश्यकता कला की जननी हुई।" अथवा "विश्व सौंदर्य द्वारा प्राप्त आनन्द बोध की स्वानुभूति मनुष्य ने सचेष्ट होकर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की, वही कला है।"

कला के मूल में सौंदर्य की भावना प्रधान है। फिर कला का उद्देश्य केवल साज-शृङ्गार ही है अथवा कुछ और भी? जिस प्रकार सृष्टि की अनुपम कृति नारी साज-शृङ्गार से कहीं ऊपर है, वह विश्व-मानव की जननी और धात्री है, वैसे ही कला भी विश्व के मूर्त रूप की जननी और धात्री है। वह शुद्ध आध्यात्मिक प्रेरणा से ही जीवन के उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति करती है। जो कला केवल शृङ्गार-सजावट तक ही सीमित रहती है वह वारांगना के समान अशुद्ध और विकृत है। वेरूल का कैलाश-मन्दिर एवं बोरबुदूर का प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप उतनी ही महान आध्यात्मिक कृतियाँ हैं जितनी की शंकर स्वामी का वेदाँत 'शारीरिक दर्शन' और बुद्ध का जीवन 'ललित विस्तार'। कलात्मक निर्माण में पवित्र मानवी श्रद्धा का जब संयोग होता है तभी कला उपासना का रूप धारण कर लेती है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि कला में भाव का अधिक महत्व होता है अथवा रूप का? विद्वानों ने उत्कृष्ट कला उसी को माना है जिसमें भाव और रूप दोनों का सन्तुलित सामंजस्य होता है। कालिदास ने भाव और रूप के तारतम्य की मीमाँसा करते हुए कहा है कि भाव अर्थ है, रूप शब्द है। जब भाव और रूप शब्द और अर्थ की भाँति एक दूसरे के साथ समन्वित होते हैं तभी पूर्ण सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। यहां सत्य कला की उत्कृष्टता का बोधक है। अजन्ता के भित्ति-चित्र भाव और रूप दोनों की दृष्टि से संतुलित हैं।

साहित्य में केवल भाव हों और भाषा की पूर्णता न हो तो साहित्य अपूर्ण है। कला में कल्पना हो और रूप न हो तो वह आकृष्ट नहीं कर सकती। अतः उसमें भाव और रूप का संतुलित समन्वय आवश्यक है।

तीसरा प्रश्न यह उठता है कि कला भावों की अभिव्यक्ति रूप के द्वारा अधिक अच्छी तरह करती है या रंग द्वारा ? कला के क्षेत्र में रूप शिल्प कला में होता है और रंग चित्रकला में। ये भावाभिव्यक्ति के दो प्रकार मात्र हैं। इनकी सफलता या असफलता कलाकार के कौशल पर निर्भर करती है। अजन्ता के कलामण्डप और एलोरा का कैलाश-मन्दिर, इन दोनों में ही विश्व की महती कला के दर्शन होते हैं। भारत में शिल्प कला और चित्रकला दोनों का विकास और इतिहास लगभग एकसा प्राचीन और विस्तृत है। फिर भी हमारे यहाँ चित्र कला की अपेक्षा शिल्पकला की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। साँची का स्तूप, कार्ला-भाजा की चैत्य गुफाएं, गुप्तकालीन मन्दिर और मूर्तियाँ, महाबली पुर के मंदिर और रथ, कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो, आबू और पालिताना के विराट् देवमंदिर राष्ट्रीय शिल्प एवं स्थापत्य कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं जो कलात्मक भावों और रूप-विधान के अक्षय भण्डार हैं। साथ ही राजस्थानी चित्र-शैली और हिमाचल चित्र शैली के असंख्य चित्र भी भाव और रूप-लावण्य के अमर-स्रोत हैं। इस तरह कला की अभिव्यक्ति रूप और रङ्ग दोनों के माध्यम से एक सी हो सकती है। इन दोनों माध्यमों में से कोई भी छोटा बड़ा नहीं है।

२७—कलाओं का वर्गीकरण

विद्वानों का कथन है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है इसलिये उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप में उपस्थित होती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। क्रोचे का मत है कि इन रूपों की भिन्नता में तात्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती हैं। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसलिये तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नहीं। तात्त्विक दृष्टि के अतिरिक्त इसी कारण कला का विभाजन दार्शनिक और कलात्मक दृष्टि से भी नहीं हो सकता। अभी तक कला के जो विभिन्न विभाजन किये गए हैं वे तात्विक दृष्टि से न होकर व्यावहारिक दृष्टि अर्थात् कला की अभिव्यंजना के विभिन्न आधारों पर किये गए हैं। एक ही वस्तु का प्रभाव विभिन्न कलाकारों के हृदय पर समान पड़ता है परंतु इस प्रभाव को व्यक्त करने के उनके ढङ्ग उनकी रुचि विशेष पर निर्भर करते हैं। उनकी उस रुचि विशेष के व्यक्त प्रकारों के आधार पर ही कलाओं का विभाजन किया गया है जो शुद्ध रूप से व्यावहारिक है। इस विभाजन का आधार कला के वे अनिवार्य उपकरण (चित्र, काव्य, संगीत मूर्ति, स्थापत्य) हैं जिनके माध्यम से कलाकार अपने हृदय पर पड़े हुये प्रभावों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करता है। एक ही सुन्दर वस्तु को देखकर एक कलाकर उसको चित्र द्वारा, दूसरा मूर्ति द्वारा, तीसरा संगीत द्वारा, चौथा कविता द्वारा व्यक्त करता है। यहाँ प्रभाव एक ही है परंतु उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में भिन्नता है।

व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं के दो वर्ग माने गये हैं—ललित और उपयोगी। इस विभाजन का आधार बाह्य उपकरण या वे आधार हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। लालित्य और उपयोगिता कला के क्षेत्र में सापेक्ष वस्तुएँ हैं अतः एक में दूसरे का मिश्रण अनिवार्य है। केवल उपीगिता ही कला का अंतरंग नहीं है। ललित कला में भी उपयोगिता होती है और उपयोगी कला में भी लालित्य होता है। उपयोगी कला में वे सब कलाएं आ जाती हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो जीवन के नित्य उपयोग की वस्तुएँ हैं—जैसे लुहार, बढ़ई, सुनार, कुम्हार, जुलाहे आदि के कार्य। ललित कलाओं में वे कलाएँ मानी जाती हैं जिनका

हमारे मानसिक और लोकोत्तर जीवन से सम्बन्ध है। वे अवकाश के समय हमारे जीवन में एक अद्भुत आनंद की सृष्टि कर एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुंचा देती हैं जो ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है।

कला का दूसरा विभाजन उसके व्यावहारिक या भौतिक आधारों तथा उसकी अनुभूति को लेकर किया गया है। इस आधार पर कला के दो पक्ष हैं अनुभूति पक्ष और कलापक्ष। कलापक्ष को रूपपक्ष भी कहा जाता है। अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत वह अनुभूति या भाव आते हैं जो कलाकार को अनुप्राणित करते हैं और जिनकी सहायता से कलाकार पाठक या द्रष्टा को अभिभूत करना चाहता है। कलापक्ष में वे आधार या भौतिक माध्यम आते हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपने हृदयस्थ अनुभूति या भावों को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त और श्रेष्ठतम मार्ग ढूँढ़ता है। इस प्रकार अनुभूति और कला के योग से ही कलावस्तु का संगठन होता है। दूसरे लोग इसी विभाजन को इस प्रकार रखते हैं—१--कला की सफल अभिव्यंजना, २—कला की असफल अभिव्यंजना। यदि किसी कलाकृति में अनुभूति और रूप का संतुलित योग है तो वह पाठक या द्रष्टा के हृदय पर वही प्रभाव डालने में समर्थ होती है जिसका कलाकार ने स्वयं अनुभव किया था। कला की ऐसी अभिव्यक्ति 'सफल' मानी जाती है। इसके विपरीत कुछ कलाकृतियाँ ऐसी होती हैं जो पाठक या द्रष्टा के हृदय पर अभीष्ट प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं। इसका कारण यह होता है कि कलाकार अपनी कृति में अनुभूति और रूप का सन्तुलित योग करने में असमर्थ रहा है। या तो कलाकार की अनभूति कच्ची है या उसके पास अपनी अनुभूति को व्यक्त करने की साधन हीनता है। ऐसी कृतियाँ कला की असफल अभिव्यंजना की उदाहरण मानी जाती हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि कलाकार में कभी अनुभूति की कमी है और रूप की अधिकता तथा कभी रूप की अधिकता है तो अनुभूति की कमी। यह उसकी असफलता के चिह्न हैं। इस प्रकार इस अवयव संगठन सम्बन्धी विभाग के चार रूप मिलते हैं—१—अनुभूति की कमी पर रूप की विशेषता; २—अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी; ३—अनुभूति एवं रूप दोनों की न्यूनता; ४—अनुभूति और रूप का समन्वय। मनुष्य ने क्रमशः उन्नति करते-करते अपनी अभिव्यक्ति को कुशलता की उस चरम सीमा पर पहुँचा दिया जहाँ वह एक साधारण सी अनुभूति को भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त करने लगा। हिन्दी साहित्य में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिल

जाते हैं। कुछ कवि तो हमारे यहाँ ऐसे हुए हैं जिनका अनुभूति पक्ष (भाव-पक्ष) अत्यन्त उत्कृष्ट और असाधारण बन पड़ा है किन्तु रूपपक्ष (कलापक्ष) अपेक्षाकृत निर्बल है जैसे कबीर और जायसी। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनका रूपपक्ष तो अत्यन्त उत्कृष्ट है परन्तु अनुभूति पक्ष अत्यन्त निर्बल। अनुभूति की इस न्यूनता को उन लोगों ने रूपपक्ष के उत्कृष्ट चित्रण द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया है। केशव में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही हिंदी में कुछ ऐसे भी कवि हुए है जिनके काव्य में अनुभूति और रूप दोनों पक्षों का सन्तुलित योग मिलता है। वे अपनी श्रेष्ठ अनुभूतियों को उत्कृष्ट एवं चमत्कारपूर्ण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफल हुए हैं। प्राचीन कवियों में सूर और तुलसी तथा आधुनिक कवियों में प्रसाद ऐसे ही उच्च कोटि के कलाकार हुए हैं। इनके अतिरिक्त ढेरों कलाकार ऐसे हैं जिनमें न तो अनुभूति की गहराई ही मिलती है और न रूप की उत्कृष्टता। सफल कला वही मानी जायगी जहाँ अनुभूति और रूप समान रूप से सशक्त और उत्कृष्ट हों।

कुछ आलोचकों ने ऐतिहासिक दृष्टि एवं रुचिभेद के आधार पर भी कलाओं का वर्गीकरण किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके दो विभाग माने गए हैं—प्राचीन कला और आधुनिक कला। रुचिभेद के आधार पर भी इसके दो भेद हैं—धार्मिक कला और लौकिक कला। धार्मिक कलाओं की भावना से कहीं-कहीं तो लोगों की रुचि श्रद्धा में बदल जाती है। कला-कृतियाँ उनके लिये पूज्य हो जाती हैं। देवताओं की प्राचीन एवं अर्वाचीन कलात्मक सुन्दर मूर्तियों के प्रति आज अन्धश्रद्धा और पूज्यबुद्धि की भावना का प्राधान्य है। हमारी दृष्टि उनके कलात्मक सौन्दर्य का मूल्यांकन न कर केवल उनके धार्मिक स्वरूप तक ही सीमित रह जाती है। इसी प्रकार काव्य कला की उत्कृष्ट तम कृतियाँ रामायण और महाभारत आदि समाज की दृष्टि में सुन्दर काव्य मात्र न रह कर शुद्ध धार्मिक ग्रंथ बन गए हैं। स्वार्थी व्यक्ति समाज की इस अंध श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर इन ग्रंथों की मनमानी व्याख्या कर एवं उनके चारों ओर आध्यात्मिकता का एक अभेद्य आवरण डालकर, समाज को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि उस कृति का वास्तविक कलात्मक सौंदर्य छिप जाता है। उसकी ओर किसी की भी दृष्टि नहीं जाने पाती। हमारे यहाँ त्यौहारों पर अब भी घर के दरवाजे के दोनों तरफ विभिन्न प्रकार के भौंडे चित्र बनाए जाते हैं। आरम्भ में ऐसे चित्रों का निर्माण चित्रकला की उत्कृष्टता का प्रतीक रहा होगा परन्तु कालांतर में अब

उन्हें धार्मिक रंग दे दिया गया तो उनका कलात्मक सौंदर्य तो नष्ट हो गया केवल आड़ी तिरछी कुरूप रेखाएं रह गईं। कलात्मक रूपों पर धार्मिकता या अलौकिकता का आवरण डाल देने का यही परिणाम होता है। यह दृष्टि अत्यन्त अस्वास्थ्यकर और हानिप्रद है।

कला के उपर्युक्त विभिन्न वर्गीकरणों का आधार उसके बाह्य उपकरण मात्र हैं। वास्तव में कला का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कला एक अखंड अभिव्यक्ति है। भिन्नता केवल उसकी अभिव्यंजन प्रणालियों के कारण ही प्रतीत होती हैं। उपयोगिता और सौंदर्य की भावना तो उसके मूल में सर्वत्र रहती है। उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके शारीरिक और आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। ललित कला द्वारा मानसिक विकास और अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विभाजनों में 'ललित और उपयोगी कला' वाला विभाजन ही अधिक सार्थक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। परन्तु यह विभाजन यूरोप की देन है। हमारे यहाँ इस प्रकार के विभाजन का कोई विधान नहीं मिलता। इस 'उपयोगी और ललित कला' वाले विभाजन का श्रेय यूरोप के प्रसिद्ध कला-शास्त्री हीगेल को है। उसने ललित कला के पाँच भेद माने हैं—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। यह वर्गीकरण उपकरणों की दृष्टि से किया गया है। इसी दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया है—१- वे जो दृश्य हैं, इसमें वास्तु, मूर्ति और चित्रकला है। २—वे जो श्रव्य है, इसमें संगीत और काव्य कला मानी जाती हैं। अतः अतः इस विभाजन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम हीगेल के कला-सिद्धांत को समझ लें।

हीगेल के कला-सिद्धांत को समझने के लिए पहले उसके 'दर्शन' को समझ लेना आवश्यक है। हीगेल के दार्शनिक दृष्टिकोण का मूलाधार 'द्वन्द्व-वादी प्रक्रिया' (डायलेक्टीकल प्रोसेस) है जिसके अनुसार प्रगति के लिए दो परस्पर विरोधी तत्वों का मिलन अनिवार्य है। 'भाव' जो विकास की प्रक्रिया का आधार है तीन अवस्थाओं स्थापना, प्रतिस्थापना और समन्वय द्वारा प्रकट होता है। इन तीन अवस्थाओं के आधार पर ही हीगेल ने अपने दर्शन, का विभाजन तर्क, प्रकृति और मन के तीन वर्गों में किया है। इस प्रकार भाव की अभिव्यक्ति सर्व प्रथम तर्क द्वारा होती है जो सूक्ष्म विशुद्ध विचार-भर है। यह विचार अपनी आंतरिक आवश्यकता से अपने ही विरोध की ओर बढ़ता है और अपनी बहिर्मुखी दशा में अनेक वस्तुओं में खंडित

होकर प्रकृति के रूपों में अभिव्यक्त होता है। परंतु यह प्रकृति भी भाव की अधूरी अभिव्यक्ति है और वह अपनी बहुदशा का विरोध करके जड़ प्रकृति, जीव और अंत में मानव में व्यक्त होती है। हीगेल मन के विकास की भी तीन अवस्थाएं मानता है—भाव प्रधान, वस्तु प्रधान और परम। भाव प्रधान अवस्था में मन विकास की प्रक्रिया को पार करता हुआ अन्त में स्वतन्त्र मन की गति को प्राप्त होता है। यही स्वतन्त्र मन बाह्य जगत में अभिव्यक्त होता है जो नैतिक प्रगति का रूप धारण कर लेता है। विकास की अन्तिम अवस्था में, जो कि मन की परम अवस्था है, मन अपने को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सफल होता है और कला, धर्म और दर्शन के अन्तिम चरण पार करता है। इस प्रकार हीगेल कला को परम मन के विकास में एक चरण मान कर उसे उच्च स्थान देता है। कला इस प्रकार आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। कलाकृतियाँ परम भाव की अपने से बाहर विकास की द्योतक हैं।

हीगेल कला का विभाजन भाव के विकास की उर्युक्त अवस्थाओं के अनुसार तीन वर्गों में करता है—१—प्रतीकवादी (सिम्बोलिक), २—शास्त्रीय (क्लासिकल) और ३—रोमानी (रोमान्टिक)। अपने प्रतीकवादी रूप में भाव भौतिक आकृतियों में अभिव्यक्त होने का असफल प्रयत्न करता है। धार्मिक देवी देवताओं की मूर्तियाँ इसका प्रमाण है। यहाँ भाव और आकृति की विषमता रहती है जिसके फलस्वरूप भाव का व्यक्तीकरण भद्दा और बेडौल रहता है। शास्त्रीय कला में भाव और आकृति की विषमता दूर हो कर बाह्य आकृति और अन्तर्वस्तु में सामंजस्य आ जाता है। क्योंकि मानव आकृति मन को सबसे अच्छी तरह प्रकट करती है। यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ शास्त्रीय कला की सुन्दर उदाहरण हैं। पर मन किसी भी शारीरिक आकृति में अपनी मुक्त अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। इस प्रकार शास्त्रीय कला के विरोध में रोमानी कला की सृष्टि होती है जिसमें भाव का आधार कोई भौतिक वस्तु न होकर स्वयं चेतन भाव प्रधान बुद्धि बन जाती है।

इसके पश्चात् हीगेल ललित कलाओं के उपर्युक्त पाँच विभाजन करता है यथा-वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। १—इनमें से वास्तु कला का निर्माण स्थूल पदार्थ से होता है जिसमें भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इससे केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधना बनती है। इस प्रकार ईश्वर के पूजा स्थलों का निर्माण हो जाता है। २—मूर्तिकला शास्त्रीय कला का प्रमुख उदाहरण है। यहाँ स्थूल वस्तु को

चेतन मन के अनुरूप मानव-आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है। ३—चित्रकला, संगीत और काव्यकला को हीगेल ने रोमानी कला के अन्तर्गत माना है। यहाँ कला कृति का आधार स्थूल पदार्थ न होकर भाव होता है जो अपनी गतिशील अवस्था में रहता है। इसमें मूर्ति में अभिव्यक्त भाव की एकता अनेक व्यक्तियों के अन्तर्जीवन में विभक्त हो जाती है, जो कि रंग, संगीत और शब्दों के माध्यम द्वारा चित्रकला, संगति कला और काव्य कला में व्यक्त होती है।

हीगेल मूर्तिकला के उपरान्त चित्रकला को स्थान देता है। इसमें रंगों द्वारा जगत के दृश्यमान चित्रों का अंकन किया जाता है। मूर्तिकला से यह आधार अधिक सूक्ष्म है क्योंकि वह भार (मास) और दिशा (स्पेस) से स्वतन्त्र एक स्तर (प्लेन) मात्र है। चित्रकला में वे सब विचार और भावनाएं व्यक्त की जाती हैं जो मानव-मन में उठतीं हैं। रोमानी कला के अन्तर्गत चित्रकला के बाद संगीत कला का स्थान आता है। इसका आधार ध्वनि है। यह ध्वनि पदार्थ से पूर्णतया मुक्त केवल स्मृति में रहने वाला सूक्ष्म तत्व है। रोमानी कला में सबसे बाद में और सबसे उच्च स्थान, हीगेल के मतानुसार, काव्य कला का है। इसका आधार कलात्मक कल्पना है जो अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेता है। यह रोमानी कला की अन्तिम परिणति है। संक्षेप में यही हीगेल का कला विषयक दर्शन है।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में ललित कलाओं का यही विभाजन किया है जो हीगेल की समीक्षा-दर्शन पर आधारित है। पर उन्होंने ललित कलाओं का प्रतीकात्मक, शास्त्रीय और रोमानी वर्गों में विभाजन नहीं किया है। हीगेल के समान उन्होंने भी काव्य कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उन्होंने हीगेल के ही अनुसार ललित कलाओं के दो भाग किए हैं—१—वे कलाएं जो नेत्रों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं जैसे वास्तु, मूर्ति और चित्रकला। इनमें मूर्त आधार की आवश्यकता होती है। २—वे कलाएं जो कानों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं। इनमें संगीत और काव्य कला को माना है। इनमें मूर्त आधार नहीं होता। कलाओं में इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की दो श्रेणियाँ स्थिर की जा सकती हैं—उत्तम और मध्यम। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह उतनी ही उच्चकोटि की होगी। इसी धारणा के अनुसार काव्य कला को सबसे श्रेष्ठ

माना जाता है क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार का पूर्ण अभाव रहता है और इसी के अनुसार वास्तु कला को सबसे नीचा माना जाता है क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार सबसे अधिक होता है। ललित कलाओं में ज्यों ज्यों हम उच्चता की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों उनका मूर्त्त आधार कम होता जाता है। काव्य कला में मूर्त्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसकी उत्पत्ति शब्द समूहों या वाक्यों से होती है। काव्य में जब तक अर्थ की रमणीयता रहती है तब तक तो मूर्त्त आधार नहीं रहता परन्तु जब उसमें शब्द की रमणीयता प्रतिष्ठापित की जाती है तो उसमें भी संगीत के समान नाद-सौन्दर्य-रूप मूर्त्त-आधार की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु विद्वान अर्थ की रमणीयता को काव्य कला का सबसे प्रमुख और नाद की रमणीयता को उसका अप्रधान गुण मानते हैं। इस तरह श्रेष्ठ काव्य में मूर्त्त आधार का पूर्ण अभाव रहता है। इसीलिए ललित कलाओं में काव्य कला सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रस्तुत किए गए उपर्युक्त विवेचन से ललित कलाओं की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं—१—सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। २—जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का मन से सन्निकर्ष होता है वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। ३—ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं, जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुंचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश्य कर देता है। इसी के आधार पर डाक्टर साहब यह मानते हैं कि—"ललित कला मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है।"

प्रसाद ने अपने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में काव्य को ललितकला मानने का विरोध किया है। उन्होंने हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धाँत का खण्डन करते हुए यह दिखाया है कि यह विभाजन अशुद्ध है क्योंकि प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की उपविद्या में की है जो काव्य की प्रवृत्ति को देखते हुए अधिक समीचीन और संगत है। उनका कथन है कि हीगेल के काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत मानने के कारण धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र को काव्य से उच्च स्थान देना पड़ा है परन्तु हमारे यहाँ काव्य को धर्म और दर्शन से कभी भी निम्नकोटि का नहीं माना गया। उन्होंने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है कि—"आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है,

जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वांगमय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय पक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"""कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है।" प्रसाद की उपरोक्त धारणा के अनुसार काव्य को कला नहीं माना जा सकता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी एक प्रकार से प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका कथन है कि वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में वर्णित चौंसठ कलाओं में काव्य की गणना नहीं की गई है। यद्यपि हीगेल द्वारा वर्णित अन्य चारों ललित कलाओं-वास्तु, मूर्ति चित्र और संगीत का उसमें चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। शुक्लजी का यह दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौंदर्य शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे कहते हैं—"सौंदर्य-शास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढंगी बात तो यही हुई।" शुक्लजी का कहना है कि काव्य को कला मानने की भ्रान्त धारणा के ही कारण हिंदी-समीक्षा में अभिव्यंजनावाद, सौंदर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा। यदि ऐसा न होता तो काव्य में इनके विवेचन की कोई आवश्यकता ही न पड़ती क्योंकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

बाबू गुलाबराय शुक्ल और प्रसाद से सहमत न होकर काव्य को उपर्युक्त पाँच ललित कलाओं के अन्तर्गत ही मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य की विवेचना चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं से विभिन्न नहीं की जा सकती क्योंकि ये सब कलाएं केवल एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं वरन् एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली हैं। इस प्रकार यूरोप में प्रभाववादी चित्रकला ने काव्य में एक नई प्रवृत्ति, जिसे प्रभाववादी काव्य कहते हैं, की सृष्टि की है। 'हीगेल का कला-सिद्धांत' नामक लेख में हीगेल के कला विभाजन का समर्थन करते हुए डाक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लिखा है कि—"स्पष्ट है कि हीगेल के ललित-कला विषयक दर्शन का हिंदी-समीक्षा में सही विवेचन नहीं हो सका है। हिंदी समालोचकों का हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं के विभाजन का विरोध बहुत कुछ इसी कारण है कि वे काव्य की गणना तो विद्या में करते हैं तो अन्य कलाओं को अविद्या में। यह कठिनाई हीगेल के सामने न थी क्योंकि वह

समस्त कला को आयडिया (भाव) का माध्यम मानता था। इस प्रकार हीगेल के कला-विषयक विचार भारतीय कला विषयक विचारों से नितान्त भिन्न हैं। हीगेल काव्य का स्थान नीचे नहीं गिराता है, वरन् अन्य ललित कलाओं का जैसे वास्तु, चित्र, संगीत आदि का स्तर काव्य तक उठाने का प्रयत्न करता है। यदि हम काव्य की गणना वात्स्यायन द्वारा 'काम-सूत्र' में वर्णित चौंसठ कलाओं में नहीं कर सकते तो वात्स्यायन की कलाओं की गणना भी हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं में नहीं कर सकते। पर यदि हीगेलीय परिभाषा के अनुसार ललित कला को हम आयडिया (भाव) की अभिव्यक्ति का साधन समझते हैं, तो हमें काव्य की गणना ललित कलाओं के साथ करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

२७—सर्वोत्कृष्ट कला—काव्यकला

कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपने मानसिक सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करता है। इस अभिव्यक्ति के लिए वह स्थूल भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है। उसके ये भौतिक उपकरण जितने ही कम होते हैं, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है। भौतिक उपकरणों के अधिक उपयोग से उसकी मानसिक अनुभूति कुंठित हो जाती है जिसका परिणाम यह होता कि उसकी कलाकृति उसकी उत्कट और तीव्र मानसिक अनुभूति को मार्मिक और प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ नहीं होती। वास्तव में उसकी मानसिक अनुभूति और उसको अभिव्यक्त करने के साधनों में जितना कम अन्तर होगा वह उतनी ही श्रेष्ठ और मार्मिक होगी। डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने इसी कारण ललित कलाओं के सम्बन्ध में तीन बातों पर विशेष बल किया है—१—उसका मूर्त आधार, २—वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है तथा ३—मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

कलाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के मानसिक सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करना है। इस सौन्दर्य भावना के दो रूप होते हैं—भौतिक सौन्दर्य और मानसिक सौन्दर्य। मनुष्य अपने स्पर्श से जगत की कुरूप वस्तुओं को सुन्दर बना देता है। उपयोगी कलाओं में प्राप्त सौन्दर्य के मूल में उसकी सौन्दर्य-प्रियता ही कार्य करती रहती है। वह प्रत्येक वस्तु को सुन्दर रूप देना चाहता है। अपने वस्त्र, दैनिक व्यवहार की अन्य वस्तुएँ जैसे फर्नीचर आदि को भी वह सदैव सुन्दर रूप में ही ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहता है। इसी कारण हमारी घरेलू वस्तुएं जैसे मेज, कुर्सी, परदे, फर्श, कप आदि को वह सुन्दर रंगों और विभिन्न प्रकार के चित्रों से सजाता है। परन्तु हमारी ये दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हमारी भावनाओं को न तो उद्बुद्ध करती हैं और न उन्हें तीव्र बनाती हैं। उनसे केवल हमारी वाह्य—सौन्दर्य वृत्ति मात्र चरितार्थ होती है। ये उपयोगी कलावस्तुएं हमारे मानसिक सौन्दर्य से हीन होती हैं। उनका सम्बन्ध हमारी आत्मा या हृदय से न होकर केवल नेत्रों से होता है। उनसे हमें उस आनन्द की उपलब्धि नहीं होती जो हमें कुछ क्षणों के लिए आत्म-विभोर करदे। साथ ही इन उप-

योगी। कलावस्तुओं के निर्माण के लिए भौतिक उपकरणों की सबसे अधिक आवश्यकता पड़ती है इसलिए विद्वान लोग इन्हें निकृष्ट कोटि की कला मानते हैं।

ललित कलाओं के मूल में कलाकार का मानसिक सौन्दर्य गतिशील रहता है। यद्यपि कुछ ललित कलाओं जैसे वास्तुकला, में भौतिक उपकरणों का प्रयोग किसी भी उपयोगी कला से कम नहीं होता किन्तु उपयोगी और ललित कला में प्रधान अन्तर यह है कि उपयोगी कलाओं की चरम सार्थकता उनके उपयोग में निहित है जब कि ललित कला की सार्थकता उसके सौन्दर्य, विशेषरूप से कलाकार के मानसिक सौन्दर्य, की सशक्त एवं पूर्ण अभिव्यक्ति में है। अर्थात उपयोगी कला पहले उपयोग की वस्तु होती है सौन्दर्य की बाद में और ललित कला सौन्दर्य की वस्तु पहले होती है और उपयोग की बाद में और प्रायः उनमें उपयोगिता होती ही नहीं है।

कुछ सामान्य बातें ऐसी होती हैं जो सम्पूर्ण कलाओं के मूल में विद्यमान रहती हैं। पहली बात यह है कि सम्पूर्ण कलाओं के लिए किसी न किसी प्रकार के भौतिक आधार की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह कि उन कलाकृतियों के सौन्दर्य का अनुभव कान और आँखों द्वारा होता है। तीसरी बात यह है कि कलाकार अपनी अनुभूति को उसी रूप में व्यक्त करने के लिए कुछ भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है। जैसे वास्तुकार किसी भवन, मंदिर या चैत्य के निर्माणार्थ पत्थर, ईंट, चूना, काठ आदि भौतिक आधारों के अतिरिक्त कन्नी, बसूली, तसला आदि की; मूर्तिकार किसी मूर्ति के निर्माणार्थ पत्थर के अतिरिक्त हथौड़ा छेनी एवं चित्रकार कागज, वस्त्र, चमड़ा आदि भौतिक आधारों के अतिरिक्त तूलिका तथा रंगों का सहारा लेता है। इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति के निर्माण के लिए पहले भौतिक आधार की और फिर भौतिक उपकरणों की सहायता अनिवार्य होती है। विद्वानों की यह धारणा है कि जिस कलाकृति में भौतिक आधारों एवं उपकरणों की जितनी न्यूनता होगी वह उतनी ही श्रेष्ठ एवं उच्चकोटि की मानी जायगी। हीगेल ने आधार की इसी मूर्तता के आधार पर कला की उच्च-निम्न कोटि निश्चित की थी। परन्तु कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक कला सृष्टि है, इसलिये मूल्य और महत्व की दृष्टि से उन सबका समान होना आवश्यक है, बल्कि सब समान ही है। क्रोचे ने तो ऐसी सम्पूर्ण पुस्तकों को जला देने की बात कही थी, जिनका सम्बन्ध कला के वर्गीकरण से हो। परंतु चूंकि आजकल हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धाँत को लोकप्रियता प्राप्त है अतः उसी के आधार पर

ललित कलाओं का विवेचन करते हुए उनमें काव्य कला की स्थिति को देखने का प्रयत्न किया जायगा। इसके लिये यह क्रम अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि निकृष्ट कला से क्रमशः उत्कृष्ट कला की ओर बढ़ा जाय। इससे उनका पारस्परिक अन्तर अधिक स्पष्ट होता जायगा।

ललित कलाओं में वास्तु कला को सबसे नीची कोटि का माना गया है। इसमें ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी, चूना आदि की सहायता से इमारत का निर्माण किया जाता है। साथ ही हजारों मजदूर, पत्थरों एवं लोहे के सामानों को उठाने एवं तोड़ने वाले अनेक प्रकार के यंत्रों का भी उपयोग होता है। ये सब मूर्त पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाश, छाया, रंग प्राकृतिक स्थिति आदि के साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। उस इमारत का निर्माण करने वाला स्थापत्य-कला विशारद कलाकार उस इमारत के द्वारा क्या भाव व्यक्त करना चाहता है? वह इनके द्वारा भिन्न संस्कृति और भिन्न धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं का प्रत्यक्षीकरण करता है। किसी भी इमारत को देखकर हम आसानी से यह बता देते हैं कि यह मंदिर, मस्जिद, गिरजा, महल या मकबरा है। यदि हमारा स्थापत्य कला का ज्ञान थोड़ा बहुत उन्नत है तो हम यह भी बता देते हैं कि इसमें किस धर्म, देश या जाति विशेष की वास्तु कला का प्रदर्शन हुआ है। धार्मिक स्थानों में भिन्न भिन्न जातीय धार्मिक विचारों के अनुसार उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, महरावें झरोखे, जालियाँ आदि के द्वारा कलाकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट करता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मानसिक भावों की प्रतिष्ठापना के लिए बहुत कम अवसर रहता है क्योंकि कलाकार सम्पूर्ण इमारत का निर्माण स्वयं न कर मजदूरों की सहायता से करता है। मजदूर उसके मानसिक भावों को समझने में असमर्थ रहते हैं अतः कलाकार के पूर्ण मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण वास्तुकला में नहीं हो पाता। इतना होने पर भी इमारत दर्शक के हृदय पर एक विशिष्ट प्रभाव डालने में समर्थ होती है। ताजमहल के दर्शक इसके प्रमाण हैं। इसलिए वास्तुकला से आनन्द तो प्राप्त होता है, उसमें मानसिकता भी होती है किंतु भौतिक साधनों की प्रचुरता के कारण वह दर्शक पर उतना गम्भीर प्रभाव नहीं डाल पाती जितना कि अन्य ललित कलाएँ।

मूर्तिकला—इसका मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी के टुकड़े होते हैं। मूर्तिकार इन्हें काट छांट कर अपनी कल्पनानुसार ढालता है। इसमें भी हथौड़ी, छेनी, पालिश आदि भौतिक उपकरणों का उपयोग किया जाता

है परन्तु वास्तुकला से बहुत कम। इसलिए मूर्तिकार वास्तुकार से श्रेष्ठ माना जाता है। "उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खण्ड या धातु खण्ड में जीव धारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्तिकला का उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता प्रदर्शित करना है।"

मूर्तिकार मूर्ति में कभी केवल शारीरिक सौन्दर्य और कभी आल्हाद, करुणा आदि के द्वारा मानसिक सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करना चाहता है। इसके लिये विभिन्न देशों ने विभिन्न कला पद्धतियां अपनाई हैं। यूनानी मूर्तिकला अपने शारीरिक सौष्ठव के लिये प्रसिद्ध है। विभिन्न शारीरिक अँगों की आनुपातिक गठन की दृष्टि से यूनानी मूर्तियाँ संसार में सर्वश्रेष्ठ मानी जातीं हैं। किन्तु भारतीय मूर्तिकारों ने शारीरिक गठन की अपेक्षा मानसिक भावों के प्रस्फुटन पर विशेष बल दिया है। उदाहरणार्थ भारतीय मूर्तिकारों द्वारा निर्मित भगवान बुद्ध की मूर्तियों में आह्लाद और आत्म सन्तोष के सौंदर्य का जो भाव व्यक्त होता है वह संसार की अन्य मूर्तियों में दुर्लभ है। मानसिक सौंदर्य का प्रस्फुटन भारतीय मूर्तिकला की अपनी विशेषता है जिसकी तुलना नहीं। भारतीय मूर्तिकला की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ नारी-सुलभ कोमलता का अङ्कन प्रतीकों की सहायता से किया गया है। धातु या पत्थर जैसी कठोर वस्तु में भी वह कमल की पंखुड़ियों जैसी उंगलियों एवं अर्द्ध-प्रस्फुटित कमल के समान नेत्रों का अङ्कन कर वही कोमलता उत्पन्न कर देता है जो स्वाभाविक होती है। इतना सब कुछ होते हुए भी मूर्तिकार को मूर्ति के निर्माण में समय, धैर्य तथा शारीरिक परिश्रम की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस कारण उसकी हृदयस्थ अनुभूति एकरस नहीं रह पाती। दूसरी बात यह है कि साधारणतः मूर्ति में शारीरिक सौन्दर्य का प्रस्फुटन ही अधिक होता है, मानसिक सौंदर्य का अपेक्षाकृत बहुत कम। यह वास्तुकला से तो अधिक प्रभावशालिनी होती है परंतु अन्य कलाओं से गौण।

चित्र-कला—इसका मूर्त आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी, दीवाल, चमड़ा आदि का चित्रपट होता है। भौतिक उपकरणों में तूलिका एवं रंगों की आवश्यकता होती है। इन्हीं की सहायता से चित्रकार प्राकृतिक रूप, रंग और आकार का अनुभव कराता है। मूर्तिकार की तुलना में उसके पास मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है जिसके कारण उसे अधिक कौशल से कार्य करना पड़ता है। वह अपनी तूलिका की सहायता से ही

स्थूलता, लघुता, दूरी और निकटता दिखा देता है। वह वास्तविक पदार्थ को उसी की परिस्थितियों में अङ्कित कर ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है कि चित्रगत वस्तु वास्तविक सी लगने लगती है। चित्रकार की सबसे बड़ी सफलता इस बात में आँकी जाती है कि वह कम से कम रेखाओं द्वारा अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। चार पाँच रेखाओं द्वारा ही बच्चे को स्तनपान कराती हुई किसी माँ का चित्र अङ्कित किया जा सकता है। मूर्ति की अपेक्षा चित्र में मानसिक भावों का अङ्कन अधिक सफलता और प्रभाव के साथ किया जा सकता है। इसी कारण उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। चित्रकार मानसिक भावों करुणा, आल्हाद, क्रोध, भय, सन्तोष आदि का अङ्कन मूर्तिकार की अपेक्षा अधिक सफलता पूर्वक करता है। चित्र-कला की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही उसकी अपनी कुछ न्यूनताएं अथवा सीमाएं भी हैं। चित्रकार किसी भाव या वस्तु के केवल एक क्षण का चित्रण ही कर सकता है। उसकी गतिशीलता का चित्रण असम्भव है। परन्तु जितने क्षण का चित्र वह प्रस्तुत करता है वह कला और भाव की दृष्टि से अनुपम होता है। अजन्ता और एलौरा की गुफाओं में बने हुए चित्र अपने चित्रकार की मूल अनुभूतियों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम हैं। दर्शक उन्हें देखकर उन्हीं अनुभूतियों का अनुभव करने लगता है जो चित्रकार की अपनी अनुभूतियाँ रही होंगी। इस दृष्टि से यह कला वास्तु और मूर्तिकला से अधिक उन्नत है किंतु गतिहीनता एवं अन्य भौतिक उपकरणों के आधिक्य से यह उन कलाओं की समानता नहीं कर पाती जिनमें कम भौतिक उपकरणों के प्रयोग के साथ ही साथ गति और प्रवाह भी रहता है जैसे संगीत और काव्य।

संगीत कला—संगीत का भौतिक आधार नाद है जिसे मनुष्य या तो अपने कंठ से उत्पन्न करता है अथवा वाद्ययंत्रों की सहायता से। इसमें आधार और भौतिक उपकरण नाममात्र को है। भौतिक उपकरणों की इसी न्यूनता के कारण कुछ विद्वान संगीत और काव्य को एक ही श्रेणी की कलाएं मानते हैं। संगीत में नाद का नियम कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। संगीत के सप्तस्वरों—सा रे गा मा पा धा नी—में पूरा सङ्गीत शास्त्र आवद्ध है। ये ही संगीत कला के प्राण रूप या मूल कारण हैं। इसी नाद की सहायता से संगीतज्ञ अपने मानसिक भावों को व्यक्त करता है। संगीत की प्रवृत्ति मानव मात्र में स्वाभाविक है जो अनादि काल से चली आ रही है। इसका प्रभाव सभ्य से सभ्य मनुष्य से लेकर वन्य-पशुओं तक पर प्रसिद्ध है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि इसके प्रभाव से पत्थर तक पिघल जाते हैं।

और मूर्तियाँ गेने लगतीं हैं। सिद्ध गायक अपने भावों के साथ ही साथ श्रोताओं को रुला सकता है, हँसा सकता है, उनके हृदय में आनन्द की लहरें उत्पन्न कर उन्हें अपने पीछे पागल बना देता है। कृष्ण की मुरली ध्वनि के पीछे सारा व्रज पागल था। संगीत में स्वरों के आरोह-अवरोह द्वारा भावों को उद्भूत किया है। "संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है। इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी और कोई कला नहीं हो पाई है। संगीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह वास्तु, मूर्त्ति और चित्रकला से बढ़ कर है।" (डा० श्यामसुन्दर दास)

काव्य-कला—वर्तमान काल में काव्य का आधार काग़ज, क़लम, स्याही मुद्रण यंत्र आदि माने जा सकते हैं परन्तु काव्य के लिए ये भौतिक उपकरण अनिवार्य नहीं हैं। इनके अभाव में भी काव्य का सफल निर्माण हो सकता है और होता है। ये भौतिक उपकरण तो उसे सर्व-सुलभ बनाने के साधन मात्र हैं। इनके उपयोग से काव्य की उत्कृष्टता में कोई योग नहीं होता। काव्य का वास्तविक आधार तो शाब्दिक संकेत या अक्षर हैं। मन को इनका ज्ञान आँखों और कानों द्वारा होता है। जीवन की घटनाओं या प्राकृतिक दृश्यों के जो प्रत्यक्ष या काल्पनिक रूप मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं। ये शाब्दिक संकेत उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं। ये शाब्दिक संकेत या अक्षर भाषा के भी मूलाधार हैं और नाद इन सबके मूल में स्थित है। सार्थक नाद ही भाषा कहलाता है। भाषा के द्वारा भावों को व्यक्त किया जाता है। भाषा के अभाव में भावों का पूर्ण एवं सफल अभि व्यक्तीकरण असम्भव है। इसलिये काव्य की साधना वास्तव में भाषा के द्वारा भाव की साधना है। "अतएव भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका उपयोग कवि करता है।" परन्तु काव्य के कुछ रूप ऐसे भी होते हैं जिनमें भाषा वाहक न होकर प्रधान होती है जैसे चित्रकाव्य। इसीलिए विद्वान समीक्षकों ने चित्रकाव्य को निकृष्ट कोटि का काव्य माना है।

ऊपर हमने पाँचों ललित कलाओं का संक्षिप्त विवेचन करते हुए यह देखा कि इनमें काव्य कला सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक ललित कला का मूल उद्देश्य कुछ विद्वान आनन्द देना मानते हैं। वे ललित कलाओं में उपयोगिता को ढूंढ़ना अनुचित ही नहीं वरन् स्वयं कला के लिए अनिष्टकर भी मानते हैं। विद्वानों

का एक दूसरा वर्ग ललित कलाओं को किसी भी दशा में जीवन के व्यापारों से अलग नहीं मानता। कलाएँ हमारे जीवन पर कैसा प्रभाव डालती हैं? यह प्रश्न उनके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार कला के विषय में दो मत बन गए हैं। एक 'कला को कला के लिए' तथा दूसरा 'कला को जीवन के लिए' उपयोगी मानता है। परन्तु यहाँ हमारा विवेच्य विषय यह नहीं है कि हम कला को उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न करें। हमें तो केवल यह देखना है कि काव्य कला ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है या नहीं। इसके लिए हमें पुनः काव्य कला एवं अन्य ललित कलाओं का तुलनात्मक संक्षिप्त विवेचन करना पड़ेगा।

तुलना के लिये हम पहले वास्तु और मूर्तिकला को एक साथ लेंगे। इन दोनों ही कलाओं में सुडौलता और सामंजस्य का ध्यान रखना पड़ता है। सुडौलता और सुन्दरता को पृथक करके नहीं देखा जा सकता। कवि को भी अपने काव्य निर्माण में सुडौलता का ध्यान रखना पड़ता है। छन्द विधान, कविता के विभिन्न प्रकार, सर्ग, अङ्क आदि का विधान काव्य में सुडौलता उत्पन्न करता है। इस प्रकार काव्य का बाह्य रूप सौन्दर्य के उसी सिद्धांत पर अवलम्बित है जो सिद्धान्त वास्तु और मूर्ति कला का आधार है। इस प्रकार काव्य में इन दोनों की विशेषताओं का समावेश हो जाता है।

कुछ विद्वान काव्य और चित्र कला को एक ही वस्तु के दो रूप सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि इनमें मूलतः कोई अंतर नहीं है। चित्र रेखाबद्ध कविता है और कविता शब्द बद्ध चित्र। यह ठीक है परन्तु हम ऊपर कह आए हैं कि चित्रकला गति हीन कला है। काव्य गतिशील कला है। काव्य समय और स्थान से बंधा नहीं होता। चित्रकला गति हीन होने के कारण केवल एक क्षण अथवा पदार्थों के केवल एक रूप का ही चित्रण कर सकती है। साथ ही उसमें केवल पदार्थों का चित्रण हो सकता है जबकि काव्य में परिवर्तनशील परिस्थितियों, घटनाओं और क्रियाओं का भी चित्रण हो सकता है। इस तरह काव्य का क्षेत्र चित्रकला के क्षेत्र से अधिक विस्तृत होता है। कविता द्वारा व्यक्त किए गए एक भाव के लिये कभी कभी अलग अलग कई चित्र बनाने पड़ते हैं।

जिस प्रकार संगीत का आधार नाद है उसी तरह काव्य का आधार भी सार्थक नाद है। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि नाद जब संगीत प्रधान अधिक हो तो वह संगीत तथा भाव प्रधान अधिक हो तो वह काव्य कहलाता है। वैसे दोनों में ही संगीत और भाव का योग होता है। अन्तर केवल मात्रा

के कारण है। अनेक विद्वानों ने इन दोनों कलाओं में कोई अन्तर नहीं माना है। पन्त ने काव्य और संगीत की अभिन्नता बताते हुए कहा है कि—

"वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।।

संस्कृत-साहित्य में काव्य और संगीत को सरस्वती के 'स्तनद्वय' कहा गया है। सरस्वती दोनों की अधिष्ठातृ देवी मानी गई है। मिल्टन ने काव्य और संगीत को बहनें बताया है। ये दोनों ही गतिशील कलाएं हैं। कविता की प्रत्येक पंक्ति के साथ और संगीत के प्रत्येक आरोह अवरोह के साथ उनकी गति आगे बढ़ती है। दोनों में ही ध्वनि और लय का उपयोग होता है। कविता शब्दों की सहायता से भावों को अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट कर सकती है। संगीत जिस भाव को केवल स्वरों के संकेत से अवगत कराएगा कविता उसका साकार चित्र उपस्थित कर देती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों के विस्तार क्षेत्र में भी अन्तर है। संगीत कुछ भाव और कुछ मानसिक स्थितियों को ही स्पष्ट करता है, वाह्य चित्रण इसकी सीमा से परे की वस्तु है परन्तु कविता में वाह्य और आन्तरिक दोनों परिस्थितियों के सफल चित्रण होते हैं। उसमें जिस कुशलता एवं पूर्णता के साथ भावों का चित्रण हो सकता है उसी कुशलता एवं पूर्णता के साथ घटनाओं और पदार्थों का चित्रण भी होता है। परन्तु प्रभाव के क्षेत्र में संगीत अद्वितीय है। वह कला का सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। वह हमारे विचारों का ही नहीं अपितु इच्छा शक्ति का भी प्रतिरूप है। प्रभाव के क्षेत्र में संगीत अद्वितीय माना अवश्य जाता है परन्तु काव्य भी इस क्षेत्र में उससे पीछे नहीं है। विहारी के दोहे ने जयपुर के राजा मिर्जा जयशाह की मोहनिद्रा को भंग कर उसे कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर किया था।

विद्वानों ने काव्य की श्रेष्ठता उपकरणों की न्यूनता के कारण ही प्रधान रूप से मानी है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो इस श्रेष्ठता का प्रधान कारण मनोविज्ञान में निहीत है। मानवीय भावनाओं में कोमल भावनाएँ सर्वश्रेष्ठ मानी गईं हैं। इन कोमल भावनाओं की व्यंजना का सर्वश्रेष्ठ माध्यम केवल साहित्य ही है। यह शक्ति अन्य किसी भी कला में नहीं है। केवल स्वर-लहरी साधित संगीत भी यह कार्य नहीं कर सकता। भावों की गतिशीलता का पूर्ण चित्रण काव्य द्वारा ही सम्भव है। भावों की इसी गतिशीलता के गुण के कारण ही साहित्य मानव का अभिन्न मित्र है। ताजमहल हम नित्य नहीं देख सकते परन्तु सूर के पदों में व्याप्त रस का आस्वादन करते हुए हम कभी भी

तृप्त नहीं होते। सङ्गीत की स्वर लहरी संसार में कम्पन भर कर वायु में विलीन हो जाती है परन्तु सूर के पद की चोट सदैव 'तन मन को धुना' करती है। अपने प्रिय का चित्र हम छाती से चिपकाए रहते हैं, परन्तु चित्रगत सौन्दर्य के कारण नहीं, अपितु केवल उस भावात्मक सौंदर्य के कारण जिसकी विषय-पीड़ा से विह्वल होकर दशरथ ने कहा था—

"हा जानकी लखन हा रघुवर। हा पितु-चित-हित चातक जलधर।"

नैषध-चरित का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

"मदर्थं सन्देश मृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर रति त्वमोदिते।
विलोकयन्त्या रूदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः॥"

नल के हाथ में फंसा हुआ हंस अपनी हंसिनी की कल्पना करता हुआ कहता है कि जब तू मुझे आया हुआ देखकर मेरे साथी पक्षियों से पूछेगी, "मेरे लिए सन्देश और मृणाल लाने में सुस्त मेरा प्रिय कितनी दूर है," और जब उनको रोते हुए देखेगी तब वह क्षण तेरे लिए कैसा होगा!

कोई भी चित्र इस भाव की तीक्ष्णता की व्यंजना कर सकने में समर्थ नहीं, कोई राग 'की दृग्भविता तव क्षण' को व्यक्त नहीं कर सकता।

अनेक स्थानों पर काव्य का एक एक शब्द एक एक चित्र उपस्थित कर देता है। यथा—

"संध्या का झुटपुट, बांसों का झुरमुट,
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट टुट।"

—पन्त

उपरोक्त पंक्तियाँ सन्ध्या का एक धुंधला चित्र उपस्थित कर देती हैं।

काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पाठक या श्रोता के भावों को आन्दोलित कर उसे काव्यानन्द के स्वर्गीय सुख का अनुभव करा देता है। संक्षेप में हम काव्य की उन विशेषताओं को, जो उसे अन्य ललित कलाओं से सर्वश्रेष्ठ घोषित करती हैं, इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

१—मूर्त्त आधार की विहीनता।

२—मनोविज्ञान का पूर्ण आधार एवं चित्रण।

३—गत्यात्मकता।

४—प्रभाव स्थायित्व।

५—काव्यानन्द ब्रह्मानंद सहोदर—अलौकिक आनन्द।

२८—साहित्य और कला

संसार में जिस दिन मानव ने यह अनुभव किया कि उसका कोई भाव स्थिर होना चाहिए, उसी दिन से साहित्य का उदय हुआ। जिस ऋषि ने सबसे पहले उस बैल का दर्शन किया जिसके चार सींग, तीन पाँव, दो सिर और सात भुजाएँ हैं तथा जो तीन रस्सियों से बँधा हुआ है और मर्त्यलोक में गरजता हुआ आ घुसा है, तब उसने अपनी यह अनुभूति अपनी सन्तति को देने की इच्छा की होगी।* सम्भवतः किसी ऐसे ही समय से साहित्य का उदय हुआ होगा। वैदिक-साहित्य के रूप में इसका सर्व प्रथम उदय हुआ। इस साहित्य में ही वे मूल तत्व प्राप्त होते हैं जिनसे आगे चलकर विभिन्न विचार परम्पराओं का जन्म और विकास हुआ।

संसारके प्रति हमारी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमको उसका ज्ञान होता है और फिर उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न होता है। उस ज्ञान के साथ ही हमारा हृदय आंदोलित होने लगता है। ज्ञान के साथ हमारे भावों का सम्बन्ध होता है। भावों के अनुकूल हम क्रिया करने लगते हैं जैसे मित्र को देखकर उसके स्वागत के लिए तत्पर होना और शत्रु को देखकर दूर भागना आदि। विद्वानों ने मानव के भावों के मूल में कार्य करने वाली मनोवृत्तियों के तीन रूप माने हैं—ज्ञान, भावना और संकल्प। ये तीनों मनोवृत्तियाँ समयानुकूल परिस्थितियाँ पाकर जाग्रत हो उठती हैं। अभिव्यक्ति की भावना ज्ञान में भी होती है परंतु उसकी जितनी तीव्रता भावना के क्षेत्र में देखी जाती है उतनी अन्यत्र नहीं। इसी अभिव्यक्ति की भावना से मनुष्य क्रियाशील होता है। क्रिया अभिव्यक्ति का ही रूप है। हमारी विभिन्न अभिव्यक्तियों में से जो शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है उसका विशेष महत्व है क्योंकि उसमें

---

* बैल के चार सींग=नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), कृदन्त और तद्धित। तीन पाँव=तीन लिंग=स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग। दो सिर=प्रतिपादित और अव्यय। सात हाथ=सात कारक-कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण। त्रिधा बद्ध=तीन प्रकार से बँधा हुआ=तीन वचन=एक वचन, द्विवचन, बहु वचन। बैल=साहित्य।

स्थायित्व और सामाजिकता अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों की अपेक्षा अधिक रहती है। हम अपनी आत्मा पर पड़े हुए प्रभावों से उत्पन्न भावों की भी अभिव्यक्ति चाहते हैं। यही हमारी आत्माभिव्यक्ति कहलाती है। साहित्य में इसी अभिव्यक्ति की प्रधानता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बाबू गुलाबराय ने साहित्य की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर की है—"साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।"

एक दिन व्याध द्वारा क्रौंच-वध को देखकर आदि कवि बाल्मीकि की वाणी सहानुभूति से विगलित हो उठी और साहित्य का प्रथम अवतार हुआ। इसी को देखकर किसी कवि ने कहा है कि—"श्लोकत्वमाऽपद्यत यस्य शोकः" अर्थात् भाव-प्रवण हृदय जिस अनुभूति से विगलित हो उठे उसकी व्यजना साहित्य है। बाल्मीकि का उक्त श्लोक निम्नलिखित है—

"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"

यह श्लोक जिस समय कहा गया है वह प्रसंग शोक का नहीं है। राम ने जब कुम्भकरण का बध किया था उस समय इस श्लोक द्वारा उनकी स्तुति की गई थी। उस प्रसंग में इसका अर्थ है कि—"हे शोभा से सम्पन्न! तुम सदैव प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, क्योंकि तुमने कुंचावंशजात काममुग्ध युग्म (रावण-कुम्भकरण) में से एक का वध किया है। इस अन्य अर्थ को श्लिष्ट शब्दों के बल से व्यक्त करने की शक्ति होने के कारण साहित्य का प्रथमावतार यही श्लोक मानो इस दिशा की ओर संकेत कर रहा है कि साहित्य में "प्रयुक्त शब्दावली केवल संकेतार्थ वाचिका नहीं होती, वरन् उसे सांकेतिक अर्थ से सम्बद्ध अन्यार्थ वाची भी होना चाहिए साथ ही अर्थ सम्बन्धवशात् अन्यार्थ की प्रतीतिकारक ध्वनि भी साहित्य का अङ्ग बनती है।" (डा० प्रेमनारायण शुक्ल) इस श्लोक से साहित्य के दो रूपों का उदय होता है—१—यह छंद स्तुतिपरक होने के कारण किसी नायक की स्तुति का वाचक है। यह किसी ख्यात चरित्र का वर्णन करता है। इस विचार परम्परा ने महाकाव्यों, नाटकों, आख्यानों और कहानियों को उत्पन्न किया। २—स्वानुभूति की तीव्र व्यंजना करता हुआ यही छंद मुक्तक गीति-परंपरा का का प्रथम श्लोक है। इस प्रकार इस प्रथम श्लोक से हमें पाँच विचार मार्ग प्राप्त होते हैं—

१—रस सम्प्रदाय

२—ध्वनि सम्प्रदाय

३—अलङ्कार सम्प्रदाय

४—कथानक काव्य या इतिवृत्तात्मक काव्य

५—स्वानुभूति-परक मुक्तक काव्य।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ है—सहित होने का भाव–"सहितस्य भावः साहित्यं।" इसमें विद्वानों ने 'सहित' शब्द के दो अर्थ माने हैं—१—सह अर्थात् साथ होना, २—हितेन सह सहितं अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित सम्पादन हो। सह (साथ होना) से यह भाव निकलता है कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परस्परानुकूलता के साथ सहभाव हो वही साहित्य है। इसी भाव में साहित्य की सामाजिकता का भाव भी ध्वनित होता है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से भी साहित्य शब्द का यही भाव निकलता है। 'धा' धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय के संयोग से 'हित' शब्द निष्पन्न होता है। 'स' के योग से सहित का अर्थ हुआ साथ—एकत्र। लोक में प्रसिद्ध 'सहित' का अर्थ है—हित के साथ। इस 'सहित' शब्द से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए 'ष्यत्' प्रत्यय करने पर 'साहित्य' शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'साहित्य' शब्द का अर्थ हुआ 'सहित होने का भाव।' व्याकरण सम्मत इस अर्थ में दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—१—एकत्र की हुई ज्ञान-राशि का होना, २—इस ज्ञान-राशि का मानव-हिताय होना। इन दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर अँग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द का भाव 'साहित्य' शब्द में मिल जाता है। लिटरेचर शब्द अक्षरों (letters) से बना है अर्थात् अक्षरों का जितना विस्तार है वह सब लिटरेचर है। द्विवेदीजी ने सम्भवतः इसी शब्द के आधार पर कहा था कि—"ज्ञान-राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है।" अरबी में साहित्य को 'अदब' कहते हैं जिसका अर्थ है आदर—शिष्टता। साहित्य शिष्टतापूर्ण होने के कारण ही अदब कहलाता है।

हमारे यहाँ साहित्य शब्द के दो अर्थ माने गए हैं-व्यापक और संकुचित। व्यापक अर्थ के अन्तर्गत साहित्य सारे वाँगमय का पर्याय है। जितना शब्द-भंडार और वाणी का विस्तार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत माना गया है। संकुचित और रूढ़ अर्थ में साहित्य केवल काव्य का पर्याय है। साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। "व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना मात्र का वाचक

है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य या भावना प्रधान साहित्य का पर्याय है।" (गुलाबराय)

प्राचीन काल से विभिन्न विद्वान साहित्य की अनेक वैयाकरणिक, दार्शनिक और साहित्यिक परिभाषाएं बनाते आये हैं। राजशेखर के अनुसार—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विधा साहित्य विद्या" अर्थात् शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोगवाली विधा साहित्य विद्या है। 'शब्दकल्पद्रुम' में श्लोकमय ग्रन्थ को साहित्य कहा गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र की परिभाषा इस प्रकार है—"सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य-मनुष्य का, अतीत वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है।"

संस्कृत के आचार्य शब्द तथा अर्थ को काव्य का शरीर मानते हुए दो दलों में विभक्त हो गए। एक दल ने आत्मा का अन्वेषण करते हुए रस को काव्य की आत्मा माना—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—आचार्य विश्वनाथ। दूसरे दल ने आत्मा के अन्वेषण में काव्य के शरीर को ही आत्मा मान लिया। इनमें भामह, दण्डी तथा हिंदी में केशवदास अलङ्कारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। केशव ने स्पष्ट कहा है कि—

"जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन, सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु नहिं राजहीं, कविता, बनिता, मित्त॥"

आचार्यों का एक तीसरा वर्ग वक्रोक्ति अर्थात् बात को कलात्मक ढङ्ग से घुमा-फिर कर कहना—को ही काव्य की आत्मा मानता है। इसके अतिरिक्त किसी ने ध्वनि को तथा किसी ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। परन्तु इन सब आचार्यों ने उपर्युक्त गुणों के साथ काव्य में रस की महत्ता को भी स्वीकार किया है।

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य की तीन विशेषताएं मानी गई हैं—

१—हित-साधन करना—"हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्।"

२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना—" 'सहितं रसेन युक्तम्' तस्य भावः साहित्यम्।"

३—मानव मनोवृत्तियों को उन्नत करना—"अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।"

गङ्गाप्रसाद पांडेय साहित्य की विवेचना करते हुए कहते हैं कि—"साहित्य विचारशील आत्माओं की अमर अभिव्यक्ति है। इसमें जीवन सम्बन्धी उन विशेष विचारों का सङ्कलन होता है जो हमारे यथार्थ जीवन को प्रगति देते हैं। वास्तव में साहित्य हमारा शब्द जीवन है, क्योंकि सभी साहित्यकार जीवन की जटिलता तथा विरसता एवं सरसता का उपयोग करने के बाद ही उसको अपनी शब्द सीमा में बाँधने का प्रयत्न करते है।"

उपर्युक्त विभिन्न भारतीय परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानव-मात्र का हित-साधन है जो आनन्द के द्वारा किया जाता है। कुछ पाश्चात्य आलोचकों का कथन है कि भारतीय साहित्य में यथार्थ का तत्व नहीं के बराबर है। परन्तु यह उनके अध्ययन का अभाव है। भारतीय कवि बाह्य चित्रण में इतनी प्रगल्भता नहीं दिखलाता क्योंकि बाह्य तत्व से तो सम्पूर्ण प्रकृति भरी पड़ी है फिर उसके अनुवाद-मात्र से क्या लाभ? वह रसोद्रेक के लिए एक कलात्मक संकेत करता है, जो बाह्य विवरण से अधिक भावोद्रेक करने वाला होता है। यथार्थ की अभिव्यक्ति रूपक और संकेत द्वारा ही होती है। यथार्थ को कल्पना के रंग से कुछ अतिरंजित अवश्य किया जा सकता है किंतु उसे विच्छिन्न तो नहीं किया जा सकता क्योंकि यथार्थ ही श्रेष्ठ एवं सच्ची कला का अस्तित्व स्तम्भ है, किंतु कलात्मक ढङ्ग से वही काव्य है। हमारा साहित्य इसका प्रमाण है। वैदिक कवियों ने प्रकृति से एकात्म होकर उसके गीत अवश्य गाए हैं, पर साथ ही कठोर यथार्थ जीवन की समस्याओं की उन्होंने तनिक भी उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों को अपनी रचनाओं के विषय रूप में ग्रहण करके उन युग-समस्याओं के समाधान द्वारा जनता को सामाजिक और सामूहिक उन्नति के पथ की ओर निरन्तर अग्रसर करते रहने के प्रयास किए हैं। रामायण और महाभारत में अपने युग की समस्याओं का ही चित्रण है। युग की समस्याओं को लेकर ही श्रेष्ठतम साहित्यिक कलाकृतियों की रचना की जा सकती है। केवल कायर कलाकार ही युग के कठोर यथार्थ जीवन के प्रश्नों से कतराते हैं। भारतीय साहित्य सदैव जन-जीवन के समानान्तर चला है। जब कभी उसने जन-जीवन की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया है तभी उसकी गति रुद्ध होने लगी है। इस प्रकार भारत में साहित्य को सदैव जीवन के लिए उपयोगी माना गया है यद्यपि उसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं जैसे केशव आदि।

यूरोपियन समीक्षकों में दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रचलन रहा है।

एक के अनुसार साहित्य को जीवन के लिए माना गया है और दूसरी के अनुसार उसका जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त दो विचारधाराओं के अनुसार यूरोप में साहित्य के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं—१—कला जीवन के लिए तथा २—कला कला के लिये। पाश्चात्य समीक्षकों ने साहित्य या काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत माना है। इस कारण वहाँ काव्य के प्रयोजनों का विवेचन व्यापक रूप से कला के प्रयोजनों के साथ चलता है। इसलिए यूरोपीय समीक्षकों की साहित्य विषयक विचारधारा को कला के माध्यम से ही समझना पड़ेगा। इस विवेचन से पूर्व पाश्चात्य दृष्टि कोण के अनुसार काव्य के उन तत्वों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है जिनके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होंने काव्य के चार मूल तत्व माने हैं—कल्पना, बुद्धि, भाव तथा शैली।

कल्पना तत्व द्वारा कलाकार अप्रत्यक्ष तथा अमूर्त वस्तुओं का चित्रण करता है। वह इसी की सहायता से साधारण को असाधारण तथा नीरस को सरस बनाकर पाठक को रसप्लावित कर देता है। कल्पना सम्पन्न होने के कारण ही वह भविष्य द्रष्टा कहलाता है। बुद्धि तत्व में विचार की प्रधानता होती है। कलाकार या कवि अपने विशिष्ट उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपनी रचना द्वारा कर पाठकों को एक विशिष्ट सन्देश देता है। इसके प्रतिपादन के हेतु वह काव्य के माध्यम से अपने विशिष्ट विचारों को अभिव्यक्त करता है, ये विचार ही साहित्य में बुद्धितत्व कहलाते हैं। हमारे आचार्यों ने भाव-तत्व को काव्य की आत्मा माना है। रस का सम्बन्ध भावों से होता है। पाश्चात्य आचार्य भी काव्य या कला में भाव-तत्व के महत्व को स्वीकार करते हैं। शैली तत्व का सम्बन्ध काव्य के कलापक्ष से है। इसके अभाव में बुद्धि, कल्पना और भाव की सफल व्यञ्जना नहीं हो सकती। इस प्रकार साहित्य में बुद्धि तत्व से 'सत्यं' और 'शिवं' की रक्षा होती है और कल्पना, भाव तथा शैली तत्व से 'सुन्दरम्' का निर्माण होता है। यही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का प्रमुख मान दण्ड है। उपर्युक्त तत्वों के आधार पर साहित्य की निम्नलिखित परिभाषा निश्चित की जा सकती है कि—"काव्य साहित्य वह वस्तु है जिसमें मनोभावात्मक, कल्पनात्मक, बुद्ध्यात्मक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश हो।

यहाँ पर कुछ यूरोपिय विद्वानों की साहित्य-विषयक परिभाषाओं को देख लेना भी आवश्यक है। हेनरी हडसन यह मानते हैं कि—"साहित्य मूलतः

भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है। वर्ड् सवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को ही काव्य मानता है। यद्यपि इस वर्णन में कल्पना की आवश्यकता भी वह स्वीकार करता है। वह काव्य को Spontaneous overflow of powerful feelings कहता है। शैली के शब्दों में—"कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है, हन्ट कविता को 'पैशन' (Passion) मानता है; लगभग सभी पाश्चात्य विचारकों में एक बात समान रूप से यह मिलती है कि वे काव्य का फल आनन्द मानते हैं। जब तक काव्य का फल आनन्द मानने की धारणा सन्तुलित रही तब तक तो काव्य के वास्तविक उद्देश्य जन-हित में कोई अधिक अन्तर नहीं आया। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस आनन्द की भावना को इतना आगे बढ़ाया कि आनन्द रस की उच्च-भूमि से गिर कर 'कला' की कलाबाजी में मिल गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्राँस के विद्वान थे जिन्होंने कला को केवल कला के लिए माना।

'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' का विवाद साहित्य में नैतिकता के प्रश्न को लेकर बहुत पहले उठ खड़ा हुआ था। हम ऊपर कह आए हैं कि यूरोप में साहित्य को ललित कलाओं में माना गया है इसलिए उन्होंने कला के प्रयोजनों के विवेचन में ही साहित्य के प्रयोजनों का विवेचन किया है। वहाँ कला के अनेक प्रयोजन माने गए हैं जिनमें से निम्नांकित नौ प्रसिद्ध है—

१—Art for arts' sake—कला कला के लिए।

२—Art for life's sake—कला जीवन के लिए।

३—Art as an escape from life—कला जीवन से पलायन के अर्थ।

४—Art as an escape into life—कला जीवन में प्रवेश के लिए।

५—Art for service's sake—कला सेवा के लिए।

६—Art for self realisation—कला आत्मानुभूति के लिए।

७—Art for joy—कला आनन्द के लिए।

८—Art for recreation—कला मनोरंजन के लिए।

९—Art as creative necessity—कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के लिए।

उपर्युक्त प्रयोजनों में दृष्टिकोण की भिन्नता से दो वर्ग बन गए हैं। इनमें से प्रयोजन संख्या १, ३, ७, ८ और ९ कला को मानव जीवन के एक आव-

श्यक अङ्ग के रूप में ग्रहण नहीं करते। इसके विपरीत प्रयोजन संख्या २, ४, ५ और ६ उसे जीवन का एक आवश्यक अङ्ग मानते हैं। इस प्रकार इनके स्पष्ट दो भेद बन गए हैं। १—वह जो कला को जीवन के लिए आवश्यक एवं आचार और नैतिकता का कलात्मक माध्यम नहीं मानता। २—वह जो कला को जीवन की उन्नति और नैतिक सदाचार की स्थापना के हेतु अत्यन्त आवश्यक और प्रधान सहायक मानता है। इसमें लोकहित की भावना का प्राधान्य है। दूसरे शब्दों में हम पहले को 'कला कला के लिए' तथा दूसरे को 'कला जीवन के लिए' कह सकते हैं।

भारत में 'कला कला के लिए' का नारा यूरोप से आया है। अतः इसके विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना जरूरी है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू कला को जीवन की प्रतिकृति मानता था। उसके मतानुसार कला और जीवन दो वस्तुएं हैं जिनका नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके विपरीत प्लेटो ने कला को जीवन की अनुकृति माना है। उसके अनुसार जीवन की प्रतिकृति सम्भव नहीं। कलाकृतियों में केवल जीवन का अनुकरण सम्भव है। वह जीवन की प्रतिकृति नहीं बन सकती। अरस्तू का मत था कि हम जिस वस्तु को जिस रूप में देखते हैं उसे ठीक उसी रूप में उपस्थित करना चाहिये। इस प्रकार अरस्तू 'कला जीवन के लिए, तथा प्लेटो 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्तों के आदि प्रतिष्ठापक हैं।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पालन पोषण फ्रांस में हुआ। वहाँ के कलावादियों ने लोक से उसका सम्बन्ध छुड़ा कर उसे केवल खिलौना बना दिया। बाडलेयर ने स्पष्ट कहा है कि—"Poetry has no end beyond itself" अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है। कविता पढ़ लीजिये, उससे मनोरंजन कीजिये और फिर उसे भूल जाइए। रात्रि के देखे हुये मधुर स्वप्न के समान आपने उसका आनन्द भोगा परन्तु वास्तविक जाग्रत जगत में यह स्वप्न न आपके किसी काम का है और जगत का। इसी भाव की व्याख्या करते हुए मारिस ने कहा था—"हम किसी कुटिल को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न क्यों करें? हमारे लिए इतना ही काफी है कि मधुर ध्वनि करती हुई हमारी कविता-विहंगिनी आनन्द पूर्वक अपने सुन्दर पंखों को 'कल्पना-सौंदर्य के गजदन्त पर फड़फड़ाती रहे।' इसका अर्थ यह हुआ कि सरलता और कुटिलता काव्य की परिधि से बाहर की वस्तुएं हैं।

फ्रांस से यह विचारधारा इंग्लैण्ड पहुँची। इंग्लैण्ड में इसका चरम

विकास हुआ। परन्तु वहाँ जहाँ एक वर्ग ने इसे अपनाया दूसरे वर्ग ने इसका विरोध भी किया। इस प्रकार वहाँ दो दल हो गए। एक दल 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करने लगा तथा दूसरा 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त का। प्रथम सिद्धान्त के समर्थकों में वाल्टर पेटर, व्हिसलर कोच, क्लाइव बैल, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले, अमेरिकन स्पिन्गार्न, टी० एस० इलियट आदि प्रमुख हैं। दूसरे मत के समर्थकों में मैथ्यू आर्नोल्ड, आई० ए० रिचर्डस, रस्किन अबर क्राम्बी, कार्लायल, शेली, वर्डस्वर्थ, मिल्टन आदि प्रमुख हैं। इनमें लोक पक्ष, धर्म मिश्रित कलावाद, उपयोगितावाद, मूल्य निर्धारण वाद आदि का प्राधान्य था। प्रथम पक्ष में केवल सौन्दर्य की भावना थी और दूसरे में लोक कल्याण की। प्रथम पक्ष कला के क्षेत्र में सद्-असद्, सभ्य-असभ्य आदि का विवेक नहीं करना चाहता। वह आचार को कला से दूर मानता है।

अब प्रमुख कलावादियों के काव्य-विषयक दृष्टिकोण को देख लिया जाय। वाल्टर पेटर कलावादियों का प्रमुख आचार्य था। कलावादी उसे अपना गुरु मानते हैं। वह शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति को स्वीकार करता है और उसका उपयोग सहानुभूति, सहयोग और मानवता की सेवा के लिए मानता है। आस्कर वाइल्ड इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई पुस्तक नहीं है। जो कुछ है, वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढङ्ग से लिखी गई है या बुरे ढङ्ग से। कलाकार में चारित्रिक सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला पूर्णतः अनुपयोगी है। वह कला तथा आचार को पृथक मानता है—"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला तथा आचार के क्षेत्र पृथक-पृथक हैं।" यह मत कला में विवेक बुद्धि का तिरस्कार करता है परंतु प्रसिद्ध कलावादी फ्लावर्ट को बुद्धि का साहचर्य स्वीकार करते हुए कहना पड़ा—"हृदय और बुद्धि अभिन्न है, जो व्यक्ति इनमें विभाजक रेखा खींचते हैं उनके पास दो में से कोई भी वस्तु नहीं है।"

प्रमुख अमेरिकन कलावादी आलोचक जे० ई० स्पिन्गार्न कला में नैतिकता का विरोध करते हुए उग्र शब्दों में कहते हैं—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही है जैसे कि रेखा गणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण और विषमबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" वे इस प्रकार के सौंदर्य को सत्य और शिव से बिल्कुल पृथक मानते हैं। आगे चलकर वे कहते हैं कि —"कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना अन्ध परम्परा है और हमने उसे समाप्त कर दिया है।" आधुनिक काल के प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि इलियट

भी इसी मत के समर्थक हैं--'शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसका समकक्ष कुछ और है।'' इसी प्रकार ब्रेडले ने भी काव्य-कला को स्वयं अपना साध्य माना है। धर्म, संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा आदि का वह काव्य-कला से कोई सम्बन्ध नहीं मानता।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त यूरोप में साहित्य से अलग कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी चल रही थीं जो कला को कल्पना मूलक मानने के कारण 'कला कला के लिए' सिद्धांत की समर्थक थीं। इनमें फ्रॉयड का स्वप्न-सिद्धांत, यथार्थवाद और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद प्रमुख हैं।

फ्रॉयड के अनुसार मानव जिन वस्तुओं को इस जगत में नहीं प्राप्त कर पाता उन्हें स्वप्न में प्राप्त करता है। उसकी अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति स्वप्न के कल्पना लोक में होती है और क्योंकि साहित्य का मूलाधार कल्पना है, इस लिए इसमें उन अवरुद्ध वासनाओं का चित्रण होना स्वाभाविक है। इसी से साहित्य में श्रृङ्गार भावना की प्रधानता है। कलाकार अपनी कल्पना द्वारा अपनी कलाकृतियों में उन्हीं अवरुद्ध वासनाओं का प्रदर्शन करते हैं। परंतु फ्रॉयड का यह सिद्धांत भ्रमपूर्ण है क्योंकि कला के ऐतिहासिक विवेचन से यह सिद्ध हो चुका है कि—"संसार की अब तक की श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांश में विवेकवान तथा आचारनिष्ठ महापुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।" कलाकार का व्यक्तित्व असाधारण होता है। हम उसकी कलाकृति को देखकर उसके पूर्ण व्यक्तित्व का अनुमान नहीं कर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सुन्दर रमणी की मूर्ति गढ़ने वाला कलाकार विलासी ही हो। कलाकार महान् आत्मा होता है। संसार की कल्याण भावना उसकी प्रेरक शक्ति होती है फिर वह कला को आचार से हीन किस प्रकार चित्रित कर सकता है।

यथार्थवाद के पोषकों का कहना है कि आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि मानव की मूल वृत्तियाँ हैं। उसकी सदाचार सम्बन्धी उदात्त वृत्तियाँ सभ्यता प्रसूत हैं अतः दृढ़मूल नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियाँ ही उसकी कृतियों में सजीव हों। परन्तु ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि ये स्वाभाविक वृत्तियाँ, पशुओं की वृत्तियाँ हैं जिनमें विवेक नहीं होता। मानव विवेकशील प्राणी होने के कारण इन पाशविक वृत्तियों पर नियन्त्रण रख कर समाज की कल्याण भावना में रत रहता है। इसी कारण उसकी कृतियों में सदाचार की छाप रहती है क्योंकि सदाचार की भावना कल्याण की जननी है। मानव इन पाशव वृत्तियों से निरंतर संघर्ष करता हुआ

निरंतर सभ्यता की ओर अग्रसर होता रहा है। फिर उस पर ये वृत्तियाँ कैसे हावी हो सकती हैं। कला सभ्यता की प्रतीक है। इसलिये उसमें उदात्त वृत्तियों का चित्रण सबसे अधिक जरूरी है।" मनुष्य हृदय में अनुभव करता है और मस्तिष्क से मनन। अतः हृदय और मस्तिष्क के संयोग से प्रसूत कलाकृति जीवन से दूर कैसे रह सकती है और जीवन से पृथक उसका मूल्य भी क्या होगा ?"

क्रोचे केवल 'अभिव्यक्ति' को ही कला मानता है। उसकी दृष्टि में 'वस्तु' का कोई मूल्य नहीं हैं। भारतीय 'अभिव्यंजनावादी' भी इसी का समर्थक है। साहित्य के दोनों पक्षों-भावपक्ष और कलापक्ष में से प्रथम का सम्बन्ध भाव या अनुभूति से तथा द्वितीय का उस भाव या अनुभूति को अभिव्यक्त करने की प्रणाली विशेष से है। द्वितीय का आधार प्रथम ही है। यदि अनुभूति ही नहीं होगी तो अभिव्यक्ति फिर किसकी की जायगी। अभिव्यक्त का सम्बन्ध जीवन से है। अतः उसमें जीवन का प्रतिबिम्ब आना स्वाभाविक है। केवल अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति तो साधन या आच्छादन मात्र है। वह वस्तु का रूप या गुण नहीं धारण कर सकती। इसमें सत्यता के स्थान पर कल्पना का आधिक्य होता है अतः क्रोचे का मत असंगत और अपूर्ण है। उपर्युक्त तीनों मत कलावाद के समर्थक हैं परन्तु उन सबका दृष्टिकोण सर्वथा एकाँगी और अपूर्ण है।

यूरोप में शुद्ध कलावादियों की कला-पूजा की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। साहित्य या कला के क्षेत्र में उपर्युक्त भावनाओं का तीव्र विरोध हुआ। अंततः किसी आलोचक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—"यदि कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है तो ऐसी कला एक मादक पदार्थ है, अथवा एकान्त सौंदर्य-भावना जो बौद्धिक जगत के लिए विष है।" इस मत के घोर विरोधी मैथ्यू आर्नाल्ड ने कहा था कि "जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है और जो काव्य नैतिक भावनाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण है वह जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है।" सम्भवतः कलावादियों की कलाबाजियों से ऊबे हुए कार्लायल ने कहा है—"A pack of lies that foul creature write for diversion" न्यूटन तो इनसे और भी अधिक अप्रसन्न था। वह कविता को इसी कारण "अबुद्धिपूर्ण मूर्खता" कहा करता था। शैली काव्य के आनंद को कलावादियों के आनंद से भिन्न मानकर कहता है—"कविता सदैव आनन्द से युक्त रहती है। परंतु इसका प्रभाव अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतन से ऊपर होता है।" क्योंकि "कवि शाश्वत

असीम और एकत्व का सहमार्गी होता है। उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता।" शेली का यह मत भारतीय रस-दर्शन का समर्थक है। वर्ड्सवर्थ काव्य की व्याख्या करता हुआ कहता है कि "स्वभावगत प्रेरणाओं का यान्त्रिक अन्धानुशासन का अर्थ प्रकृति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसकी ओर वह दौड़ता ही है, परंतु कवि का कृतित्व उस प्रवृत्ति को ही पवित्र करता है।"

प्रत्येक उपयोगी वस्तु के दो परिणाम है—'स्वादु' और 'तोष'। यदि काव्य केवल स्वाद ही दे सका, तोष न दे सका तो क्रिश्चियाना रोजेटी के शब्दोंमें—

"I plucked pink apples from mine apple tree.
And wove them all that evening in my hair.
Then in due season when I went to see,
I found no apples there."

"किसी फलप्रद वृक्षों के प्रारम्भिक फलोद्गम से ही अपना श्रृङ्गार करके जो व्यक्ति मनोरंजन कर लेता है, निश्चय ही फल-प्राप्ति के समय उसे निराशा होती है। काव्य को क्षुद्र मनोरंजन का साधन बनाकर जो व्यक्ति तृप्त हो जाता है, जीवन के कठोर आघातों में सहनशीलता की शक्ति देने वाली जीवन-व्यापिनी काव्योपयोगिता को वह अवश्य तुच्छ बना देता है।"

(डा० प्रेमनारायण शुक्ल)

भारतीय मनीषियों ने काव्य को जीवन का एक अभिन्न अङ्ग माना है। वे काव्य को प्रचार द्वारा उपदेश देने का साधन नहीं मानते। उपदेश तो धर्म की वस्तु है। उनका कहना है कि हमारे विचार काव्य का सुन्दर आवरण पहन कर जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालें। उनके लिए काव्य कला जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति रही है। इसी से साहित्यकार को—"कान्ता-सम्मित" उपदेश देने वाला कहा गया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का आधार सदाचार है। कलाकार इसी सदाचार का कलात्मक स्वरूप उपस्थित कर समाज में असत् और विषमता के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है। समाज की इसी भावना ने काव्य और आचार का निसर्गसिद्ध सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। हमारी उदात्त वृत्तियाँ सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार जाग्रत होती हैं। अतः सत के प्रति समाज का आकर्षण और असत के प्रति द्वेष एक स्वाभाविक परिणाम है कि काव्य और आचार के पार्थक्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पश्चिमी विद्वान भी अब इस विचार को मानने लगे हैं।

ऐंगिल्स ने कहा था कि हम जो कुछ साहित्य में कहें वह आकर्षक होना चाहिए। उसमें यह अभिव्यजित न हो कि साहित्यकार उपदेश दे रहा है क्योंकि राजनीति, इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। इसी का समर्थन बंकिमबाबू के ये शब्द करते हैं—"कवि संसार के शिक्षक हैं, किंतु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्धि करते हैं। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्षसाधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।" कवि या कलाकार सुधार की बात भी सौंदर्य के आवरण में कहता है। तुलसी ने 'मानस' की रचना स्वान्तः सुखाय की थी किंतु तुलसी का सुख मानव मात्र का सुख था इसी से वह मानव-हिताय बन गया। उनके काव्य में मानव-जीवन के विविध पक्षों के अत्यन्त मार्मिक और प्रभावकारी चित्रों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार कलावादियों का यह नारा कि साहित्य में उपदेश नहीं होना चाहिए व्यर्थ हो जाता है क्योंकि काव्यकार कान्ता सम्मित उपदेश देता है जो अधिक प्रभावकारी होता है। यहाँ उपदेश कलात्मक व्यंग्य के रूप में आता है जैसा कि बिहारी ने राजा मिर्जा जयशाह को एक दोहे मात्र से मोहनिद्रा से चैतन्य कर दिया था।

आधुनिक भारतीय विचारकों में रवीन्द्र बाबू कलावादी हैं। वे कला को किसी भी उपयोगिता से परे मानते हैं। इलाचंद्र जोशी भी इसी मत के समर्थक हैं। उनका कथन है कि—"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर, नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। ''''''उच्च अङ्ग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" इसके विपरीत प्रेमचंद काव्य को उपयोगी मानते हुए कहते हैं कि—"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

संसार के प्रायः सभी नेताओं तथा महापुरुषों ने कला की उपयोगिता पर सबसे अधिक बल दिया है। महात्मा गान्धी, लेनिन, टाल्स्टाय आदि सभी इसके समर्थक हैं। महात्मा गान्धी का मत है कि—"कला से जीवन का महत्व है। जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाए तो वह कला क्या हुई।" टाल्स्टाय के अनुसार—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।" लेनिन कला में उपयोगिता का समर्थक था। इब्सन आदि का भी यही मत है। उसके विचार से—"सुनीति संगत प्रवृत्ति ही मानव जीवन की मूल भित्ति है। मानव का

ऐसा कोई भी अनुष्ठान नहीं जिसमें नैतिक प्रभाव विद्यमान न हो।" वर्क के अनुसार आत्मप्रकाश की भावना ही हर कला का मूल है। मानव स्वयं को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इसमें दो बातों की प्रधानता है—मुक्ति का आनंद तथा साधना का संयम।

सत्य की उपलब्धि ही कला का उद्देश्य है और मनन जीवन का लक्ष्य। सत्य संसार में सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर सत्य स्वरूप है। साथ ही वह आनन्द रूप और अमृत रूप भी है। कला द्वारा हम उसी सत्य की उपासना करते हैं। किंतु उस उपासना का रूप सुन्दर होता है। और सुन्दर वही हो सकता है जिसमें चेतन, अमूर्त के भाव की विजय है। ब्रह्म इसीलिए सबसे बढ़कर सुन्दर है क्योंकि वह चेतन है, अमूर्त है और भावमय है। इस प्रकार सुन्दर सत्य का ही स्वरूप है। साथ ही सत्य और शिव में कोई अन्तर नहीं हैं। अतः जो सत्य और शिव है वह स्वतः ही सुन्दर भी है। इस प्रकार कला, जिसमें सौंदर्य प्रधान है, स्वभावतः जन-कल्याणकारी ही होती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कला जीवन से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

परंतु गम्भीरता पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'कला कला के लिए' तथा 'कला जीवन या लोकहित के लिए' सिद्धान्तों को मानने वाले दोनों ही अतिवादी हैं। प्रथम कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं मानते और दूसरे उसे सदाचार का प्रचारक मात्र बनाना चाहते हैं। ऐसी कला में शुष्कता आ जाती है। यह ठीक है कि हमारे साहित्य में हमारी समस्याएँ सुलझित हों परंतु उनका रूप सुन्दर होना चाहिए। प्रचारात्मक साहित्य शाश्वत न होकर क्षणिक होता है। परिस्थितियों के बदलने के साथ ही वह गतिहीन हो जाता है। हमारे एक मित्र के शब्दों में—"किन्तु मानव की सहज भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर आधारित साहित्य शाश्वत होता है, क्योंकि इस प्रकार की शाश्वत भावनाएँ जहाँ मूर्त रूप धारण कर लेती हैं वहाँ कला सार्वकालिक बन जाती है। आनन्द, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला में जब सफलता पूर्वक होती है तो वह समय, देश और जाति के बन्धन में न बँधकर सार्वदेशीय और सार्वकालिक हो जाती है और उसके स्रष्टा कलाकार भी अमर हो जाते हैं।" वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर आदि इसी कारण अमर हैं। प्रसाद की कामायनी इस प्रकार की कला का सुन्दर उदाहरण है।

कलाकार की कृति में लोकहित की भावना अनायास ही आ जाती है। इसलिए हमें मध्यम मार्ग का अनुसरण ही करना चाहिए। कला न तो एकदम जीवन से पृथक ही हो जाय और न उपदेश या प्रचार का साधन ही बने। ये

दोनों अतिवादी मार्ग हैं। तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' लिखते समय श्रेष्ठतम कला-साहित्य के इस उद्देश्य को नहीं भुलाया था कि—

"कीरति भणित भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।।"

"काव्य में अथवा कला में शिवत्व की भावना तो फल में रस की भाँति स्वाभाविक रूप से सर्वदा रहती है। कला मनुष्य के मानसिक स्तर को ऊँचा उठाती है, उसमें देवत्व के गुणों की प्रतिष्ठा करती है। अतः वास्तव में कला जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति ही है।"

कला या साहित्य में नैतिकता का एक विशिष्ट स्थान रहता है। कवि भविष्य-द्रष्टा होता है, उसकी पैनी दृष्टि समय के आवरण को भेद कर भविष्य का स्वरूप देखती है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वह युग-विशेष की स्वीकृत नैतिकता को ही स्वीकार करे। वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा वर्तमान समाज के नैतिक आधार को दोषपूर्ण समझता हुआ उसके प्रति विद्रोह भी कर सकता है और कभी अपनी सृजनात्मक शक्ति के द्वारा नवीन नैतिक आदर्शों की स्थापना भी कर सकता है। यद्यपि साहित्य में नैतिकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि कवि युग विशेष के नैतिक मानदण्डों से भी बंध कर नहीं रह सकता।

डाक्टर प्रेमनारायण शुक्ल साहित्य की पूर्ण सफलता का मापदंड प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि—"हमारे विचार से तो साहित्य का मुख्य कृतित्व इसमें है कि वह 'स्वादु' और 'तोष' दोनों प्रदा कर सके। वह ऐसा 'स्वादु' दे सके, जो मीठा तो हो, परन्तु ऐसा मीठा न हो कि उसमें कीड़े पड़ सकें। वह 'तोष' दे सके, परन्तु ऐसा तोष हो कि फिर भूख न लगे। जो काव्य या साहित्य इस 'स्वादु' और 'तोष' को दे सकता है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। किसी साहित्य की उत्कृष्टता का तारतम्य इन्हीं की मात्रा पर निर्भर है।"

२६—अनुभूति और अभिव्यक्ति

काव्य का मुख्य आधार भाव है। इस भाव की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। इन्हीं दो तत्वों के आधार पर विद्वानों ने काव्य के दो पक्ष माने हैं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। इसी को भावपक्ष और कलापक्ष अथवा अनुभूति पक्ष और रूपपक्ष भी कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध अमिट है उसी प्रकार भाव और कला परस्पर सम्बन्धित हैं। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है। जिस प्रकार जीवन शरीर और आत्मा के सामंजस्य पर निर्भर है उसी प्रकार काव्य का जीवन भी भाव और कला के पारस्परिक योग पर आधारित है। भाव पक्ष में काव्य के समस्त वर्ण्य विषय आ जाते है और कला पक्ष में वर्णन शैली के समस्त अंगों का समावेश हो जाता है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का आकार से। वस्तु और आकार को पृथक नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य के चार तत्व माने हैं—राग, कल्पना, बुद्धि और शैली। इनमें से प्रथम तीन—राग, कल्पना और बुद्धि का सम्बन्ध काव्य के अन्तरङ्ग अर्थात् भाव पक्ष से है और अन्तिम तत्व--शैली का काव्य के बहिरङ्ग पक्ष अर्थात् कलापक्ष से है।

बालक उत्पन्न होते ही अपनी इच्छा या वृत्ति के सहयोग द्वारा संसार से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगता है। यही इच्छा या वृत्ति अनुकूलता पाकर 'प्रवृत्ति' में और प्रतिकूलता पाकर 'निवृत्ति' में परिवर्तित हो जाती है। बालक अग्नि में हाथ डालने से प्रतिकूलता अनुभव करता है और मिठाई खाकर अनुकूलता। यही बालक का उन वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध है। प्रतिकूलात्मक और अनुकूलात्मक, प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक, सुखात्मक और दुखात्मक, इसी सम्बन्ध को रागात्मक सम्बन्ध कहते हैं। रागात्मक सम्बन्ध काव्य के रस से होता है।

कल्पना द्वारा हम स्मृत-पट पर अङ्कित रागों का स्मरण करते हैं। इसकी निधि स्मृति-पट या स्मृति-कोष है। कल्पना का विधान दो प्रकार का होता है—सरल और मिश्रित। मनुष्य द्वारा हवा में उड़ने की कल्पना मिश्रित विधान है क्योंकि एक उड़ते हुए पक्षी को देखकर मनुष्य के भी पंख लगा कर उड़ने की

कल्पना की गई है। हमारा स्मृति-पट एक चल चित्र के समान है। कल्पना के तीव्र वेग से संचालित होकर वह अपने भावात्मक चित्र सम्मुख रखता है। इनमें से जो चित्र हमें अच्छा लगता है वह रुक जाता है। भावमय चित्र उपस्थित करने के लिये उसे स्पष्ट और प्रभावोत्पादक स्वरूप देने के लिये, कल्पना द्वारा पूर्व-संकलित चित्रों का निरीक्षण एवं चयन आवश्यक है। सादृश्य भाव की सहायता से अभिव्यंजनीय चित्र प्रभावोत्पादक और स्पष्ट हो जाता है।

बुद्धि द्वारा राग की उपयोगिता तथा कल्पना द्वारा आनीत चित्र की उपादेयता निर्धारित की जाती है। राग और कल्पना में हृदय की ही प्रतिच्छाया अधिक रहती है। बुद्धि हृदय से हट कर मन से काम लेती है। इसका उद्गम स्थान मन है। भारतीय शास्त्रों में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक ही वृत्ति के विकास में भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। बुद्धि द्वारा राग और कल्पना के असंयम को संयमित किया जाता है। इसकी सहायता के अभाव में कविता संस्कृत हृदयों की वस्तु नहीं बन सकती है। राग समूह भिन्न भिन्न प्रकार के पौधे हैं जिनका चयन कल्पना करती है। परन्तु किस पौधे को कहाँ लगाया जाय, किस का स्वरूप दूसरे किस पौधे के साथ अच्छा खिलेगा, इसका निर्णय बुद्धि करती है। परन्तु बुद्धितत्व राग और कल्पना से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। भावों के आगे का काम कल्पना करती है। बुद्धि भी कल्पना द्वारा संचित रूपों को ही सुचारु रूप से सजाती है। कल्पना के अभाव में बुद्धि पंगु हो जाती है। इस प्रकार राग, कल्पना और बुद्धि काव्य के अन्तरङ्ग पक्ष हैं जो पारस्परिक सहयोग द्वारा भाव को पुष्ट कर रस का सृजन करते हैं। परन्तु बुद्धि का सम्बंध काव्य के केवल अन्तरङ्ग पक्ष तक ही सीमित न रहकर उसके बहिरङ्ग पक्ष से भी सम्बन्धित है। बुद्धितत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। उसका निजी रूप 'संगति' है। कविता में भावों के सम्यक् परिपाक के लिए इन तीनों तत्वों की समान आवश्यकता है। किसी भी एक तत्व के अभाव में भावपक्ष निर्बल हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने भावों को रसों के अन्तर्गत माना है। व्यापक दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही रस से सम्बन्धित हैं क्योंकि कलापक्ष के अन्तर्गत जो अलंकार, लक्षण व्यंजना और रीतियाँ हैं वे सभी रस की पोषक हैं तथापि भावपक्ष का रस से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। वह उसका अङ्ग है। कलापक्ष के विषय उसके सहायक और पोषक हैं।

अपनी भावनाओं का ज्ञान मनुष्य की एक विशेषता है। जब मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने तक ही सीमित न रखकर अपने समान उनको समझने

वाले व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित करता है तब काव्य का जन्म होता है। काव्य मनुष्य मात्र के हृदय की शाब्दिक अभिव्यक्ति है जो हृदय साम्य के कारण पाठक या श्रोता के हृदय में भी उन्हीं भावनाओं की सृष्टि कर उसको असाधारण आनन्द प्रदान करती है। अनुभूति तो प्रत्येक मानव में होती है— सभी में प्रेम, घृणा, उत्साह, क्रोध, भय आदि भाव होते हैं और सभी उनको अभिव्यक्त भी करते रहते हैं। परंतु वह अभिव्यक्ति भावावेश की अभिव्यक्ति होती है। उसमें पशुत्व भावना का प्राबल्य रहता है। वर्ड्सवर्थ के शब्दों में— "काव्य तो शान्ति के क्षणों में स्मरण किए हुये प्रबल मनोवेगों का स्वच्छंद प्रवाह है।" इससे जब तक हम पशु बने रहेंगे, हम कविता नहीं लिख सकते। मनोवेगों की शाब्दिक अभिव्यक्ति केवल उनकी स्मृति से ही हो सकती है, उनके अस्तित्व मात्र से नहीं। यह सिद्धांत यह भी बतलाता है कि प्रत्येक रस की कविता 'आनन्द' ही क्यों देती है, दुख क्यों नहीं देती। मनोवेगों से दुख आदि भी मिलते हैं परन्तु उनके स्मरण से केवल आनंद मिलता है।

केवल अनुभूतियों के स्मरण मात्र से ही काम नहीं चल सकता। कवि को निरीक्षण और कल्पना की सबसे अधिक आवश्यकता है। उसे संसार की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा अध्ययन करना पड़ेगा और फिर अपनी कल्पना का योग देकर उस निरीक्षण को अनुभूतियों का जामा पहनाकर काव्य सृष्टि करनी होगी। जिस व्यक्ति में अनुभूतियों की भी कल्पना शक्ति नहीं, जो सहृदय नहीं वह कवि प्रतिभा से हीन है। यहां काव्य की अनुभूति या भावपक्ष है, जिसका स्थान बड़े महत्व का है। पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' तथा 'भाव' से भी यही तात्पर्य समझा जाता है। अपूर्ण रस को भाव कहते हैं। प्रत्येक रस भाव भी होता है परन्तु प्रत्येक भाव रस नहीं हो सकता। रस ही काव्य की आत्मा है। जो रस में सिद्ध है वही महाकवि है। इसी कारण रस सिद्ध महाकवियों ने इस अनुभूति पक्ष को बड़ा महत्व दिया है—तुलसी, सूर, प्रसाद आदि भाव-पक्ष में प्रवीण कवि थे।

विद्वानों ने भाव को अपरिवर्तन शील माना है। यदि भाव अपरिवर्तन शील हैं तो विश्वव्यापी काव्य में भी एक रूपता होनी चाहिये परंतु ऐसा है नहीं। सभी अपने बच्चे को प्यार करते हैं। देश-विशेष के कारण इसमें अंतर नहीं पड़ता। प्रिय-वियोग का दुख सभी को एक सा होता है। इस प्रकार भाव सर्वत्र एकरस रहता है। यदि भाव को सत्य, विश्वव्यापी और एक रस मानें तो विश्व भर के सम्पूर्ण काव्य में भी एक रूपता होनी चाहिए परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसका कारण मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता ही

है। जब हमारी ही प्रवृत्ति सदा एक रस नहीं रहती तो औरों की कैसे कही जा सकती है ? इससे कविता में जो विशेषताएँ देखी जाती हैं वे मानव-स्वभाव-सुलभ हैं। "समाज और व्यक्ति के संस्कार और विकास की सूचना देने वाले उसके भाव हैं जिनकी परिष्कृति समाज की एक स्वाभाविक क्रिया बन गई है। इन संस्कृत और परिष्कृत भावों को धारण करने वाले, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करने वाले, समाज अपने काव्य और कलाओं में अपनी विकसि रुचि का परिचय देते हैं। देश और साहित्य का इतिहास समाज के उस विकास का साक्षी रूप है।" (डा० श्यामसुन्दरदास)

संस्कृत के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य के भाव-पक्ष का पृथक निरूपण तो नहीं किया है परंतु काव्यकार के लिये यह निर्देश अवश्य दिया है कि वह पहले विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन कर तब साहित्य-सृजन करे। ऐसा करने से ही भावों का परिष्कृत और परिमार्जित रूप में चित्रण हो सकेगा। भावों के इस परिष्कार द्वारा ही साहित्य के माध्यम से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी। ऐसा काव्य ही 'रस' की पूर्ण उद्भावना करने में समर्थ हो सकेगा।

"भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही, परंतु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना भाषा की उचित रीतियों के अनुसार संघठित करना, उसे सजाना अलंकारों से सुशोभित करना, उसे गुणवती बनाना, दोषों को दूर करना सारांश यह है कि भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट कर के उन भावों को रसमय बना देना—यह साहित्य के कला पक्ष का काम है।" अभिव्यक्ति पक्ष को कलापक्ष कहना उसका संकीर्ण अर्थ है इसीलिए विद्वानों ने इसे बाह्य पक्ष या अभिव्यक्ति पक्ष कहा है। कुछ लोग इसे सौन्दर्य-पक्ष भी कहते हैं परंतु सौन्दर्य ही एक मात्र कला का पक्ष नहीं है। काव्य में भावों के उत्कर्ष के लिए, उसमें सरसता का संचार करने के लिए कला का सहारा लेना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि काव्य का कलापक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। प्रेषणीयता काव्य का साधन है, साध्य नहीं। कला का काम है कविकृति के भावों का उद्दीपन करना और उसमें सौंदर्य लाना। शब्द, छन्द, अलंकार, गुण आदि कला के बाह्य उपादन हैं। कला के विषय में इनका अनुशीलन आवश्यक है। शब्दों तथा वाक्यों का निरन्तर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही भावों का सुन्दर अभिव्यंजन होता है—उसमें अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आती है। अतः कला अभ्यासलब्ध वस्तु है।

कलापक्ष अभिव्यक्ति की कुशलता पर निर्भर है। हम ऊपर कह आये हैं कि इसके लिए शब्द शक्ति, अलंकार, गुण, रस, छंद और भाषा शैली आदि उपांगों की जानकारी आवश्यक है। हमारे यहाँ रस ही काव्य की आत्मा माना गया है। इसकी उत्पत्ति विभाव अनुभाव, संचारी भावों के संयोग से होती है। इनसे काव्य में नवीनता का समावेश होता है। काव्य के गुण तथा अन्य सुन्दर विशेषताएँ रस का उत्कर्ष करती हैं और उनका दोष या स्खलन अपकर्ष जिसका अर्थ यह है कि उनसे बचने की चेष्टा करने से रसानुभव उत्कृष्ट मात्रा में होता है। शब्द शक्तियाँ तीन मानी गई हैं—अभिधा, व्यंजना और लक्षणा। गूढ़ से गूढ़ भावों की व्यंजना इन शक्तियों के सहारे होती है। कोई ऐसा कथन नहीं जो इनसे परे हो। इनमें से जिसमें व्यंजना शक्ति का आधिक्य होता है वही काव्य श्रेष्ठ माना जाता है। व्यंजना से कुछ कम उत्तम लक्षणा का अर्थ है, परंतु अभिधा का कोश सम्मत अर्थ काव्य में उत्तम नहीं समझा जाता। ऐसा काव्य निकृष्टतम कोटि का माना जाता है। अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए आते हैं। ये काव्य के अस्थिर धर्म कहे गए हैं। वैसे इनके बिना भी कविता हो सकती है पर इनके साथ कविता और भी खिल उठती है। परंतु काव्य में रमणीयता का प्राधान्य मानने वाले अलंकार को ही काव्य की आत्मा समझते हैं। अग्निपुराण में अलंकार रहित काव्य को विधवा के समान माना गया है। केशव अलंकारों को अत्यधिक महत्व देते हुए कहते हैं—

"जदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त।
भूषन बिनु नहिं राजहीं, कविता, वनिता, मित्त॥"

परुष, कोमल और मधुर शब्द चयन के आधार पर काव्य के तीन गुण ओज, प्रसाद और माधुर्य का विधान किया गया है। ये काव्य के स्थिर धर्म हैं। छंद काव्य (पद्य) के लिए आवश्यक अङ्ग है। सदा से कविता किसी न किसी छंद में ही होती आई है। परंतु नीरस पद्य बद्ध रचना काव्य नहीं कही जा सकती। इसी कारण कुछ लोग छंद बन्धन के विरोधी हैं। निरालाजी का मुक्तक छंद इसी भावना की उपज है। भाषा शैली की पुष्टता और व्यवस्था के बिना काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार कला पक्ष के ये उपांग भी उसकी पूर्णता के लिए पूर्ण होने चाहिए।

अभिव्यक्ति का एक 'अङ्ग' वर्णन भी है। गीति काव्य एवं प्रबन्ध काव्य दोनों में वर्णन एक विशेष रमणीयता का प्रतिपादन करता है। इसमें प्रकृति

चित्रण भी आ जाता है। प्राचीन कवियों में वर्णन का विशेष मान था। जायसी, तुलसी, चन्द आदि का मन विभिन्न प्रकार के वर्णनों में खूब रमा है। रीतिकाल में विलासी घरेलू जीवन का अधिक वर्णन हुआ है। नवीन युग के रहस्यवादी तथा छायावादी कवि प्रकृति के उपासक हैं और प्रगतिवादी मजदूर-किसान जीवन के। इनके द्वारा प्रकृति तथा समाज के स्वाभाविक और मनोहर चित्र उतरते हैं। काव्य की सफलता भावों की सफल व्यंजना में है, इसलिए वर्णन उसका एक प्रमुख अङ्ग बन जाता है क्योंकि भावों का कथन केवल भुक्त-भोगी को ही आनन्द दे सकता है, परतु वर्णन से सहृदय प्रभावित होते हैं।

भाषा साहित्य में भावाभिव्यक्ति का एक मात्र माध्यम है। यदि यह माध्यम रूपी शरीर कुरूप, अशक्त एवं बेढङ्गा होगा तो उसमें निवास करने वाली भाव रूपी आत्मा का प्रकाशन कभी भी उचित ढङ्ग से नहीं हो सकेगा। कविता प्रधान रूप से शब्द की साधना है। भावों को भाषा का स्वरूप देकर चमत्कारपूर्ण और रसमय बना देना कलापक्ष का काम है। कवि की भाषा और जनसाधारण की भाषा में भिन्नता होती है। क्योंकि कवि को अनेक अमूर्त एवं वायवी तथ्यों तथा कल्पनाओं को साकार रूप देना पड़ता है जिसके लिए जनसाधारण की भाषा समर्थ नहीं होती। कवि कुछ ही शब्दों द्वारा मानव-मन की गहन तथा गम्भीर अनुभूतियों को इस रूप में अभिव्यक्त करता है कि हमारे सामने उनका मूर्त रूप उपस्थित हो जाता है। भाषा की यह मूर्तिमत्ता कविता के कलापक्ष की एक प्रधान विशेषता है। इसी कारण कवि की भाषा जन साधारण की भाषा से भिन्न असाधारण, चमत्कारपूर्ण, परिष्कृत, परिमार्जित तथा सम्पन्न होती है। "प्रकृति के प्रत्येक रूपमें वृक्षों के कोमल पल्लवों, पक्षियों के सुमधुर कलरवों तथा सागर के वक्ष पर विलास करती हुई लहरों में तथा एकान्त वन में सदा व्याप्त रहने वाला मधुर संगीत कवि की भाषा में स्वयं ही मुखरित हो उठता है। भाषा में संगीतमय प्रवाह का होना आवश्यक है।"

कवि या साहित्यकार अपनी भाषा में कभी भी अनावश्यक शब्दों की भरती नहीं करता। उसकी सदैव यह चेष्टा रहती है कि वह कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कह जाय। वह थोड़े से थोड़े शब्दों द्वारा जीवन के मार्मिक तथ्यों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। बिहारी के दोहे इसके प्रमाण हैं। उसके दोहे—"देखन में छोटे लगें और घाव करें गम्भीर" के सबसे पुष्ट और ज्वलन्त प्रमाण हैं। भाषा की शक्ति का सबसे सुन्दर निखार उसकी संक्षिप्तता में ही देखा जाता है। आचार्यों ने भाषा की पुष्टता एवं सौंदर्य को अक्षुण्ण रखने के लिए रसानुकूल गुण, वृत्ति और रीति का विधान

किया था। विभिन्न रसों में विभिन्न गुणों और वृत्तियों का उपयोग संगत माना माना जाता है। नीचे दी हुई तालिका से इनके पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं—

गुण	वृत्ति	रीति	उपयुक्त रस
माधुर्य	मधुरा	वैदर्भी	शृङ्गार, करुण, शान्त
ओज	परुषा	गौड़ी	वीर, रौद्र व वीभत्स
प्रसाद	प्रौढ़ा	पांचाली	सभी रस समान

भाषा की उपर्युक्त विवेचना के अतिरिक्त उसमें व्यवस्था, संवादिता—प्रसंगानुकूल उचित भाषा का प्रयोग—प्राकृतिकता, स्वाभाविकता, यथार्थता आदि गुणों का समावेश भी आवश्यक है। संक्षेप में काव्य के कलापक्ष के यही अङ्ग और विशेषताएं मानी गई हैं।

रवीन्द्र बाबू ने काव्य के कलापक्ष की व्याख्या निम्नलिखित अवतरण में बहुत सुन्दर और स्पष्ट रूप से की है। वे कहते हैं—"पुरुष के दफ्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं। वे जितने ही कम हों, उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं। स्त्रियों की वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भंगी समस्त ही सभ्य समाजों में प्रचलित हैं.........स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना और हृदय को खींचना पड़ता है। इसीलिए बिल्कुल सरल, सीधा-सादा और नपा-तुला होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है; किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना अच्छा है, किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास इङ्गित होने चाहिए। साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान की तरह निरलंकृत होने से उसका निर्वाह नहीं हो सकता।" इसीलिए "सुकुमार कला सत्य, शिव और सुन्दर की झाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनन्दमयी स्थिति का सुन्दर प्रतिमा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार है।

शरीर से आत्मा सभी प्रकार श्रेष्ठ है। परंतु जिस प्रकार बिना शरीर के आत्मा भटकती फिरती है और बिना आत्मा के शरीर निर्जीव हो जाता है उसी प्रकार काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का सम्बन्ध है। बिना भाव के कला का कोई मूल्य नहीं है और बिना कला के भावों की अभिव्यक्ति असम्भव है। जिस तरह शरीर और आत्मा एकात्म रहते हैं उसी प्रकार काव्य में भाव और कला एकात्म हैं। "काव्य कहने से भाव और उसे अभिव्यक्त करने की निपुणता

दोनों का समान रूप से बोध होता है। बल्कि काव्य का कलापक्ष ही लेखक का कृतित्व है। भाव तो चिरन्तन हैं और वे न तो मौलिक होते हैं और न किसी के अपने। उन्हें व्यक्त करने की निपुणता ही कवि की अपनी वस्तु है। इसी से काव्य के कलापक्ष के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"

(पं० रामदहिन मिश्र)

काव्य में इनमें से एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। दोनों को उचित स्थान देने से ही काव्य का सफल निर्माण सम्भव है। यदि काव्य में भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति सफल न हो सकी तो काव्य एक पहेली बन जायगा। इसके विपरीत यदि काव्य में अनुभूति है ही नहीं, केवल बाहरी टीम-टाम है तो एक कौतूहल अवश्य होगा, आनन्द नहीं मिल सकता। कविता कामिनी निश्चय ही रस रूपी आत्मा के कारण ही समाज में आने योग्य समझी जायगी, परंतु यदि उसको वस्त्र रूपी भाषा-अलङ्कार, छंद-गति या वर्णन शरीर के बिना या इनकी हीनता में देखा जाय तो उसी प्रकार आनन्द नहीं मिल सकता जिस प्रकार कि रोगिणी वृद्धा, वस्त्रहीना या आभरण रहित विधवा को देखकर कोई उल्लास नहीं प्राप्त होता। कवि की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो, भाव-विचार, कल्पना कैसी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो, जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आएगा, अनुक्रम सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता नहीं होगी, तब तक वह कृति काव्य नहीं कहला सकती।

भाषा के बिना भावों का अस्तित्व असम्भव है। प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे के अनुसन्धान में भाव और भाषा एक हो गए हैं इसलिए काव्य में दोनों के द्वन्द्वों की आवश्यकता नहीं रही है। किंतु भारत के कलाशास्त्री विश्वनाथ 'काव्य को रसात्मक वाक्य' मानकर काव्य के सम्पूर्ण उपकरणों की व्याख्या पहले ही कर चुके थे। 'रसात्मक काव्य' के एक ही सूत्र में सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र आ जाता है। एक ओर कविता के सब गुण और दूसरी ओर सब दोष उसी एक वाक्य से सम्बन्धित हैं।

साहित्य का मूल्यांकन करते समय साधारणतया काव्य के इन दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि यदि कलाकार का जीवन-दर्शन निर्बल है तो उसकी कला भी दुर्बल होगी। दूसरी ओर यदि साहित्य के कलापक्ष को हम अस्वीकृत करते हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि साहित्य के नाम पर चाहे जितनी भी रचनाएं की जायं, सब को साहित्य की

कोटि में अनिवार्य रूप से लेना पड़ेगा। परंतु प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में साहित्य की कोटि में वे ही रचनाएं आ सकती हैं जिनमें—"गहरी अनुभूति, उच्च भावना तथा समाज को आगे ले जाने की क्षमता रखने वाले विचार तत्व के साथ-साथ मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना भी हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो फिर साहित्य और पत्रकारिता में कोई अन्तर न रहेगा। पत्रकारिता का प्रभाव क्षण-भंगुर होता है, साहित्य का गहरा और व्यापक।"

३०—काव्य और अलंकार

संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलङ्कारों की बहुत महिमा गाई गई है। इसी महिमा के कारण कुछ आचार्यों ने काव्य-शास्त्र को अलङ्कार शास्त्र भी कहा है। काव्य मीमांसाकार राजशेखर अलङ्कार को वेद का सातवाँ अङ्ग कहता है। अलङ्कार वेदार्थ का उपकारक है क्योंकि इसके बिना वेदार्थ समझ में नहीं आ सकता। काव्य-साधना में भाव-साधना और भाषा-साधना दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा ज्ञान के अभाव में कोई भी कवि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रकारों ने कवि उसे माना है जो चमत्कारपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट कर सके। कवि भाषा का शिल्पी होता है। वह सबल एवं सुन्दर भाषा द्वारा ही चमत्कार और अनुरंजन उत्पन्न करने में सफल होता है। यही चमत्कार और अनुरंजन उत्पन्न करने की भावना अलङ्कारों की जननी है।

अलङ्कार उसे कहते हैं जो शोभा को 'अलं' अर्थात् पूर्ण करे। काव्य के सौंदर्य-साधक संस्कृत के पाँच प्रमुख वादों—रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—में से अलङ्कार सम्प्रदाय और वक्रक्ति सम्प्रदाय काव्य में अलङ्कारों का प्राधान्य मानते हैं। यद्यपि अलङ्कार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाह्य साधन होने के कारण अलङ्कारों पर ही सबसे पहले दृष्टि जाती है, इसलिए संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक काल में अलङ्कारों का विशेष महत्व रहा है। कुछ आचार्यों ने इन्हें काव्य का अनिवार्य अङ्ग माना है। इन लोगों का मत है कि जिस प्रकार आभूषण रमणी के सौंदर्य को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार अलङ्कार भाषा तथा अर्थ की सौंदर्य-वृद्धि के प्रमुख साधन हैं।

अलङ्कार सम्प्रदाय के भामह, दंडी, रुद्रट आदि आचार्यों ने इन्हें अत्यधिक महत्व दिया है। भामह का कथन है कि—"न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।" अर्थात् वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण के बिना शोभा नहीं देता। दंडी के कथनानुसार—"काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" अर्थात काव्य के शोभापरक सभी धर्म अलङ्कार-शब्द-वाच्य ही हैं। ध्वनिकार का मत है कि—"अङ्गश्रिता स्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्" अर्थात अङ्ग रूप से वर्तमान अलङ्कारों को कटक आदि मानवीय अलङ्कारों की

भाँति समझना चाहिए। ध्वनिकार का दूसरा मत भी द्रष्टव्य है—"रस-कस्त्र के आक्षिप्त का आकृष्ट होने से जिसकी रचना सम्भव हो और रस के सहित एक ही प्रयत्न द्वारा जो सिद्ध हो वही अलङ्कार ध्वनि में मान्य है।" इसी को प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक होम ने, "भावावेश की अवस्था में स्वतः अलङ्कार उद्भूत होते हैं", और ब्लेअर ने "कल्पना या भावावेश से भाषा अलंकृत होती है" कहा है।

आचार्य विश्वनाथ का मत है कि—"रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गीदादिवत्" (अर्थात कटक-कुण्डल की भाँति अलङ्कार रस के उत्कर्ष विधायक हैं। वामन ने गुणों को शोभा का कारण माना है और अलङ्कारों को शोभा की अतिशयता देने वाला या बढ़ाने वाला कहा है। परंतु हिंदी के प्रसिद्ध अलंकारवादी केशवदास तो अलङ्कारों को ही सब कुछ मानते हुए कहते हैं—

> "जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त।
> भूषण बिनु नहिं राजहीं, कविता, वनिता, मित्त॥"

आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर नीतिवादी आलोचक भी काव्य में अलङ्कारों का स्थान मानते हुए कहते हैं—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।" अलंकारो के विषय में पंत जी के विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, रस की पूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार-व्यवहार और रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।.........जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटों में फिट करने के लिये बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बंध कर सेनापति के 'दाता' और 'सूम' की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

उपर्युक्त विद्वानों में से कुछ अलंकारों को सर्वाधिक महत्व देकर उन्हें ही एक प्रकार से काव्य की आत्मा मानते हैं तथा कुछ उन्हें केवल सौंदर्य-वृद्धि का साधन मात्र मानते हैं। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि अलंकारों के अभाव में भी काव्य को काव्य माना जा सकता है। मम्मट का कहना है कि—"सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" नरोत्तमदास रचित 'सुदामा चरित' के अनेक पद एवं रसखान के अनेक सवैये इसके प्रमाण हैं। वहाँ भाव-विह्वलता ने सरलतम भाषा को अपूर्व मोहक शक्ति प्रदान करदी है। इससे यही निष्कर्ष

निकलता है कि अलङ्कारों के अभाव में भी काव्य में रस की उत्पत्ति हो सकती है। परंतु इतनी बात अवश्य है कि किसी भी भाव का तीव्रतर अनुभव कराने में अलङ्कारों का सहयोग अवश्य सहायक होता है। अतः उन्हें काव्य की आत्मा जैसा महत्वपूर्ण पद न प्रदान कर रस का सहायक माना जा सकता है। अलङ्कारों का प्रधान कार्य काव्य की सौंदर्य वृद्धि करना है, चाहे वह सौंदर्य भाव का हो अथवा भाषा का। भाव का सौंदर्य बढ़ाने वाले अलङ्कारों का तो रस से अनिवार्य सम्बन्ध है। शब्दालंकार भाषा का अलंकरण कर उसमें चमत्कार और अनुरंजन की शक्ति उत्पन्न करते हैं।

तुलसीदास ने 'कवितावली' में हाथ पर पर्वत धारण किए आकाशगामी हनुमान की तीव्र गति का चित्रण उत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से किया है। वहाँ यह अलंकार भावानुभूति में सहायक होकर आया है----

"लीन्यौ उखारि पहार बिसाल,
चल्यौ तेहि काल बिलम्ब न लायौ।
मारुतनन्दन मारुत को,
मन को, खगराज को बेग लजायौ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो,
पै हिऐ उपमा को समाउ न आयौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की,
नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायौ॥

परंतु कुछ कलाकार, जिनके पास भावों का अभाव रहता है अलङ्कार की सहायता से चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। उनके काव्य में इसी कारण बाह्य रूप का आधिक्य और अनुभूति की कमी पाई जाती है। अच्छे अच्छे रससिद्ध कवि भी कभी कभी अलङ्कारों के मोह में पड़कर शब्दों का खिलवाड़ करने लगते हैं। हमारे रीतिकालीन कवि इसके लिए बदनाम हैं।

जब गाँठ की शोभा होती है तभी अलंकार उसे बढ़ा सकते हैं। इसी कारण जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक वे शोभा के उत्पन्न करने वाले कहे जा सकते हैं, किंतु जब वे रूढ़ियों की परम्परा मात्र रह जाते हैं तभी वे भाररूप दिखाई देने लगते हैं। अलंकारों का महत्व अवश्य है, किंतु वे काव्य की आत्मा मूल पदार्थ—रस का स्थान नहीं ले सकते। इसीलिए अलंकारों का संगत और यथानुकूल प्रयोग करने वाले बिहारी ने व्यर्थ के भारस्वरूप अलंकारों का तिरस्कार करते हुए उन्हें 'दर्पण का मोर्चा' कहा है। अलंकार

कृत्रिम या आरोपित हो सकते हैं और होते भी हैं, किंतु महत्व कवि हृदय उत्साह से प्रेरित सहज अलङ्कार का ही है। वे रस के उत्कर्ष के हेतु होते हैं। कभी कभी अलङ्कार प्रियता के आवेश में ऐसे ऐसे अलङ्कार गढ़ लिए जाते हैं जो कठिनता से अलङ्कार कहे जाने योग्य हैं, जैसे—सम्भव, सम्भावना, भाविक, तद्गुण आदि।

संस्कृत साहित्य में अलङ्कारों की भरमार रही है। भरत मुनि ने सर्व प्रथम चार प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है जो रुय्यक तक आते आते सैकड़ों की संख्या तक पहुँच गए। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द तक इनकी संख्या में और भी वृद्धि हुई। शोभाकार कृत 'अलंकार-रत्नाकर' में तो इनकी संख्या असंख्य हो गई। इनमें से कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जो चमत्कार शून्य हैं। कुछ का अन्यान्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ गौण मान कर छोड़ दिए गए हैं। कुछ आलङ्कारिकों ने थोड़े से अलङ्कारों के नामों में भी अन्तर कर डाला है। दंडी उपमेयोपमा को अन्यान्योपमा, सन्देह को संशयोपमा, मीलित और तद्गुण को एक ही मीलनोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप को उत्कर्षोपमा कहते हैं। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। भामह ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि अलङ्कारों में ही रस को समेट लिया है। दण्डी ने भी रसवत् अलङ्कारों में ही आठों रसों को पचा डाला है।

संस्कृत-साहित्य की इस लम्बी अलङ्कार परम्परा का मुख्य उद्देश्य काव्योत्कर्ष की साधना रहा है। हिंदी में आदि काल, भक्तिकाल तक अलङ्कारों का स्थान गौण रहा है यद्यपि काव्योत्कर्ष के लिए उनका स्वाभाविक प्रयोग सभी ने किया है। परन्तु रीतिकाल में तो अलङ्कारों का एकछत्र साम्राज्य दिखाई देता है। आधुनिक काल में आकर भारतेन्दु युग तक अलङ्कारों के प्रति मोह अवश्य रहा था परन्तु द्विवेदी युग में इन्हें तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगा। छायावादी युग में पुनः इनका उत्कर्ष दिखाई दिया लेकिन प्रगतिवादी युग में फिर इनका बहिष्कार हुआ।

अंग्रेजी साहित्य में अलङ्कारों का स्थान गौण रहा है। वाल्टर पेटर उनकी उपयोगिता को केवल इन शब्दों में ही स्वीकार करता है कि "Penmissable-ornament being for the most part structural or necessary" अर्थात् ग्रहणयोग्य अलङ्कार प्रधानतः काव्यांगभूत हैं अथवा आवश्यक हैं। अलङ्कार मानवी विचारों के अधीन हैं। इससे उनके साथ साहचर्य नियम (Laws of association) लागू होता है। ये तीन हैं–१—सामीप्य (कालगत और स्थलगत (Laws of association by contiguity),

२—साधर्म्य (Similarity) और ३—विरोध (Contrast) कार्यकारण मात्र एक चौथा नियम भी है। पाश्चात्य अलंकार हमारे अलङ्कारों के समान न तो गुलझे हुए हैं और न इतने उन्नत ही हैं। अङ्गरेजी के Metonymy और Synecdoche तथा इनके भेद लक्षणा शक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं Innuendo का समावेश ध्वनि-व्यंजना में हो जाता है Apostrophe (अनुपस्थित को उपस्थित समझा कर सम्बोधन करना) को संस्कृत वाले नहीं मानते। मानवीकरण आदि अलङ्कार हिन्दी में अधिक हैं। उपमा, रूपक, सार, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, विषम जैसे कुछ ही अलङ्कार अंग्रेजी में हैं। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में अलङ्कारों को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है।

काव्य में भाव, विचार और कल्पना उसकी अन्तरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं। वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलङ्कार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं किन्तु भाव, विचार और कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। हम भावों विचारों तथा कल्पनाओं को 'काव्य-राज' के प्रमुख अधिकारी कह सकते हैं तथा अलङ्कारों को उनके पारिपार्श्विक। काव्य में रस का स्थान प्रथम, गुण का मध्यम तथा अलङ्कार का निम्न माना गया है। हम पहले कह आए हैं कि अलङ्कार रहित रचना भी काव्य कहला सकती है। अलङ्कार केवल वे ही उपयोगी होते हैं जो अर्थ को अधिक रोचक और सुन्दर ढङ्ग से प्रकट करने में सहायता पहुँचाते हैं। केवल शाब्दिक कलाबाजी वाले अलङ्कार काव्य के लिए उपयोगी नहीं कहे जा सकते हैं। सारांश यह है कि कविता में अलंकारों का उसी सीमा तक उपयोग होना चाहिए जिससे उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। साधन सदैव साधन ही रहेगा, साध्य नहीं बन सकता। अलङ्कारों की भरमार से कविता का नैसर्गिक सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से आए हुए अलङ्कार ही काव्य के लिए वाँछनीय होते हैं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के विभिन्न अङ्गों की भाँति अलङ्कारों का भी विस्तृत विवेचन किया है। इस विस्तार के मूल में कुछ आचार्यों द्वारा अलङ्कारों को काव्य की आत्मा मानना ही प्रधान कारण था। प्रमुख रूप से अलङ्कारों के दो भेद माने गए हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। शब्दालङ्कार शब्द में चमत्कार उत्पन्न करते हैं परन्तु भावानुभूति को तीव्र करने में असमर्थ रहते हैं। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालङ्कार हैं। शाब्दिक चमत्कार के लिए निम्नलिखित दोहे में प्रयुक्त यमकालंकार द्रष्टव्य है—

"तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरवसी ह्वै उरवसी समान॥"

अर्थालङ्कार का सम्बन्ध भावपक्ष से होता है। इसमें कल्पना की प्रधानता रहती है। इनके उपयोग में कवि का मुख्य उद्देश्य पाठक की बुद्धि और मन दोनों को ही प्रभावित करना होता है। ऐसे अलङ्कार काव्य का कलात्मक सौंदर्य तो निखारते ही हैं साथ ही भावोत्कर्ष में भी प्रमुख सहायक होते हैं। बुद्धि को प्रभावित करने वाली तीन विभिन्न शक्तियों के आधार पर इन अलङ्कारों को साम्यमूलक, विरोध मूलक तथा सान्निध्यमूलक इन तीन रूपों में विभक्त किया गया है। साम्य तीन प्रकार का माना जाता है—१—शब्द की समानता, एक ही प्रकार के शब्द एवं वाक्यों के आधार पर आयोजित सादृश्य, २-रूप या आकार की समानता, ३-साधर्म्य अर्थात् गुण या क्रिया की समानता। इनके अन्तरङ्ग में प्रभाव-साम्य भी निहित रहता है और प्रभाव-साम्य पर आधारित कविता ही अधिक प्रभावोत्पादक मानी जाती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा सन्देह इत्यादि साम्यमूलक अलङ्कारों में माने जाते हैं।

परस्पर-विरोधी पदार्थों को देखने से हमारे मन पर उनके पारस्परिक विरोध की छाप अङ्कित हो जाती है। इसी से विरोध मूलक अलङ्कारों की उत्पत्ति मानी गई है। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति तथा सम विचित्र आदि विरोध मूलक अलङ्कार हैं। जब हम किन्हीं दो या अधिक पदार्थों को एक साथ या एक के बाद अनिवार्य रूप से आने वाला देखते हैं तब एक वस्तु को देखते ही हम दूसरी वस्तु का सम्बन्ध स्वयं स्थापित कर लेते हैं। इसे ही सान्निध्य कहते हैं। संख्या, पर्याय, परिसंख्या आदि सान्निध्यमूलक अलङ्कार हैं।

उपर्युक्त शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के अलङ्कार और होते हैं जिनमें शब्द तथा अर्थ दोनों में चमत्कार उत्पन्न होता है। ऐसे अलङ्कार उभयालंकार कहलाते हैं।

काव्य में अलङ्कारों की सहायता से थोड़े से शब्दों में कवि इतनी अधिक बातें कह जाता है कि विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को 'गागर में सागर भरना' कहा है। हिंदी में बिहारी अलङ्कारों के उक्त प्रयोग के लिए प्रसिद्ध हैं। वे थोड़े से शब्दों में ही कितनी अधिक अर्थ की व्यंजना करते हैं:—

"खौरि-पनिच भृकुटी धनुष बधिक समरु तजि कानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर, सुरक-भाल भरि तानि॥"

× × ×

जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत प्रिय अद्वैतत कानन सेवत नैन।।"

उपर्युक्त दोहों में रूपक अलङ्कार द्वारा बिहारी ने भाव और भाषा दोनों में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार कामायनीकार 'प्रसाद' उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक आदि अलङ्कारों के प्रयोग द्वारा भावों को तीव्र करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनका श्रद्धा का रूप वर्णन द्रष्टव्य है—

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।।
× × × ×
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अशान्त।"—कामायनी

"प्रसाद' की उपरोक्त पंक्तियों में अलंकार के सुन्दर प्रयोग ने उनके सौंदर्य में चार चाँद लगा दिये हैं। साथ ही वे भावों के उत्कर्ष में भी सहायक हो रहे हैं। इस प्रकार इनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की सफल एवं सन्तुलित व्यंजना इन्हें अमर काव्य की कोटि में रखने में समर्थ हैं। इसके विपरीत यमक अलङ्कार के भार-पीड़ित, प्रसिद्ध अलङ्कारवादी कवि सेनापति की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें अलङ्कारों के प्रयोग ने सौंदर्य के स्थान पर कुरूपता की ही सृष्टि अधिक की है —

"नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति,
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन करि, पाप—
करम न करि मूढ़ सीस भयौ सेत है।।
आवै बनि जतन ज्यों रहै बनि जतनन
पुन्न के बनिज तन मन क्यों न देत है।

आवत विराम वैस बीती अभिराम तातें
करि बिसराम भजि रामै किन लेत है ॥

इसके अतिरिक्त सेनापति का प्रसिद्ध श्लेष वर्णन शाब्दिक कलाबाजी के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं रखता। वास्तव में अलंकार ऐसे होने चाहिए जो वर्ण्य विषय के सौंदर्य को बढ़ाने में सहायक हों। उनका यही कार्य और मूल्य है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भावों के उत्तेजक हों, प्रस्तुत जिसके भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के संबन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है।"

आचार्यों ने अलंकारों की अनेक कोटियाँ और संख्या निश्चित की है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रससिद्ध महाकवि सदैव उन्हीं के बतलाए हुए मार्ग के अनुसार ही अलंकारों का प्रयोग करते हों। उनके काव्य में अनजाने ही ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता रहता है जिनका अभी तक नामकरण भी नहीं हो सका है। आचार्य शुक्ल ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कह कर अलंकारों के विस्तृत और मौलिक प्रयोग की ओर संकेत किया है—"जो प्रसिद्ध कवि होते हैं उनकी रचनाओं में ऐसे भाव और अलंकार मिल जाते हैं जिनका आज तक नामकरण भी नहीं हुआ है। सूर, तुलसी आदि ऐसे ही समर्थ कवि हैं जिनकी वक्रतायुक्त तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ आज तक विद्वानों द्वारा वर्गीकृत नहीं हो पाई हैं।"

हम ऊपर कह आए हैं कि काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है। वे केवल उसके सौन्दर्य को बढ़ा सकते हैं उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर पाते। ऐसी कविताओं की भी कमी नहीं है जो अलङ्कारों के अभाव में भी शाश्वत साहित्य की कोटि में रखने योग्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बिना अलंकारों के भी भावपूर्ण कविता लिखी जा सकती है। नीचे के दो पद इस कथन को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होंगे—

"सखि हौं तो गई जमुना जल कौं सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराइ कै कारी घटा उनई इतनेई मैं गागरि सीस धरी॥
रपट्यौ पग घाट चढ्यौ न गयौ कवि 'मण्डन' ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥"

—मण्डन

\+ \+ \+ \+

"माँ", फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी ।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी ॥
लटुरी खुली अलक रज-धूसर बाँहें आकर लिपट गईं ।
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी ॥"

—प्रसाद

३१—काव्य के दोष

जिस किसी वस्तु के कारण कविता के मुख्य अर्थ के समझने में बाधा पहुं-चती है अथवा उसकी सुन्दरता में कुछ कमी आ जाती है उसे दोष कहा जाता है। काव्य-निर्माण में कवि की अपनी अक्षमता ही दोषों की जननी होती है। कवि अपनी अनुभूति को उसके उसी रूप में पाठकों को भी अनुभव कराना चाहता है। इसके लिए वह भाषा का माध्यम अपनाता है। इसके लिए उसे शब्दों और वाक्यों का समुचित और सुसंगत प्रयोग करना पड़ता है किन्तु इस प्रयोग में जब शब्दों या वाक्यों में कोई कमी रह जाती है तो पाठकों या श्रोताओं को उस अनुभूति का तद्वत अनुभव करने में बाधा पहुँचती है। यही बाधा वास्तव में दोष है। आचार्यों ने काव्य का निर्दोष होना बहुत ही आव-श्यक माना है क्योंकि दोष उसके कलेवर को कलुषित कर देता है। अलंकार गुण, रीति, ध्वनि आदि के विषय में आचार्यों में चाहे कितना ही मतभेद रहा हो किन्तु काव्य में दोषों के निराकरण के सम्बन्ध में सभी एक मत रहे हैं। आचार्य दण्डी तो तिलभर काव्य-दोष को भी असह्य मानते हैं क्योंकि जिस प्रकार कोढ़ का एक धब्बा भी शरीर के समस्त सौन्दर्य को विकृत कर देता है उसी प्रकार एक भी काव्य-दोष काव्य के साहित्यिक सौन्दर्य को चौपट कर देने के लिए पर्याप्त है।

काव्य दोषों के सम्बन्ध में अग्निपुराण में कहा गया है कि-"उद्वेगजनको दोषः" अर्थात् काव्यास्वाद में जो उद्वेग उत्पन्न करता है वह दोष है। काव्य-दर्पणकार का कहना है कि—"दोषास्तस्यापकर्षकः" अर्थात् शब्दार्थ द्वारा जो रस के अपकर्षक—हीनकारक हों, वे ही दोष हैं। 'काव्य-प्रदीप' की भूमिका में श्रीगोविन्द ने दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि—'यदि काव्य में किसी भी प्रकार के दोष पाए जाते हों तो अलंकार आदि के रहते हुए भी उसमें अपेक्षित साहित्यिक सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इसके विपरीत काव्य में यदि अलंकारादि न भी हों तो भी दोषों के अभाव के कारण ही थोड़ा बहुत काव्य सौन्दर्य अवश्य आ जायगा।' भरत द्वारा वर्णित दोषों की व्याख्या करते हुए यही मत अभिनव गुप्त ने प्रकट किया है। भामह तो कुकवित्व को साक्षात् काव्य मृत्यु मानते हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये आचार्य दोषों के अभाव को ही एक प्रकार से काव्य का गुण मानते है।

काव्य-प्रकाशकार मम्मट का कथन है कि—"तद्दोषौ शब्दार्थौसगुणावनलंकृति पुनः क्वापि" अर्थात् वे ही शब्द और अर्थ काव्य कहलाते है जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त हों फिर चाहे उसमें अलंकार कभी कभी हो या न हों। साथ ही वे उसे दोष मानते है जिससे काव्य के मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। काव्य में कवि का अभिप्रेत अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है। कवि जहाँ वाच्यार्थ द्वारा उत्कर्ष दिखाना चाहता है वहाँ वाच्यार्थ ही मुख्य अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त कवि जहा रस, भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार चाहता है वहाँ रस, भाव आदि ही मुख्यार्थ माने जाते है। परम्परा सम्बन्ध से शब्द भी मुख्यार्थ माना गया है। वामन गुणों के विरोध में आने वालों को दोष कहते है—"गुणविपर्ययात्मानो दोषाः"। काव्य प्रदीपकार का कहना है कि—अविलम्ब मुख्यार्थ की प्रतीति में—चमत्कार के तत्काल ज्ञान होने में बाधा पहुचाने वाले दोष हैं जो त्याज्य माने जाते हैं।

दोषों से सर्वथा बचना कवि के लिये सदैव सम्भव नहीं होता। कभी कभी एक साधारण सा दोष गुण में परिवर्तित भी हो जाता है। तो भी कवि को यथासम्भव दोषों से बचने का भरकस प्रयत्न करना चाहिए। लांजीनस ने भी काव्य दोषों को हेय कह कर उनसे बचने की सलाह दी है। जेम्स स्कॉट ने लांजीनस के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—"Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius" "He (Longinus) warns us against bombast puerility or affectation, and the conceits of frigidity" आनल्ड का कहना है कि अपनी अपेक्षा अपनी कला का समादर अधिक आवश्यक है—"Let us at least have so much respect for our art as to prefer it to ourselves." यह दोषत्याग को ही लक्ष्य में रखकर कहा गया है।

किन्तु कवि के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई उस समय आती है जब वह शास्त्रोक्त दोषों के विषय में विद्वानों में मतभेद देखता है। काव्य-समीक्षकों में दोषों के स्वरूप और सख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है। फिर ऐसा भी होता है कि एक विद्वान किसी बात को दोष मानता है तथा दूसरा उसे गुण मानता है। ऐसी स्थिति में दोष दोष नहीं रह जाता। औचित्य की अपेक्षा में ही गुण-दोष की विवेचना की जा सकती है। पुनरुक्ति साधारणतः दोष

समझा जाता है किन्तु अनुकम्पादि विवक्षित होने पर यह दोष नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में काव्यादर्शकार का मत द्रष्टव्य है—

"अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥"

काव्य दोष तीन प्रकार के माने जाते हैं—१—शब्द दोष, २—अर्थ दोष और ३—रस दोष। काव्यापकर्ष भी तीन प्रकार का होता है—१--काव्यास्वादरोधक २—काव्योत्कर्ष विनाशक और ३—काव्यास्वाद विलम्बक। इसके अतिरिक्त पदगत, पदांशगत और वाक्यगत जो दोष होते हैं वे शब्द दोष में ही गिने जाते हैं। उपर्युक्त तीनों दोष काव्यापकर्ष के कारण बनते हैं जो इस प्रकार हैं—

१—वे कारण जो रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

२—वे कारण जो काव्य के उत्कर्ष को नष्ट करते हैं।

३—वे कारण जो काव्य के आस्वादन में विलम्ब उपस्थित करते हैं।

मम्मट ने ७० प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है जिनमें से ३७ शब्द के, २३ अर्थ के तथा शेष १० रस के दोष हैं। परन्तु उपर्युक्त ७० दोषों में से कुछ दोष ऐसे हैं जो केवल संस्कृत साहित्य में ही पाए जाते हैं—हिन्दी में नहीं। इसलिए यहाँ केवल उन्हीं प्रमुख दोषों का विवेचन किया जायगा जिनका सम्बन्ध हिन्दी से है। अब हम क्रमशः शब्द दोष, अर्थ दोष एवं रस दोष के प्रमुख दोषों का विवेचन उपस्थित करेंगे जो निम्न प्रकार है—

शब्द दोष

वाक्यार्थ के बोध होने में जो पृथक-पृथक दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द दोष कहलाते हैं। शब्दगत दोषों में भी शब्द और वाक्य के पृथक पृथक दोष माने गए हैं। शब्द दोष तीन प्रकार के माने जाते हैं—१-पदगत, २-पदांशगत और ३-वाक्यगत।

१—च्युत संस्कृति या च्युत संस्कार दोष—काव्य में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इस दोष के अन्तर्गत होते हैं। कभी-कभी असावधानी के कारण या तुक मिलाने के लिये बड़े-बड़े कवि भी व्याकरण के नियमों की अवहेलना कर बैठते हैं। यह दोष पाँच प्रकार का माना गया है—१-लिंगदोष, २—वचनदोष, ३—कारकदोष, ४—सन्धिदोष और ५— प्रत्यय दोष। जब पाठक काव्य में इन दोषों को देखता है तो उसका ध्यान काव्य से हटकर इन दोषों की तरफ चला जाता है जिससे उसे ग्लानि और खीझ होती है जो काव्यानन्द में बाधक

बन जाती है। नीचे की पंक्तियों में क्रमशः उपर्युक्त पाँचों दोष रेखांकित शब्दों द्वारा स्पष्ट हो जायगे—

१—'पीछे मघवा मोहि शाप दई' हिंदी में पंतजी के काव्य में यह दोष प्रायः पाया जाता है।

२—'कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे घुटता।'

३—'मेरे में कुछ नए गर्व कण आकर उभरे।

४—क्यों प्राणोद्वेलित हैं चंचल।

५—प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता।

उपर्युक्त पंक्तियों में रेखांकित शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'दयो', 'प्राण थे', 'मुझ में' होना चाहिए तथा सधिदोष के उदाहरण में 'प्राण' और 'उद्वेलित' शब्दों का अलग-अलग रहना ही आवश्यक है। संस्कृत-हिंदी शब्दों का संधि, समास और प्रत्यय द्वारा मिलाना दोष माना जाता है। प्रत्यय दोष के उदाहरण में 'पाशवता' के स्थान पर 'पशुता' या 'पाशव' ही शुद्ध प्रयोग हैं। यहाँ एक ही अर्थ में दो भाववाचक प्रत्यय हैं।

२—श्रुतिकटुत्वदोष—जहाँ कवि सुन्दर और मधुर शब्दों का प्रयोग न कर कानों को खटकने वाले शब्दों का प्रयोग करता है वहाँ श्रुतिकटु दोष माना जाता है। यथा—

"कसती कटि थीं कनिष्ठ माँ असि देतीं मझली घनिष्ठ माँ।
कह क्यों न किया हमें प्रजा पहनाती वह ज्येष्ठ माँ ध्वजा॥"

उपर्युक्त रेखांकित शब्द कानों को खटकते हैं जिससे मन में उद्वेग उत्पन्न होता है। यहाँ परुष वर्णों का प्रयोग पद्यगत-रसास्वादन का विघातक है। यही शब्द यदि रौद्र रस के प्रसंग में प्रयुक्त किए जाते तो उन्हें दोष नहीं माना जाता। इसलिए रसानुकूल शब्दों का प्रयोग काव्य सौंदर्य को द्विगुणित कर देता है।

३—अक्रमत्व दोष—जिस स्थानमें जो शब्द या पद रखा जाना चाहिए उसे उस स्थान में न रखकर अन्यत्र रख देने से अक्रमत्व दोष माना जाता है। जैसे—

"विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।"

यहाँ 'लीला' से 'मानवी' का सम्बन्ध है क्योंकि 'लीला' 'मानवी' का विशेषण है। परंतु यहाँ ये दोनों शब्द एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़े हैं। पागल आदि के प्रलाप में क्रमहीन पदों का प्रयोग गुण मान लिया जाता है।

४—दुष्क्रमत्व दोष—जहाँ लोक या शास्त्र विरुद्ध क्रम हो वहाँ पद दोष माना जाता है। जैसे—

"मारुतनन्दन मारुत को, मन को।
खगराज को वेग लजायो॥"

यहाँ जब पहले मन का वेग कह चुके तो पुनः खगराज का वेग कहना अनुचित है क्योंकि मन के वेग से खगराज के वेग की कोई तुलना नहीं हो सकती।

५—अप्रतीतत्व दोष—काव्य में जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो किसी शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध हों। जैसे—

"कैसे ऐसे जीव महण या ज्ञानहि करिहै।
अष्टमार्ग द्वादश निदान कैसे चित धरिहैं।"

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'मार्ग' और 'निदान' बौद्धागम के पारिभाषिक अर्थों के बोधक हैं। लोक-व्यवहार में आने वाले 'मार्ग' और 'निदान' शब्दों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बौद्धागम से अनभिज्ञ व्यक्ति को अर्थोपस्थित में बाधक होगा। अतः यहाँ अप्रतीतत्व दोष है।

६—न्यूनपदत्व दोष—जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता हो उनसे यदि कम शब्दों का प्रयोग किया गया हो वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है। जैसे—

"शत-शत संकल्प-विकल्पों के अल्पों में कलरव बनातीं सी।"

यहाँ अनुप्रास के मोह में पड़कर कवि ने 'अल्पों' का प्रयोग किया है। इसके साथ स्वर्णों आदि शब्दों की कमी है। अल्प में भी विभक्ति लगा दी है।

"पानी पावक पवन प्रभु,
ज्यों असाधु त्यों साधु।"

यहाँ कवि का अभिप्राय यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु, साधु और असाधु दोनों के साथ एक सा व्यवहार करते हैं परंतु वाक्य में पर्याप्त शब्दों की कमी से ऐसा अर्थ सरलता से नहीं निकल पाता।

७—अधिकपदत्व दोष—जहाँ ऐसे अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया गया हो जिन्हें निकाल देने से भी उसके अर्थ में कोई बाधा न पड़ती हो या जिनके रहने से अर्थ में बाधा ही पड़ती हो वहाँ यह दोष होता है। जैसे—

"लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायुगति मंद"

यहाँ 'पुहुप' शब्द अनावश्यक है क्योंकि पराग पुष्प में ही होता है, अन्यत्र

नहीं। इसलिए केवल पराग शब्द से ही पुष्प पराग का बोध हो जाता है। इसलिए यहाँ पुहुप शब्द व्यर्थ या अधिक है।

८—अश्लीलत्व दोष—जहाँ लज्जा-जनक, घृणास्पद और अमङ्गल-वाचक पदों का प्रयोग हो वहाँ पर यह दोष माना जाता है। लज्जाजनक उदाहरण वहाँ होते हैं जहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्ताङ्गों का नाम निर्देष या विशेष वर्णन हो। जैसे—

क—"धिक् मैथुन-आहार यंत्र"   ख—"रहते चूते में मज़दूर"

यहाँ मैथुन-यंत्र और चूते शब्द लज्जाजनक हैं यद्यपि यहाँ चूते का अर्थ चूते हुए छप्पर के नीचे से है। घृणास्पद उदाहरणों में मल-मूत्र, वमन, थूक, अधोवायु आदि का वर्णन होता है। जैसे—

"मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप॥"

यहाँ थूक कर चाटना घृणा-व्यंजक है। परन्तु वीभत्स रस के वर्णन में यह दोष नहीं माना जायगा। अमंगल सूचक में मृत्यु तथा अमंगल वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे—

"दुख देख्यौ ज्यों कालि त्यौं आजहु देखौ"

यहाँ कहना तो यह था कि 'जैसे आपने (भोजन के लिए) कल कष्ट किया था, वैसे ही आज भी कीजिए।' किन्तु इसके लिए यहाँ 'दुख देख्यौ' शब्दों का प्रयोग अमंगल सूचक है। "मधुरता में मरी सी अनजान" इसमें 'मरी सी' शब्द अमंगल सूचक है। परन्तु करुण रस में ऐसे शब्दों का प्रयोग दोष नहीं माना जाता।

९—ग्राम्यत्व दोष—जहाँ साहित्य में गँवारों की बोलचाल की भाषा में आने वाले शब्दों का प्रयोग किया गया हो। परंतु कभी-कभी निरंतर प्रयुक्त होते रहने पर ग्रामीण शब्द भी साहित्य में ग्रहण कर लिए जाते हैं—

"टूटि खाट घर टपकत 'टटिओ' टूटि।
पिय कै बाह 'उससवा' सुख कै लूटि॥
लै कै सुघर 'खुरपिया' पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥"   —रहीम

इसमें टटिओ, उससवा, खुरपिया आदि ग्राम्य प्रयोग हैं। ग्राम्यत्व दोष वहाँ गुण हो जाता है जहाँ कोई गँवई-गाँव का निवासी अपनी भणिति-भंगि से अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है।

१०—क्लिष्टत्व दोष—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया हो जिसका

अर्थ कठिनता से स्पष्ट हो। विभिन्न कूट पदों, कबीर की उलटवाँसियों आदि में इस प्रकार के प्रयोगों की भरमार है। जैसे—

"वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि,
मोई बनत अब खात।" —सूर

इसमें वेद = ४ + नक्षत्र = २७+ग्रह = ९ = ४० का आधा २० बीस अर्थात् विष। अर्थ यह निकला कि गोपियाँ कृष्ण के वियोग में अब विष खाती हैं अर्थात् मरणासन्न हो रही हैं। एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

"तरु-रिपु-रिपु-धर' देख के विरहिन तिय अकुलात।"

यहाँ वृक्ष का शत्रु अग्नि है और अग्नि का शत्रु जल। उस जल को धारण करने वाले अर्थात् मेघ को देखकर विरहिणी नारियाँ व्याकुल हो रही हैं उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के अर्थ कष्ट-कल्पना से ज्ञात होते हैं। शब्दार्थ-बोध में विलम्ब होना क्लिष्टत्व दोष का विषय है।

अर्थ-दोष

१—पुनरुक्ति दोष—जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को दुह-राया जाय। यह अर्थगत दोष है क्योंकि एक से दो शब्दों को देखकर ही हम यह दोष नहीं बता सकते जब तक कि उन दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही होने का विश्वास न हो जाय। जैसे—

"धन्य है कलंक हीन जीना एक क्षण का।
युग-युग जीना सकलंक धिक्कार है॥"

इसमें दोनों चरणों का भाव एक ही है जो पुनरुक्ति है। तथा—

"मुक्त द्वार रहते थे गृह गृह, नहीं अर्गला का था काम।"

इसमें भी दोनों चरणों का अर्थ एक ही है।

२—काल दोष—जहाँ ऐतिहासिक काल का बिना ध्यान रखे कोई वर्णन कर दिया जाय। जैसे—

"पाँडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
—रामचन्द्रिका

इसमें राम के मुख से पाँडवों का उल्लेख करवाना काल विरुद्ध है क्योंकि राम पाँडवों से पहले हुये थे।

३—व्याहत दोष—जिसका महत्व दिखाया जाय, उसी का तिरस्कार दिखाना व्याहत दोष है। इसी प्रकार तिरस्कृत का सम्मान दिखाना भी दोष है। जैसे—

"दानी दुनियाँ में बड़े देत न धन जन हेत।"

यहाँ पहले दानियों का बड़प्पन दिखाकर फिर उनके द्वारा धन न देने की बात कह कर तिरस्कार किया गया है।

४--प्रसिद्धि विरुद्ध दोष—लोक में जो वस्तु जिस बात के लिए प्रसिद्ध हो उसके विपरीत उसका वर्णन करना।

"हाँ जब कुसुम कठोर कठिन हैं तब मुक्ता तो है पाषाण।
जो वर्तुलता वश अपनी ही खनि का नाश कराती आप॥"

इससे यह प्रकट होता है कि मोतियों की भी खान होती है जो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध है क्योंकि लोक में समुद्र से ही मोती उत्पन्न होने की प्रसिद्धि है जो वास्तविकता भी है।

५--विद्या विरुद्धदोष--शास्त्र विरुद्ध बातों के वर्णन में विद्या विरुद्ध दोष होता है। जैसे

"वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।"

यहाँ चैतन्य को अबोध, अचेतन और बेसुध बताया गया है जो वेदान्त के विरुद्ध है।

रस दोष

१--स्वशब्द वाच्यत्व दोष--रस, स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव जहाँ व्यंग हों वहीं काव्य के लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव होता है। जहाँ इनका शब्दों द्वारा उल्लेख कर, रस, भाव आदि को उद्बुद्ध करने की चेष्टा की जाती है वहाँ स्वशब्द वाच्यत्व दोष होता है। जैसे—

"आः कितना सकरुण मुख था।
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था।"

यहाँ करुण रस का शब्द द्वारा उल्लेख कर दिया गया है। तथा—

"जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हर्ष न जात कहि।"

यहाँ 'हर्ष' संचारी का शब्द द्वारा कथन है।

२--विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना--जहाँ विभाव या अनुभाव का ठीक ठीक निश्चय न हो अर्थात् किस रस का यह विभाव है या अनुभाव, वहाँ यह दोष माना जाता है। जैसे—

"यह अवसर निज कामना किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह छन भंगुर देहु॥"

यहाँ इस बात का पता लगना कठिन है कि इसका आलम्बन विभाव कोई कामुक है या विरागी। वर्णन से यह स्पष्ट नहीं होता। तथा—

"बैठी गुरुजन बीच मुनि बालम बंशी चारु।
सकल छांड़ि बन जाहु यह तिय हिय करत विचारु॥"

यहाँ 'सकल छांड़ि बन जाहु' जो अनुभाव है वह शृङ्गार रस का है अथवा शान्त रस का, इसकी प्रतीति कठिनता से होती है।

३--रस की पुनः पुनः दीप्ति—काव्य में किसी भी रस का उत्पादन उतना ही होना चाहिए जिससे उसका परिपाक हो जाय। पुनः पुनः उसको उद्दीप्त करना दोष है।

४--अकाँडच्छेदन--किसी रस की परिपक्वावस्था में अचानक उसके विरुद्ध रस की अवतारणा कर देने से अर्थात् असमय में रस को भंग कर देने से यह दोष होता है।

५--प्रकृति-विपर्यय--काव्य-नाटक के नायक दिव्य (देवता) अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (देवावतार) के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनकी प्रकृति के विपरीत जहाँ वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है। जैसे मनुष्य द्वारा देवता के कार्य कराना आदि।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त देश, काल, वर्ण, आश्रम, व्यवस्था, आचरण, स्थिति आदि लोक शास्त्र के विरुद्ध वर्णन में भी रस-दोष माना जाता है।

विद्वानों ने दोषों का एक चौथा प्रकार भी माना है जिसे वर्णन दोष कहा जाता है। यह भी कई प्रकार का होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१--पूर्वापर विरोध--

"होती ही रहती क्षण क्षण में शस्त्रों की भीषण झनकार।
नभ मण्डल में फूटा करते बाणों के उल्का अङ्गार॥"

इस वर्णन के छः पद बाद ही यह वर्णन मिलता है—

"शस्त्रों का था हुआ विसर्जन न्याय दया को कर आधार।
भू पर नहीं किन्तु मन में भी बढ़ने लगा राज्य विस्तार॥"

पहले जहाँ क्षण-क्षण में शस्त्रों की झनकार थी वहीं न्याय और दया पर निर्भर होकर शस्त्रों का विसर्जन था। फिर भी भू पर (ही) नहीं, मन में भी राज्य-विस्तार बढ़ने लगा। मन में तो मनमाना राज्य बढ़ सकता था पर भू पर राज्य विस्तार शस्त्र-विसर्जन कर कैसे होने लगा? यह आश्चर्य है।

२--अर्थ विरोध--"लगे कामना के पत्तीदल करने मधुमय कलरव।
लगी वासना की कलिकाएँ बिखराने मधुवैभव॥"

कलिका पुष्प की अविकसित दशा होती है। फिर वह मधुवैभव कैसे बिखराने लगी। कलिका विकसित होने पर जब पुष्प बन जाती है तभी सुगंध और

मधुवैभव बिखराती हैं पहले नहीं। यहाँ अर्थ-विरोध है।

३--प्रकृति विरोध--

"बिन्दुसार के परम पुण्य से उपजा श्यामल विटप अशोक।
स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे छाया चिर शीतल आलोक॥"

पल्लवों के नीचे आलोक नहीं छाता अन्धकार छाता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है पल्लवों के हिलने डुलने से छाया और आलोक की आँख मिचौनी हो सकती है पर अन्धकार को आलोक बना देना उचित नहीं है। उपर्युक्त वर्णन दोषों के अतिरिक्त स्वभाव-विरोध, भाव विरोध आदि अनेक प्रकार के वर्णन दोष होते हैं।

पं० रामदहिन मिश्र ने एक प्रकार का दोष और माना है जिसे वे 'अभिधा के साथ बलात्कार' कहते हैं। शब्दों के यथेच्छ अर्थ करने में कवि स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता का परिचय देते हैं। एक उदाहरण काफी होगा। 'अभ्यर्थना' शब्द का सीधा सा अर्थ है—याचना करना, कुछ माँगना। बंगला में यह समादर देने, स्वागत-सत्कार करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी उसी के अनुकरण पर यह स्वागत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे—"उनकी अभ्यर्थना के लिये स्टेशन चलिए" यह अशुद्ध प्रयोग है।

३२–काव्य और शब्द शक्ति

किसी भी उक्ति में शब्द और अर्थ दोनों का होना अनिवार्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। यह सम्बन्ध वाच्य-वाचक के नाम से अभिहित होता है। उसी सम्बन्ध के विचार से प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है। बिना सम्बन्ध के शब्द में किसी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। संकेत-ग्रहण द्वारा शब्द और अर्थ का संबंध-ज्ञान अनेक कारणों से होता है जिनमें व्याकरण, कोश, व्यवहार आदि मुख्य हैं।

साहित्य के लिए जैसे सुन्दर शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही उनसे व्यक्त होने वाले सुन्दर अर्थ की भी। वक्ता, प्रसङ्ग, श्रोता और प्रयोग के अनुसार शब्दों के अर्थ निश्चित किए जाते हैं। काव्य का सर्वस्व अर्थ ही है। शब्द तो उसके वाहन मात्र हैं। अर्थ पर ही शब्द शक्तियाँ निर्भर हैं। रस अर्थ गत ही है। अलकारों में भी अर्थालंकारों की ही प्रधानता एवं संख्या सबसे अधिक है। रीति गुण आदि भी अर्थ से असम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार काव्य में अर्थ ही सब कुछ है। निरर्थक सुललित पदावली भी उन्मत्त-प्रलाप की कोटि में रखी जायगी। काव्यगत इसी अर्थ को ध्वनित करने वाली शब्द शक्तियाँ कहलाती हैं। उदाहरण के लिए आप किसी से कहें कि—"तुम तो निरे बैल हो।" इसका अर्थ यह नहीं कि वह व्यक्ति बैल बन गया। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति बैल के समान मूर्ख है। इस प्रकार उक्त वाक्य में 'बैल' का साधारणतया प्रचलित अर्थ न लेकर एक दूसरा ही अर्थ (बैल के समान मूर्ख) लिया गया। अस्तु, प्रसङ्गानुसार बैल के भिन्न भिन्न अर्थ हुए।

निरर्थक शब्दों का साहित्य में कोई मूल्य नहीं होता। केवल सार्थक शब्दों में ही यह शक्ति होती है कि वे किसी व्यक्ति, पदार्थ, वस्तु, क्रिया आदि का ज्ञान कराएँ। ऐसे शब्दों का ठीक अर्थ वाक्य में उनके स्थान से ही निश्चित होता है। इसलिए शब्द शक्ति का विवेचन करते समय वाक्य के स्वतन्त्र रूप वाले अर्थ का विवेचन न कर उनके वाक्य में स्थान से ही अर्थ लिया जाता

है। 'उल्लू' शब्द से एक पक्षी-विशेष का बोध होता है परन्तु यदि किसी व्यक्ति की मन्दबुद्धि से झल्लाकर कोई कहे कि—"ऐसे उल्लुओं को यदि बृहस्पति भी आ जाय तो समझा नहीं सकते," तो इस वाक्य में 'उल्लू' का अर्थ पक्षी विशेष न होकर 'महामूर्ख' होगा। इससे यह तात्पर्य निकला कि "जिन शक्तियों के द्वारा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का मुख्य या अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है," उन्हें शब्द शक्तियाँ कहा जाता है।

भारतीय आचार्यों ने शब्द के तीन प्रकार के अर्थ माने हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। प्रसिद्ध अँग्रेजी लेखिका लेडी वेल्बी भी यही मानती हैं—"सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में एकमात्र यही गुरुतर प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका विशेष धर्म क्या है? पहला है वाच्यार्थ, जिस अर्थ में यह प्रयुक्त होता है। दूसरा है लक्ष्यार्थ। इससे प्रयोग कर्त्ता का अभिप्राय समझा जाता है। और, सर्वापेक्षा आवश्यक और अत्यधिक व्यापक व्यंग्यार्थ वा ध्वनि है जो चरम अभिप्रेत है। उच्चरित वाक्य का विचार रिचर्ड्स ने चार दृष्टिकोणों से किया है। १—सेन्स (Sense) अर्थ, २—फीलिंग (Feeling) भाव, ३—टोन (Tone) सुर वा ढंग और ४—इन्टेंशन (Intention) अभिप्राय। सेन्स और फीलिंग -अर्थ और भाव, दोनों वाच्यार्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्टेन्शन लक्ष्यार्थ है। व्यंग्यार्थ को अङ्गरेजी में Spirit, Suggested sense या Significance कहते हैं।

साहित्य-दर्पणकार ने तीन प्रकार के अर्थ माने हैं—"अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा : मत।" इन्हीं के आधार पर शब्द शक्तियाँ तीन मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीनों शब्दशक्तियों का पृथक पृथक संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है —

अभिधा—शब्द की जिस शक्ति के कारण किसी शब्द का साधारण तथा प्रचलित या मुख्य सांकेतिक अर्थ समझा जाता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के केवल सांकेतिक अर्थ का बोध कराती है। परन्तु एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—कोष इसका प्रमाण है। किसी शब्द का कहाँ क्या अर्थ लगता है—इसका निर्णय संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, प्रसंग-चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशकाल, बल और स्वरभेद से किया जाता है। जैसे—"मरु में जीवन दूर है" कहने से मरुभूमि से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ जीवन का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ जीवन का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से ही लगाया गया है। इसी प्रकार "परम रम्य आराम यह

जो रामहिं सुख देत," में 'आराम' संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ प्रसंग से "बाग' होगा। परन्तु "आजकल हमें काम की अधिकता से आराम नहीं मिल पाता," में 'आराम' शब्द फारसी के आधार पर प्रसंग से सुख या चैन समझा जायगा। इस प्रकार अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है। और इस अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाचक। व्यवहार में एक शब्द से कोई निश्चित अर्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना को सङ्केत कहते हैं। अतः जिस शब्द के द्वारा बिना किसी रुकावट के तत्काल किसी विशेष अर्थ का सङ्केत के द्वारा बोध होता है वह शब्द उस बोध्य अर्थ का वाचक कहा जाता है। साहित्य में अभिधा प्रधान काव्य को विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

लक्षणा—शब्द की जिस शक्ति के कारण प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़ कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिए कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी सङ्गति बैठे, उसे लक्षणा कहते हैं। जैसे—

"फली सकल मन-कामना, लूट्यौ अगणित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन।।"

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित शब्दों के अर्थ विचारणीय हैं। साधारणतया वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जाते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जाता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं। परन्तु यहाँ मनोकामना का फलना (पूरी होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि रूप का आचमन करना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (प्रसन्न होना) कहा गया है। इसी प्रकार "तुम जैसे गधे कुछ भी नहीं समझ सकते।" इस वाक्य में गधे का साँकेतिक या मुख्य अर्थ पशु विशेष है। पर वाक्य में इसकी सङ्गति नहीं बैठती इसलिए यहाँ गधा शब्द का मुख्यार्थ लेकर इसका दूसरा अर्थ 'मूर्ख' लेना होगा। तभी वाक्य में इसकी सङ्गति बैठेगी। यह 'मूर्ख' नाम का किया हुआ दूसरा अर्थ मुख्यार्थ गधा नामक पशु से सम्बन्धित है क्योंकि गधे से सादृश्य होने के कारण ही उसे ऐसा कहा गया है। यहाँ ये अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा ही निकाले गए हैं। हिंदी के मुहावरे लक्षणा शक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। लक्षणा शक्ति से लिए जाने वाले अर्थों के लिए तीन बातों का स्मरण रखना आवश्यक है—(१) वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांश के नियत या मुख्य अर्थ से वाक्य का अर्थ समझने में बाधा पड़े। (२) इस कारण उस वाक्य या वाक्यांश का कुछ ऐसा अर्थ लिया जाय जो मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो। (३) इस अर्थ के ग्रहण करने का या

तो विशेष प्रयोजन या इस अर्थ को अङ्गीकार करने के विषय में कोई रूढ़ि या परम्परागत धारणा हो। लक्षणा से लिए जाने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ और उस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को लाक्षणिक या लक्षक कहते हैं।

भिन्न भिन्न दृष्टियों से वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांश का लक्ष्यार्थ लेने से लक्षणा के तीन मुख्य भेद माने जाते हैं—(१) रूढ़ा और प्रयोजनवती, (२) लक्षण और उपादान, (३) गौणी तथा शुद्धा।

रूढ़ा और प्रयोजनवती—जहाँ केवल रूढ़ि के कारण अर्थात् लोगों के प्रयोग बाहुल्य या लोक प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ को छोड़ कर दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। जैसे "पंजाब वीर है।" यहां 'पंजाब' शब्द लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ 'पंजाब प्रान्त' है। किंतु इस वाक्य में 'पंजाब' शब्द का प्रयोग 'पंजाब के निवासियों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा कहने की रूढ़ि या परम्परा चल पड़ी है। इसी प्रकार 'सिरोही' यद्यपि एक स्थान का नाम है तथापि लक्षणा से इसका अर्थ कविता में 'तलवार' से लिया जाता है। ऐसा कहने का कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। इसी प्रकार 'इन दोनों घरों में झगड़ा है', कहने से 'घरों' का अर्थ 'घरों में रहने वाले व्यक्तियों' से होगा न कि घरों की इमारतों या अन्य वस्तुओं से। ऐसा कहने की भी परम्परा या रूढ़ि चली आई है।

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। जैसे-"गंगा पर गाँव है" वाक्य में यदि अभिधा से अर्थ लिया जाय तो यह असम्भव होगा क्योंकि गंगा की धारा पर गाँव नहीं बस सकता। तब इसका प्रयोजन समझ कर यह अर्थ लिया जायगा कि "गंगा के किनारे पर गाँव है।" ऐसा लक्ष्यार्थ लेने से ही काम चलेगा। इस लक्ष्यार्थ के लेने का विशेष प्रयोजन है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जायगी। इसी प्रकार आदमी के लिए उल्लू, गधा या बैल शब्द के प्रयोग से यह प्रयोजन होता है कि उसकी मूर्खता की अधिकता की व्यंजना की जाय। इसमें भी प्रयोजनवती लक्षणा होगी।

हिंदी के सब मुहावरे लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं। बंधे हुये मुहावरे होने के कारण उनमें रूढ़ा लक्षणा मानी जायगी। परन्तु उनका प्रयोग सदैव विशेष अर्थ की व्यंजना के लिए ही होता है इससे उनमें प्रयोजनवती लक्षणा भी कही जा सकती है। जैसे "सिर पर क्यों खड़े हो?" इसमें 'सिर पर' का लक्ष्यार्थ है निकट। इसका प्रयोजन 'निकटता का आधिक्य' व्यंजित करना है। और इस अर्थ में ही इसके प्रयुक्त होने की रूढ़ि भी हो गई है।

लक्षण और उपादान--जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाय वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। इसे 'जहत स्वार्थी' भी कहते है। क्योंकि जहत का अर्थ है 'छोड़ दिया है, जिसने (स्व) अर्थ' (स्वार्थ अथवा वाच्यार्थ) छोड़ दिया हो, वह स्वार्थी है। जैसे 'गंगा पर गाँव है' में गंगा की धार के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ को छोड़ कर 'गंगा के तट पर' का अर्थ लिया गया है। यहाँ 'तट' रूप वस्तु (अर्थात् लक्ष्यार्थ) में से 'धारा रूप' वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) का बिल्कुल लगाव नहीं है। इससे यहां लक्षण लक्षणा या जहत स्वार्थी लक्षणा होगी। इसी प्रकार निम्नांकित दोहे में भी लक्षण लक्षणा है—

"कच समेट कर भुज उलटि लए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूड़ौ बांधिन हारि॥"—बिहारी

यहां 'मन बांधै' पद में 'बाधै' शब्द का मुख्यार्थ बांधना है। पर मन कोई स्थूल वस्तु नही जिसे बांधा जा सके। इसलिये इसके मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़ कर इसका लक्ष्यार्थ 'मन को आसक्त करना' लिया जायगा और यह लक्षण लक्षणा हो जायगी।

जहां अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आरोप किया जाय उसे उपादन लक्षणा कहते हैं। उपादान का अर्थ है—लेना। इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अपना अर्थ न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींच लाता है। अतः इसे अजहत स्वार्थी लक्षणा भी कहते हैं। 'अजहत' का अर्थ है 'नहीं छोड़ा है' और स्वार्थी का अर्थ है 'अपना अर्थ'। जिसने अपना अर्थ न छोड़ा हो अर्थात् मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न किया हो, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा हो। जैसे—'लाल पगड़ी के आते ही सारी भीड़ छंट गई,' 'लाल पगड़ी' जो जड़ है चल नहीं सकती। इसलिए इसके मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्ष्यार्थ लिया जायगा। सिपाही के साथ अङ्ग रूप से लाल पगड़ी लगी रहती है इसलिए उपादान या अजहत स्वार्थी लक्षणा होगी।

इसी प्रकार "ये कुन्त (भाले) आ रहे हैं," में मुख्यार्थ भालों का आना होगा पर भाले जड़ होने के कारण आने की क्रिया करने में असमर्थ हैं। इसलिए मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्ष्यार्थ—'भाले धारण किए हुए सैनिक' ही लिया जायगा। इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ 'भाले' जुड़ा ही रहेगा। यहां भी इसीलिए उपादान लक्षणा है।

गौणी और शुद्धा—जहां सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहां गौणी लक्षणा होती है। जैसे 'पुरुष सिंह है'' इसमें पुरुष को सिंह कहने

से मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है क्योंकि पुरुष सिंह नहीं हो सकता। अतएव सिंह के पराक्रम, शौर्य आदि समान गुण (धर्म) के द्वारा लक्ष्यार्थ अर्थात् 'सिंह के समान शक्तिवाला पुरुष' का बोध होता है। इसमें गौणी लक्षणा है। गौणी लक्षणा के दो भेद हैं—(१) सारोपा और (२) साध्यवसाधना। सारोपा में उपमेय और उपमान दोनों रहते है। जैसे 'पुरुष सिंह है' में उपमेय (पुरुष) और उपमान (सिंह) दोनों मौजूद हैं। साध्यवसाना में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान ही रहता है। जैसे—'सिंह मैदान में आया' में उपमेय पुरुष का उल्लेख नहीं है; केवल उपमान (सिंह) कहा गया है। सारोपा रूपक अलङ्कार में होती है और साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति में।

जहाँ बिना सादृश्य सम्बन्ध के अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे 'गंगा पर गाँव' में सादृश्य सम्बन्ध से तट का ग्रहण नहीं है। प्रत्युत मुख्यार्थ प्रवाह के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। इसलिए वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार 'लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छट गई' में लाल पगड़ी से प्राप्त लक्ष्यार्थ अर्थात सिपाही सादृश्य सम्बन्ध से नहीं किंतु साहचर्य सम्बन्ध से (सिपाही) और लाल पगड़ी सहचर हैं, उपलब्ध हुआ है। इससे यहाँ भी शुद्धा लक्षणा है।

व्यंजना—शब्द की जिस शक्ति में शब्द या शब्दसमूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो अर्थात जिससे साधारण को छोड़ कर किसी विशेष अर्थ का बोध हो उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। जैसे यदि कोई किसी दूसरे व्यक्ति से कहे कि—'तुम्हारे मुँह से शठता झलकती है' और सुनने वाला उत्तर दे कि 'मुझे आज ही ज्ञात हुआ कि मेरा मुँह दर्पण है,' तो इसका ठीक अर्थ वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से प्रकट नहीं होगा। इसलिए यहाँ व्यंजना शक्ति से काम लेना पड़ेगा। उत्तर देने वाले व्यक्ति का अभिप्राय यह है कि— 'जैसे दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही वक्ता (अर्थात पहला व्यक्ति) श्रोता के मुख पर अपने मुख के प्रतिबिम्ब की झलक देख रहा है अर्थात वह स्वयं शठ है। इस व्यंग्यार्थ के लेने से ही उक्त वाक्य की संगति बैठती है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि कोई नियमित रूप से प्रातःकाल पाँच बजे जगने वाले व्यक्ति को आठ बजे तक सोता हुआ देख कर कोई कहे कि "जान पड़ता है अभी सवेरा नहीं हुआ है" तो इसका अभिप्राय व्यंग से यह बताना होगा कि "अब सोना ठीक नहीं है। बहुत देर हो गई। उठना चाहिए।" जिस शक्ति से यह व्यंग्यार्थ विदित हुआ उसे व्यंजना कहते हैं। काव्य में उस शक्ति का प्रयोजन सबसे अधिक पड़ता है। इस शक्ति अर्थात

व्यंजना से उपलब्ध अर्थ को व्यंग्यार्थ और उसे प्रकट करने वाले शब्दको व्यंजक कहते है। व्यंजना के दो प्रधान भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी।

शाब्दी—जहाँ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर ही व्यग्यार्थ निर्भर रहता है, अर्थात उस शब्द के स्थान पर उस का पर्यायवाची शब्द रख देने से व्यंजना का लोप हो जाता है, वहाँ शाब्दी व्यजना मानी जाती है। जैसे -

"चिरजीवो जोरी जुरे, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥" —बिहारी

इस दोहे में यदि 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द 'गाय' और 'बैल' रख दिये जायँ तो व्यंजना का लोप हो जायगा। वास्तव में यहाँ राधा और कृष्ण के महत्व का वर्णन कर उनके पारस्परिक संबंध की उपयुक्तता प्रकट की गई है, परन्तु कवि उपर्युक्त दो शब्दों के प्रयोग से जो परिहासात्मक अर्थ ध्वनित करना चाहता है वह दूसरे शब्दों के प्रयोग से लुप्त हो जायगा।

आर्थी—आर्थी व्यंजना किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित न होकर पर्याय वाची शब्दों के रखने पर भी बनी रहती है। जैसे किसी धूर्त व्यक्ति को साधु का वेश बनाकर ठगते देखकर कोई उन्हें चेतावनी देने के लिए कहे कि—"हाँ, हम भली प्रकार जानते हैं कि आप बड़े महात्मा हैं।" तो इस कथन से उसका आशय उस कपटी व्यक्ति को दुरात्मा कहने से होगा। इसके अतिरिक्त व्यंजना के दो भेद और होते है--लक्षणामूलक और अभिधा मूलक। लक्षणामूलक में लक्ष्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है। जैसे—'यह मनुष्य नहीं बैल है।' इसमें बैल शब्द के लक्ष्यार्थ मूर्ख को स्पष्ट करके फिर इसके व्यंग्यार्थ मूर्खता की अधिकता पर ध्यान जाता है। अभिधामूलक में वाच्यार्थ से एकाएक व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होती है। जैसे—जब हनुमान अशोकवाटिका स्थित विरहिणी सीता की दशा का वर्णन करते हुए राम से कहते हैं—

"तुम्हारे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुणानिधि, जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न॥"

यहाँ 'जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न' में इसके वाच्यार्थ कि आपके वियोग में जो सीता की दशा हुई है वह मैं थोड़ा सा जानता हूँ पर उसका वर्णन नहीं कर सकता' से इसके वाच्यार्थ अर्थात 'सीता के विरह का आधिक्य' पर हमारा ध्यान पहुँच जाता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त व्यंजना के तीन भेद और माने गए हैं—

(१) वस्तु-व्यंजना, (२) अलंकार व्यंजना और (३) भाव या रस व्यंजना।

(१) वस्तु व्यंजना—जिसमें कोई तथ्य या बात व्यंजित की जाती है वस्तु व्यंजना कहलाती है। जैसे—'पत्ता नहीं हिलता' इसमें गर्मी तथा सन्नाटे के आधिक्य की व्यंजना है। ऊपर के सभी उदाहरण वस्तु व्यंजना के ही हैं।

(२) अलंकार व्यंजना—जिसमें व्यजित तथ्य का रूप किसी अलंकार के रूप से मिलता जुलता है, अलंकार व्यजना कहलाती है। जैसे—'दक्षिण दिशा में जाने से सूर्य का प्रताप भी मन्द पड़ जाता है। किन्तु उसी दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से नहीं सहा गया।' इस कथन में 'रघु सूर्य से भी अधिक प्रतापी है' व्यंजना के साथ ही व्यतिरेक अलंकार भी है।

(३) भाव या रस व्यंजना—जिस व्यंजना में हृदय के किसी मनोविकार या भाव की व्यंजना हो उसे रस या भाव व्यंजना कहते हैं। जैसे—

> "जब जब पनघट जाउं सखी री, वा जमुना के तीर।
> भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैननि के नीर।।"

इसमें स्मरण संचारी भाव व्यंग है। अतः भाव व्यंजना हुई। जिस भाव की व्यंजना में रस की सिद्धि के उपादान—स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव होंगे उसमें रस-व्यंजना होगी। जैसे—

> "माखे लखन कुटिल भई भौंहैं। रद पट फरकत नयन रिसोहैं।।
> रघुबंसिन मँह जहँ कोऊ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई।।
> कही जनक अस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुलपति जानी।।"

यहाँ जनक आलम्बन विभाव, उनकी वाणी उद्दीपन, कुटिल भौंहैं, रदपट फरकत, नयन रिसोहैं—अनुभाव, माखे अमर्ष संचारी और क्रोध स्थायी भाव है। इससे इन सबके मेल से इसमें रौद्ररस का पूर्ण संचार हुआ है। इस कारण इसमें रस व्यंजना होगी। यदि इसमें अमर्ष संचारी—'माखे' शब्द निकाल दिया जाय तो रस के एक अवयव—अर्थात संचारी—के खण्डित हो जाने से रस की पूर्णता नहीं हो सकेगी। उस दशा में यह भाव-व्यंजना मानी जायगी।

३३--काव्य का सत्य

मानव-प्रणीत काव्य में आदिकाल से लेकर आज तक निरन्तर सत्य की खोज जारी रही है। प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज-सुधारक सत्य की परख में एवं साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास एवं प्रसार में संलग्न रहे हैं। इन सबका उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण रहा है। समाज में सत्य का यथार्थ उपयोग तभी हो सकता है जब उसके प्रति सामाजिकों में एक पवित्र भावना और नैतिकता के प्रसार की प्रवृत्ति हो। 'चोरी करना पाप है' यह सत्य है परन्तु यदि समाज में इसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता तो उसकी क्या उपादेयता रही। शुद्ध बुद्धि और विवेक के अभाव में स्वार्थी व्यक्ति सत्य का रूप विकृत कर उसे अपनी स्वार्थ भावना के अनुकूल बना लेते हैं। कृष्ण ने महाभारत में साम, दाम, दंड भेद का उपयोग कर आततायियों का नाश कराया था। इसके लिए कहीं-कहीं उन्हें अन्याय और छल का भी सहारा लेकर अपने उद्देश्य की सिद्धि करनी पड़ी थी आज के रिश्वती अधिकारी और कालाबाजार करने वाले पूँजीपति अपनी स्वार्थ सिद्धि के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए कृष्ण के उन उदाहरणों की दुहाई देते पाए जाते हैं। सत्य का यही विकृत रूप है। इसमें दोष सत्य का नहीं वरन् उसके उपयोग की प्रणाली का है। वैज्ञानिक का सत्य भी हमारा कल्याण तभी कर सकता है जब उस सत्यान्वेषण के प्रति मंगलमयी, पावन मानवता के कल्याण की भावना हो, अन्यथा अणुबमों का प्रयोग हम देख ही चुके हैं।

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का भौतिक जगत को किन्तु हमारे भाव एवं कल्पना जगत को आंदोलित, विकसित एवं परिष्कृत करने वाला सत्य कवि का ही होता है। दार्शनिक के सत्य को प्रत्येक नहीं समझ सकता। वैज्ञानिक का सत्य भौतिक एवं पदार्थगत होने के कारण बाह्य है। एक में गहराई है परन्तु सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किन्तु आनन्द, सौन्दर्य और रमणीयता नहीं है। इसीलिए काव्यगत सत्य हमारी मानसिक और भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव डालता है।

काव्य का आधार कल्पना है। फिर कल्पना पर आधारित साहित्य में सत्य का क्या स्थान हो सकता है ? अनेक विद्वानों ने ऐसी शंका उठाई है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि की कल्पना हमारे लौकिक वा वैज्ञानिक सत्य के माप-दण्ड से दूर रहते हुए भी चिरन्तन सत्य पर आधारित रहती है। काव्य का सत्य असाधारण होता है। वैज्ञानिक और जीवन का लौकिक सत्य, जो प्रत्यक्ष होता है, काव्य में मान्य नहीं होता। अतः काव्य में इस सत्य की खोज करना व्यर्थ है। साहित्यिक प्रत्यक्ष सत्य से ऊपर उठकर जीवन, जगत, प्रकृति तथा मन इत्यादि में प्रविष्ट कर उनके आंतरिक और चिरन्तन सत्य का अन्वेषण करता है। वह जगत को जैसा देखता है उसी रूप में स्वीकार नहीं करता। अपनी रुचि के द्वारा, जिसका आधार उच्च संस्कार एवं कल्याण भावना होती है, वह जगत को परिवर्तित रूप में देखने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्ष जगत का यथारूप चित्रण पर काव्य जगत की मक्खीमार अनुकृति मात्र रह जायगा। इसलिए वह कल्पना द्वारा यथार्थ जगत के अन्तर्तम में प्रविष्ट होकर स्वाभाविक सत्य की खोज करता है। अपने कल्पना द्वारा रचित आदर्शों का निर्माण कर वह भविष्य का निर्माण करता है। इस निर्माण का आधार भौतिक सत्य न होकर शाश्वत सत्य होता है।

अपने इस प्रयत्न में कवि न केवल सत्य का आधार ही लेता है, वरन् सत्य की खोज, परख एवं ग्रहण भी करता है। वह खोजे हुए प्रत्यक्ष सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उसमें रंग एवं रूप भर कर उसे सरस एवं सजीव बना देता है। यथार्थ के नीरस ठूँठ को वह कल्पनागत आदर्श से हरा-भरा एवं लहलहा बना देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एवं इतिहासवेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एवं आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। ऐसा करने में वह सत्य को उसके मूल-चारुत्व में ग्रहण कर उसकी अभिव्यक्ति अपने हृदयगत सहज सौन्दर्य द्वारा करता है। कवि की वास्तविक महत्ता इसी में छिपी हुई है।

कवि का सत्य साधारण लौकिक प्रत्यक्ष सत्यसे भिन्न होता है, यह हम ऊपर कह आये हैं। वह सामान्य सत्य से नहीं मिलता इसीलिए उसे असाधारण माना गया है। जिस प्रकार एक चित्रकार कुछ रेखाएँ खींचकर एवं उनमें रंग भरकर अपने चित्र में सजीव आकृतियों की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार कवि शब्दों के द्वारा रूपों और भावों की व्यंजना करता है। उसका प्रत्येक शब्द हमारे उन भावों को जागरित करता है जो वासना रूप में हमारे मन में निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं

जिससे हम काव्य का एक असाधारण अर्थ ग्रहण करते हैं। "काव्य के वाक्य पद आदि असाधारण रूप में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्य-शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते हैं।"

(डा० श्यामसुन्दर दास)

कवि अपने काव्य में वस्तु-जगत और कल्पना जगत की ऐसी ऐसी अनोखी वस्तुओं का चित्रण करता है जो साधारणतया स्वप्न में भी सत्य नहीं हो सकतीं। उसकी उपमाओं से केवल एक गुण विशेष या आकार-विशेष का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और शेष सब से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। डाक्टर श्यामसुन्दर दास ऐसी बातों को 'काव्य जगत के रहस्यमय प्रसङ्ग' कहते हैं जिनके सत्य होने में कोई सन्देह नहीं है। एक नाटक के अभिनय में, हमसे सर्वथा अपरिचित एक अभिनेता अपने अभिनय द्वारा हमें प्रभावित क्यों करता है? बात वही है जो एक चित्र के देखने पर होती है। नाटक भी एक चित्र ही है। जिस प्रकार चित्र की प्रत्येक रेखा से एक अनोखी व्यंजना होती है उसी प्रकार अभिनेता के अभिनय से भी। काव्य भी यही करता है और यही काव्य का सत्य है जो प्रत्यक्ष न होकर केवल व्यंजित होता है। कहे हुए वाक्य का ध्वनित अर्थ ही काव्य का सत्य है। उसमें शाब्दिक सत्यता भले ही न हो परन्तु ध्वनित सत्यता तो होती है।

काव्य के सत्य से साधारणतः यही अभिप्राय लिया जाता है कि उसमें उन्हीं बातों का वर्णन नहीं होना चाहिये और न होता ही है, जो वास्तविक या प्रत्यक्ष सत्य की कसौटी पर खरी उतरें। इसके विपरीत उसमें उन बातों का भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती हैं। यही काव्य का संभाव्य सत्य है। अगर हम काव्य में केवल प्रत्यक्ष सत्य का ही अस्तित्व स्वीकार करें तो उसमें अत्युक्ति अलंकार का कोई महत्व या स्थान नहीं रह जाता। क्योंकि अत्युक्ति अलंकार सर्वथा असत्य होता है। वास्तविकता यह है कि कवि अपने पाठकों के हृदय पर उसी भाव को जमाना चाहता है जिसकी उसे स्वयं अनुभूति हो चुकी है। इसलिए उस प्रभाव को बढ़ा चढ़ा कर कहने से ही उसका प्रभाव पड़ सकता है। हनुमान जी के लिये 'कनकभूधराकार शरीरा' कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उनका शरीर सोने के पहाड़ के समान विशाल है वरन् ऐसा इसलिए कहा गया कि हनुमान जी को देखकर हमारे हृदय पर वही प्रभाव पड़े जो एक विशाल स्वर्ण-पर्वत को देखकर पड़ सकता है। अतः इसमें अत्युक्ति होते हुए भी यह असत्य नहीं है। इस प्रकार

काव्य का सत्य असाधारण, व्यंजित और सम्भाव्य होता है।

कवि का सत्य सीमाओं में बंधा हुआ नहीं होता और न घटनाओं पर ही आश्रित रहता है। वह एक मात्र मानव-भावनाओं पर ही आश्रित रहता है। हमारी मनोभावनाओं के निष्कपट और सूक्ष्म तथा स्वाभाविक वर्णन में ही कवि के सत्य की परीक्षा होती है। मानव-मन से सम्बन्धित सत्य प्रकृत सत्य की भांति क्षणिक और स्थायी नहीं होता, वह चिरन्तन और शाश्वत होता है। राम के वन-गमन के उपरान्त दशरथ का कारुणिक विलाप सम्भव है ऐतिहासिक सत्य न हो परन्तु क्या उसे असत्य माना जायगा? पिता-पुत्र का स्नेह-सम्बन्ध नैसर्गिक होता है। इसलिये इस स्वाभाविक सत्य के चित्रण के लिये कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उक्त परिस्थितियों में वह पूर्णतः स्वाभाविक सत्य है भले ही ऐतिहासिक दृष्टि से वह असत्य हो। काव्य में ऐसे सत्यों का वास्तविक सत्य से भी अधिक मूल्य है। अतः कवि मानव-हृदय के जीवित और शाश्वत सत्य का चितेरा होता है—अनुकृति और वैज्ञानिक सत्य का नहीं।

कवि इतिहास की परम्परा में परिवर्तन नहीं कर सकता। काव्य के क्षेत्र में स्वतन्त्र होता हुआ भी वह अकबर को हुँमायूँ का पिता नहीं बता सकता। परन्तु उसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि वह उसी सत्य का चित्रण करे जो वास्तव में घटित हुआ है। उसके लिये यह आवश्यक अवश्य है कि उसका सत्य असम्भव न हो फिर चाहे उसका ऐतिहासिक अस्तित्व हो अथवा न हो। वह प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य या कवि-कल्पना का अपने दृष्टिकोण के अनुसार रूप चित्रित करने के लिये स्वतन्त्र है। इसी कारण तुलसी की कैकेयी हमारी घृणा की पात्र है और गुप्त की कैकेयी हमारी सहानुभूति की। यह दोनों कवियों के दृष्टिकोणों की भिन्नता के कारण ही हुआ है। परन्तु इसके कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि कवि वस्तुओं के विकृत रूप का प्रदर्शन करे, तथ्यों को तोड़े-मरोड़े अथवा स्थिति और घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम के ज्ञान बिना असंगत वर्णन करे। ऐसा करना अक्षम्य दोष है। काव्य में वास्तव में जीवन के चिरन्तन सत्य का ही चित्रण रहता है। इसी बात को लक्ष्य कर टेनीसन ने कहा था कि—"कविता यथार्थ से अधिक सत्य होती है।"

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वास्तविक सत्य के तत्व मात्र को ग्रहण करते हैं परन्तु कवि उतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह सत्य के भीतर जितना भी सौन्दर्य या आकर्षण है उस सबको अपनी कल्पना और अनुभूति की संवेदनशीलता से ग्रहण कर, उसको एकाँगी रूप न देकर पूर्ण एवं आकर्षक रूप देने

का प्रयत्न करता है। फूलों पर पड़ी हुई शबनम, दार्शनिक की दृष्टि से क्षण भंगुर और वैज्ञानिक की दृष्टि से, 'ऑक्सीजन' और 'हाइड्रोजन' गैसों का एक विशेष अनुपात में सम्मिश्रण मात्र है, पर कवि की दृष्टि में उसका मूल्य इनसे कहीं श्रेष्ठ और भिन्न है। कवि की दृष्टि में वह फूलों का शृङ्गार करने वाले मोतियों का संग्रह भी है और गगन के नक्षत्र भी; वे सौंदर्य के तरल बिन्दु भी है और करुणा के अश्रु भी। चन्द्रमा को हम केवल एक खगोल वेत्ता की दृष्टि से ही देखते तो वह एक उपग्रह और गगन चारी उल्का पिंड मात्र रह जाता। परन्तु उसके प्रति रमणी के मुख, सुधाँशु, हिमांशु, निशापति, सोम आदि की मान्यताएँ हमें कवियों के द्वारा ही प्राप्त हो सकी हैं और जिनमें से एक भी असत्य और अमान्य नहीं हैं। इन विधियों द्वारा कवि सत्य के उस अपूर्ण रूप को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है जो केवल बुद्धिग्राह्य नहीं, वरन् अनुभूति एवं कल्पना द्वारा ग्राह्य होकर ही पूर्ण होता है। सत्य का विशेषतः वह पक्ष कवि सत्य है जो कल्पना एवं अनुभुति द्वारा ग्राह्य होता है। इसमें बुद्धि ग्राह्य सत्य भी उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

इस प्रकार कवि सत्य को उसके पूर्ण सौंदर्य के साथ ग्रहण करता है। सत्य और सौंदर्य की इसी अभिन्नता को देखकर कीट्स ने कहा था—"सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही जानना हमारे लिये सब कुछ है।" तुलसीदास इसी सम्पूर्ण सौंदर्यमय सत्य के चित्रकार होने के कारण ही हमारे सम्मान के पात्र हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

"कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

जीवन के सत्य के स्पष्ट चित्रण के कारण ही उनके लिखे हुए 'कागद' साहित्य की अमर निधि और मानव को सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करने वाले बनगये हैं। सत्य के इसी चित्रण के कारण कबीर और जायसी अनायास ही उच्च कोटि के कवि बन गये हैं। उन्होंने अपने स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है। सत्य की यही ललक कवि का सबसे बड़ा सम्बल है जिसके सहारे वह अपने विषम पथ पर भी स्वानुभूत के उत्स से अमृत की मधुरिमा ग्रहण करता रहता है।

युग की परिस्थितियों के साथ अन्य सत्य बदलते रहते हैं परन्तु काव्यगत सत्य कभी नहीं बदलते। उनका मूल रूप शाश्वत रहता है केवल सूत्र बदल जाते हैं। एक युग में वह करुणा का है तो दूसरे युग में देशप्रेम का। एक युग में वही सूत्र समाज सुधार का है तो दूसरे में साम्यवाद का। काव्य-सत्य की भी यही दशा है। उसकी अभिव्यक्ति के मूल में भावना तो वही रहती है परन्तु

युग विशेष में उसका रूप बदल जाता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य यदि आगामी युग में असत्य सिद्ध हो गये तो उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। 'सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता' है इस मान्यता का अब कोई मूल्य नहीं रहा है पर हंस का नीर क्षीर विवेक, चन्द्रमा का अमृत, आकाश की गङ्गा, यश का श्वेत एवं अनुराग का लाल रंग आदि काव्यगत सत्य अब भी शाश्वत हैं।

'कला कला के लिये' के प्रचारकों ने काव्य के बहिरंग पर विशेष बल देकर इस काव्यगत सत्य का बहुत कुछ अहित किया है। साथ ही काव्य के लक्षण-कारों से प्रभावित अनेक प्रतिभाशाली कवि केवल वाग्वैदग्ध्य के जाल में उलझ कर इस सत्य से विमुख रहे हैं। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त पथ सरल है परन्तु सत्य की खोज सरल नहीं है। उसके लिये अथक साधना करनी पड़ती है। कवि जब तक 'मरजीवा' बन कर जीवन-सागर में गहरा गोता नहीं लगाएँगे तब तक उनके हाथों सत्य रूपी मुक्ता नहीं पड़ सकते। इसलिये जीवन्त कलाकार ही काव्यगत सत्य की रक्षा कर सकता है।

काव्यगत सत्य का महत्व मानव जीवन में काव्य के महत्व से स्पष्ट हो जाता है। मानव हृदय में सदैव विभिन्न प्रकार के भाव उठा करते हैं। कभी वह हंसता है, कभी रोता है, कभी गम्भीर रहता है और कभी आश्चर्य से अभिभूत होकर मुँह फाड़े रह जाता है। आचार्यों ने मानव मन के इन विभिन्न भावों को 'नवरसों' में वर्गीकृत कर दिया है। काव्य में इन्हीं मानवीय भावों को भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता रहा है। काव्य का यह व्यक्तीकरण इतना प्रभावशाली और मनोरंजक होता है कि वह सहृदय मानवों के मन में उन्हीं भावों को उद्दीप्त कर देता है। पढ़ते समय या नाटक देखते समय हम कभी हसने लगते है, कभी रो उठते हैं और कभी घृणावश हमें रोमाँच हो आता है यद्यपि पुस्तक में वर्णित घटनाओं या नाटक के दृश्यों या पात्रों से हमारा निकट का कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध केवल यही होता है कि हम उनमें भी वही भावनाएं पाते हैं जो स्वय हमारे मन में विद्यमान हैं। इससे हम उस समय अपने व्यक्तिगत धरातल से ऊपर उठकर उस स्थिति तक पहुंच जाते हैं जहाँ मानव मात्र की भावनाओं को हम अपना अनुभव करने लगते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का प्रचार इसी कारण केवल साहित्य द्वारा ही सम्भव है। मानव मात्र के प्रति हमारी सहानुभूति रहती है। हमारी भावनाएँ इससे इतनी सुकुमार और हृदय इतना विशाल हो जाता है कि हम प्राणीमात्र के साथ एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगते हैं। काव्य

में वर्णित पात्र हमें अपनी प्रतिच्छाया प्रतीत होते हैं।

काव्य का दूसरा प्रभाव यह है कि उससे हमारे मन का संस्कार एवं परिष्कार होकर हमारी रुचि अधिक उदात्त बनती है। काव्य का प्रभाव सात्विक होता है क्योंकि उसके मूल में साहित्यकार की सात्विक भावना कार्य कर रही होती है। काव्य में वर्णित विषय अत्यन्त कलात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया जाता है जो कलाकार की अपनी अनुभूति से ओत-प्रोत होता है। इस कारण उसका हमारे हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है। काव्य यथावत् चित्र नहीं उपस्थित करता वरन् कलाकर की अनुभूति और कल्पना बुद्धि का सहयोग पाकर उसे आकर्षक ढङ्ग से प्रस्तुत करती है। इसीसे उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। कलाकार अपनी वस्तु को सदैव अत्यन्त परिष्कृत रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करेगा। वह मक्खीमार अनुकृति नहीं करता। अरस्तु के अनुसार—"अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु जैसी थी या है, वस्तु जैसी होने लायक कही या सोची गई है या वस्तु को जैसा होना चाहिए।" कलाकार के हृदय में जिस भाव का जैसा प्रभाव पड़ता है वह उसी अनुपात में उसका चित्रण करता है। यदि यह प्रभाव गहरा है तो उसका चित्रण भी अधिक मार्मिक और गहरा होगा और पाठक पर उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक और स्थायी होगा। ऐसा करने के लिये वह विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचता है। और ऐसा करने में वह जो कुछ देखता, अनुभव करता और समझता है उसे सुन्दरतम रूप में उपस्थित करना चाहता है। इसमें वह सावधान रहता है कि जो कुछ कुरूप है, अग्राह्य है उसका या तो बहिष्कार कर दे या यदि उनका चित्रण करे तो उन्हें सुन्दरता का आवरण पहना कर उपस्थित करे। यही उसकी सफलता है। तुलसी के राम इसके आदर्श हैं। वे मानव की उच्चतम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय हैं। यही काव्य का सत्य कहलाता है जो वास्तविक जगत में भले ही असम्भव या झूठ हो। इतिहास और साहित्य में यही अन्तर है। इतिहास सुंदर, असुंदर सब की रूपरेखा नग्न रूप में उपस्थित करता है। साहित्य में उसी पर कला का आवरण चढ़ा कर, कल्पना के बल पर उसे सुन्दर बना दिया जाता है। सौन्दर्य का प्रभाव मानव हृदय पर सदैव से होता आया है। इसीसे साहित्य इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली माना जाता है।" काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जाग्रत कर उसे देवत्व की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान बनाता है।" ऐसा प्रभाव डालने में वह इसी कारण इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि की

अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है कि उसमें चित्रित जीवन का सत्य नग्न सत्य से अधिक श्रेष्ठ और मनोरम होता है। उसमें यह प्रभाव इस कारण उत्पन्न हो जाता है कि वह साधारण सत्य की तुलना में असाधारण, नग्न न होकर व्यंजित और सदैव यथार्थ ही न होकर सम्भाव्य भी होता है। हम उसमें अपनी आदर्श कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब देख कर मुग्ध और आत्म-विभोर हो उठते हैं।

आज तक विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का सबसे बड़ा उद्देश्य और प्रयत्न मानवजीवन को अधिक से अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने का रहा है। विज्ञान ने सदैव से यह प्रयत्न किया है कि वह मानव को यथाशक्ति श्रम के भार से मुक्त कर उसे शारीरिक एवं भौतिक सुविधा दे सके। राजनीति समाज को आर्थिक एकता के सूत्र में बद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है और दर्शन आध्यात्मिक सिद्धान्तों की खोज और प्रसार द्वारा मानव को एकता का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता आया है और कर रहा है। परन्तु उनका यह काम बिना कवि की सहायता से पूर्ण नहीं हो सकता। समाज के लिए भौतिक सुविधा भी उतनी ही आवश्यक है जितने कि आध्यात्मिक सिद्धान्त परन्तु वह इन सब से ऊपर उस सत्य और सौन्दर्य को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना चाहता है जो उसे जीवन की प्रत्येक सम विषम परिस्थिति में अनुप्राणित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है। कवि जब इन भौतिक सुविधाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को कलात्मक ढङ्ग से उपस्थित करता है तभी हमारे मन में उनके प्रति अनुराग और पावन भावना उत्पन्न होती है। परन्तु आज कवि और समाज दोनों इस बात को भूल रहे हैं। कारण यही है कि आज हमारे लिए काव्य का सत्य अगम्य हो उठा है। यदि यह सुगम हो जाय तो हमारे मन, हृदय और बुद्धि का समन्वय हो सकता है। यह समन्वय हो जाने पर हम पारस्परिक घृणा और द्वेष को त्याग कर प्रेम एवं सम्मान के भावों से प्रेरित होकर विकास के पथ पर चल पड़ेंगे। ऐसा होने पर ही हमारे मन में ओज, बाहुओं में बल, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनन्द उल्लास प्रवाहित हो सकेगा। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है और हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से ही हम एक दूसरे से मिले हुए हैं।

विविध

३४—अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्ल के शब्दों में अभिव्यंजनावाद उसे माना जा सकता है जिसमें—"किसी बात को कहने का ढङ्ग ही सब कुछ है, बात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक ठिकाने की न भी हो।""काव्य में मुख्य वस्तु है आकार या साँचा जिसमें वह वस्तु या भाव ढाला जाता है। ""तात्पर्य यह है कि अभिव्यंजना के ढङ्ग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्यक्षेत्र के बाहर की बात है।" आगे अभिव्यंजनावाद का विश्लेषण करते हुए आप लिखते हैं कि—"इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो अर्थ छिपा रहता है वह स्वतः कविता नहीं है। पर यह बात इतनी दूर तक नहीं घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह में छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रखे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभिव्यंजनावाद' भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य मान कर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं। और कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।"

नीतिवादी आलोचक रामचन्द्र शुक्ल को उपरोक्त जिस 'वाद' ने इतना क्रुद्ध कर रखा था उसका प्रवर्तक इटली का आधुनिक युग का प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोशे (क्रोचे) माना जाता है। क्रोशे के इस कलावादी अभिव्यंजनावाद की संक्षिप्त रूप रेखा ऊपर आचार्य शुक्ल के शब्दों में उपस्थित की जा चुकी है जिसके अनुसार इस वाद की परिभाषा में वे ही काव्यकृतियाँ आ सकती हैं जो 'काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य' मानकर चलती हैं। इसमें केवल अभिव्यक्ति के प्रकार और श्रेष्ठता पर ही बल दिया जाता है—काव्य की आत्मा भाव या रस पर नहीं। क्रोशे के इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि के रूप में यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र की एक लम्बी परम्परा कार्य कर रही

थी। इसलिए क्रोशे के इस सिद्धान्त को समझने के लिए पहले उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपिय साहित्य-समीक्षा पर 'रोमेन्टिसिज्म' (कल्पना या स्वच्छन्दतावाद) का प्रभाव बढ़ने लगा था। जर्मनी के लेसिंग, विंकेलमैन, कान्ट और गेटे जैसे दार्शनिक और कला-समीक्षक इसका नेतृत्व कर रहे थे। लेसिंग का सिद्धान्त सौन्दर्य-सिद्धान्त माना जाता है जिसके अनुसार काव्य और कलाएं आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करतीं हैं तथा आत्म-सौंदर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य मानी जा सकती है। वह भावाभिव्यंजना को काव्य का मुख्य उद्देश्य मानते हुए उसके कलागत सौंदर्य को भी अनिवार्य मानता था। उसका कहना था कि वह अभिव्यंजना जो कलागत सौंदर्य से हीन है, श्रेष्ठ अभिव्यंजना नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार लेसिंग के मतानुसार सौन्दर्य और अभिव्यंजना के तत्वों का संयोग अनिवार्य है।

विंकेलमैन ने इस सिद्धांत को और आगे बढ़ा कर कला में अभिव्यंजना के तत्व को और स्पष्ट किया। वह कला में अभिव्यंजना की प्रधानता मानते हुए भी उसके अन्तरंग और बहिरङ्ग में सन्तुलन का पक्षपाती था। कान्ट ने कला का स्थान विशुद्ध ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान का मध्यवर्ती मानकर कला को अनुभूति का क्षेत्र माना। इस प्रकार उसने सर्व प्रथम कलाक्षेत्र की स्वतंत्रता का निरूपण किया। इसी नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति को रोमान्टिसिज्म कह कर पुकारा गया। इसके अनुसार कवि को किसी बाह्य प्रक्रिया या नियम से बाधित नहीं माना गया। परन्तु आगे चलकर काव्य रचना के प्रेरक कारणों और निर्माण के साधनों के अनुशीलन की ओर ध्यान दिया गया। कोलरिज ने काव्य की व्याख्या करते हुए कहा कि—"सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है।" इस व्याख्या के अनुसार वस्तुजगत और मन का अंतर दूर होकर कवि की मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एक मात्र आधार बन जाती है। इसके द्वारा दार्शनिक ज्ञान से तथा व्यावहारिक या नैतिक तथ्य से कलावस्तु की भिन्नता के सिद्धांत की स्थापना हुई।

रोमेन्टिसिज्म के आरम्भिक युग में कला में व्यक्तिवाद की प्रमुखता थी। उस समय कवि के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु नहीं स्वीकार किया जाता था। परन्तु गेटे और कोलरिज जैसे कवि और समीक्षकों ने काव्यगत अभिव्यंजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर उसे लोकसामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में अभिव्यंजना-

सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई जिसे आगे चलकर क्रोशे ने शास्त्रीय रूप दिया। उसने सर्वप्रथम अभिव्यंजना की एक वाद के रूप में प्रतिष्ठा कर इसे काव्य-कला का एकमात्र सिद्धांत या सत्य घोषित किया।

मानस-दर्शन का विवेचन करते हुए क्रोशे ने मन के दो व्यापार माने हैं (१) ज्ञान (प्रज्ञा) और (२) क्रिया (संकल्प)। एक सिद्धांत है और दूसरा व्यवहार। उसने ज्ञान भी दो प्रकार के माने हैं—(१) प्रातिभ ज्ञान (Intution) यह कला सम्बन्धी ज्ञान है। बुद्धि की क्रिया के बिना मन में अपने आप उठने वाली मूर्त भावना को प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेत ग्रह अर्थात् किसी एक वस्तु का ज्ञान कह सकते हैं।

(२) प्रमेय ज्ञान (Logic)—इसका सम्बन्ध तर्क शास्त्र से है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान, पृथक पृथक व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेत ग्रह है।

प्रातिभ ज्ञान आत्मा की क्रिया है। आकाश में उड़ते हुए बादलों को देखकर कवि के मन में कई प्रतिमाएं (Images) अङ्कित हो जाती हैं। कभी चौकड़ी भरते मृग की, कभी कजरारे घनों से मत्त मत्तंगज की और कभी खरगोश की आकृति बन जाती है। इस प्रकार मन पर पड़ी छाया या संस्कार या प्रभाव को, जो जगत के नाना रूपों, व्यापारों आदि के होते हैं, उपादान के रूप में कल्पना अपने सूक्ष्म साँचे में भर कर अपनी कृति को गोचर करती है। कला के क्षेत्र में साँचा (Form) ही सब कुछ है, वस्तु (Matter) कुछ नहीं। प्रातिभ ज्ञान का साँचे में ढल कर व्यक्त होना कल्पना है और यही मूल अभिव्यंजना (Expression) है। इसके अनुसार सुन्दर उक्ति ही होती है, उस उक्ति में उपादान के रूप में भरे व्यक्त गोचर प्रसार की सुन्दरता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह प्रतिभा ज्ञान कल्पना द्वारा ही सम्भव है। कल्पना ही मूर्त्ति विधान करती है। वस्तु से मन पर चिह्न (Impressions) अङ्कित होते हैं जो कल्पना के आधार बनते हैं। क्रोशे ने कल्पना को विचार से पृथक माना है। वह कल्पना को बुद्धि-प्रसूत भी नहीं मानता बल्कि मन की एक स्वतन्त्र सत्ता मानता है। वह विचार का सम्बन्ध बुद्धि से मानता है क्योंकि तर्क-वितर्क विचार के साथ चलता है। सौन्दर्य का बोध कराने वाली भी कल्पना है। वस्तु के सौन्दर्य का उद्घाटन कल्पना द्वारा होता है। पन्त ने अपनी उद्बुद्ध कल्पना द्वारा ही 'छाया' का मूर्त रूप उपस्थित करने में सफलता पाई है—

"कौन कौन तुम परिहत वसना,
म्लान मना भू पतिता सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला
किसके चरणों की दासी ।"

इसलिए क्रोशे 'कला' पर कल्पना का स्वच्छन्द शासन मानता है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु में कल्पना का अस्तित्व होता है। जिस कवि की कल्पना जितनी तीव्र होगी वह उतना ही अच्छा कवि होगा। क्रोचे का कथन है कि मन पर दृश्य जगत की नाना वस्तुओं की जो छाया पड़ती है, उन्हीं को कल्पना द्वारा नया बिम्ब प्रदान कर अभिव्यंजित करना ही कवि-कर्म है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि क्रोशे ने अभिव्यंजना (Fxpression) का जो अर्थ लगाया है वह साधारणतः गृहीत अर्थ से भिन्न है। उसने कलासम्बन्धी अभिव्यंजना (Fxpression in the Asthetie Sense) को प्राकृत अभिव्यंजना (Fxpression in the aturelistic Sense) से भिन्न माना है। कला सम्बन्धी अभिव्यंजना सब में हो सकती है और वह वर्ण, स्वर, रेखा, शब्द आदि द्वारा साकार होती है। अभिव्यंजना जब मूर्त्ति (Image) के रूप में होती है तभी वह कला सम्बन्धी अभिव्यंजना होती है। कला की अभिव्यंजना साँचे के रूप में होती है, जिसमें जगत की वस्तुएं उपादान का काम करती हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत अभिव्यंजना भौतिक होती है और कलात्मक अभिव्यंजना आत्मिक या मानसिक। संक्षेप में हम क्रोशे के मतवाद को इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) कलासम्बन्धी ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है।

(२) प्रातिभ ज्ञान की ही अभिव्यंजना होती है। प्रातिभ ज्ञान ही अभिव्यंजना है।

(३) सौंदर्य अभिव्यंजना में होता है। सांचे या आकृति (Form) का होता है, वस्तु (Matter) में सौंदर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यंजना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यंजना आन्तर होती है।

आचार्य शुक्ल ने क्रोशे के अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है। इसलिए यहाँ अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की तुलनात्मक विवेचना अपेक्षित है। 'वक्रोक्ति जीवित' के रचयिता आचार्य कुन्तक, जो वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक माने जाते हैं, के पूर्व भारतीय साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार, गुण और ध्वनि सम्प्रदाय प्रतिष्ठित

हो चुके थे। जब उस समय काव्य में ध्वनि की महत्ता को सर्वोपरि मान लिया गया तो नवीन समीक्षकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि या तो 'ध्वनि' का खंडन करने के लिए वे ध्वनि के दोषों का सुस्पष्ट उद्घाटन कर अपनी नवीन स्थापना को अधिक प्रौढ़ प्रमाणित करने का प्रयत्न करें या किसी ऐसी चमत्कारिक आलोचना पद्धति को जन्म दें जो अपनी साहित्यिक विदग्धता एवं प्रभाव में ध्वनि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो। इन दोनों मार्गों में से अपने वक्रोक्तिवाद की स्थापना कर कुन्तक ने दूसरा मार्ग अपनाया।

भारतीय दृष्टि से काव्य की भावात्मक या रसात्मक सत्ता मानी गई है। इसके अनुसार काव्य का चरम लक्ष्य श्रोताओं या सामाजिकों में अलौकिक आनन्द का उद्रेक करना है। इस अलौकिक आनन्द का उद्रेक तभी सम्भव है जब काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर एक दूसरे का उत्कर्ष करने वाला सम्बन्ध हो। शब्द-चमत्कार अर्थ-चमत्कार से बढ़ कर हो और अर्थ वैचित्र्य शब्द वैचित्र्य को मात करने वाला हो। शब्द और अर्थ की यह प्रतिद्वन्द्विता सामान्य या प्रसिद्ध प्रयोगों से नहीं लाई जा सकती। अतः प्रतिभावान कवि 'नवशब्दार्थबन्धुर' काव्य की सृष्टि करते हैं। इतना ही नहीं, मानवमन की गूढ़ अन्तर्दशाओं और विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी चलते प्रयोग सक्षम नहीं होते। उनसे साधारण व्यवहार चल सकता है किंतु निगूढ़ अन्तर्वृत्तियों की विवृत्ति में असाधारण भंगी विच्छित्ता अपेक्षित होती है। यह वक्रोक्ति द्वारा सम्पन्न होता है।

'वक्रोक्ति' का अर्थ है—विलक्षण या लोकातिक्रान्त कथन। कारण यह है कि उक्तिया तो सामान्य व्यवहार में भी लाई जाती है, पर उनसे रसोद्रेक नहीं हो सकता। कवि या काव्य का लोकोत्तर वर्णन ही सामाजिकों में रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। सन्धि करने से वक्रोक्ति के दो पद हो जाते हैं वक्र+उक्ति। वक्र का अर्थ है-कुटिल, बाँका या विलक्षण। उक्ति का अर्थ है कथन। अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ बांकापन या विलक्षणता से भरा हुआ कहने का ढङ्ग। कुन्तक ने इसकी व्याख्या में "वैदग्ध्य भंगी भणिति" पद का प्रयोग किया है। यही असामान्य कथन काव्य का मूल तत्त्व है। अन्य सहकारी उपादान उसके सहकारी है। वक्रता या विलक्षणता के अभाव में काव्य का कोई मूल्य नहीं है। यह विलक्षणता शब्दरूपिणी भी हो सकती है और अर्थरूपिणी भी। कुन्तक ने काव्य में इन दोनों को माना है।

उपर्युक्त विवेचन का यही अर्थ निकलता है कि शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि सामान्य मनुष्य द्वारा अप-

नाए गए मार्ग से भिन्न विलक्षणता या वक्रता का आश्रय लेता है। अभि-व्यक्ति की नूतन प्रणालियों का सर्जन करता है। उदाहरण के लिए एक सामान्य व्यक्ति यह प्रश्न करेगा—"आप कहां से आ रहे हैं ?" परन्तु शकुन्तला की सखी अनुसूया राजा दुष्यंत से पूछती है—"किस देश की प्रजा को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाया है ?" साधारण व्यक्ति का आपसे प्रश्न होगा—"आप कहां तक जायेंगे ?" पर दमयन्ती दौत्यकर्म के लिए उपस्थित राजा नल से पूछती है—"महाराज निवेदन कीजिए, हमारा मन यह जानना चाहता है कि शिरीष-कोष की मृदुता को भी मलिन बनाने वाले आपके ये चरण कहां तक चलने का प्रयास करना चाहते हैं ?" इस प्रकार वक्रोक्ति में बात तो वही कही जाती है परन्तु उसके कहने के ढङ्ग में एक ऐसा चमत्कार, एक ऐसी विशेषता और वाग्विदग्धता होती है कि हम चमत्कृत हो उठते हैं। आगे चलकर तो वक्रोक्ति एक अलंकार के ही रूप में प्रयुक्त होने लगी।

इस प्रकार वक्रोक्तिवाद भारतीय काव्य परम्परा का वह चमत्कारिक सिद्धान्त है जिसमें कर्त्ता या कृति पर विशेष दृष्टि रख कर काव्य के समस्त उपादानों का समुचित विवेचन किया गया है। अभिव्यंजनावाद यूरोपिय सौंदर्य शास्त्र का महत्वपूर्ण किंतु कलात्मक पक्ष है। अभिव्यंजनावाद द्वारा क्रोशे ने कला-विषयक धारणा को ही उलट दिया। उसने कला को वस्तुजगत से हटा कर सर्वथा मानस-व्यापार में पर्यवसित कर दिया एवं उसे केवल अभिव्यंजना माना। परंतु वक्रोक्ति जीवितकार उस कृति को काव्य नाम देने में भी संकोच करेंगे जिसमें अभिव्यंजना ही सब कुछ है—अभिव्यंग्य कुछ नहीं। उनके काव्य का लक्षण है कि—"काव्य तत्व मर्मज्ञों को आनन्द देने वाले, वक्रतापूर्ण कवि व्यापार से युक्त बन्ध में व्यवस्थापित शब्द और अर्थ एक होकर काव्य कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यापार में शब्द और अर्थ=अभिव्यंजना और अभिव्यंग्य मिलकर एक रूप हो जाते हैं वही काव्य है। परन्तु क्रोशे काव्य में शब्द को ही प्राधान्य देते हैं, क्योंकि काव्य की अभिव्यंजना शाब्दी ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि वक्रोक्तिवाद में अभिव्यंजना और अभिव्यंग्य को एकरूप माना है और अभिव्यंजनावाद में केवल अभिव्यंजना की ही प्रधानता है। वहां अभिव्यंग्य अर्थात् वस्तु का कोई मूल्य नहीं स्वीकार किया जाता। यह ठीक है कि हमारे यहां वक्रोक्तिवाद में अभिव्यक्ति को अधिक महत्व अवश्य दिया गया है किन्तु विषय-पक्ष (भाव पक्ष) की उपेक्षा न कर उसके महत्व को भी स्वीकार किया गया है। क्रोशे के अनुसार कलाओं में भावपक्ष या अनुभूति पक्ष नगण्य है।

उसके बिना भी केवल अभिव्यक्ति के बल पर कलाकृतियों का सृजन किया जा सकता है। इस प्रकार क्रोशे कला में संसार तथा जीवन की बातों का कोई स्थान नहीं मानता। वह 'बिना बात की बात' कहने में विश्वास करता है। इसी कारण उसका अभिव्यंजनावाद 'कला कला के लिए' सिद्धांत का सबसे प्रबल समर्थक सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि क्रोशे कलाकार और सामान्य जन की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं मानता। 'कवि जन्मतः उत्पन्न होता है' इस मत का वह विरोधी है। वह प्रत्येक मनुष्य को जन्म से ही कवि मानता है। जिसकी कल्पना जितनी ही तीव्र होगी वह उतना ही सुन्दर कवि होगा। परन्तु भारतीय मत से शक्ति के कारण कवि या कलाकार दूसरों से, सामान्य जनों से, भिन्न होते हैं, काव्योक्ति सामान्य उक्ति से भिन्न होती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। क्रोचे इस पार्थक्य का विरोधी है। भारतीय दृष्टि से अलंकारवादी भी अलंकार और अलंकार्य का भेद मानकर विचार करते हैं। परन्तु अभि-व्यंजनावाद में अलंकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना=Form) का अभेद है।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के इसी अन्तर एवं विरोध को देखकर 'भारतीय साहित्य शास्त्र' के लेखक बल्देव उपाध्याय ने अत्यन्त क्षुब्ध होकर लिखा है कि—"अभिव्यंजनावाद यूरोपिय आलोचना पद्धति का एक प्ररोह मात्र है, वह वहाँ की ही भावनाओं से ओत-प्रोत है। भारतीय आलोचना दृष्टि से समीक्षा करने पर अनेक दोषों की सत्ता उसे नितांत अनुपादेय, एक देशीय तथा कृत्रिम बता रही है।...... ... अभिव्यंजनावाद में काव्य तथा कला के लिए न तो किसी नैतिक आधार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थ रूप से रमणीय अनुसन्धान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है। वह पूर्णरूपेण अभारतीय है।.........भारतीय सिद्धान्तों के न मानने से नितान्त उपेक्षणीय तथा एक देशीय है।"

क्रोशे ने सौंदर्य को वस्तुगत न मानकर उसे मनुष्य के मन में स्थित माना है। इसीसे वह अभिव्यंजना को भी बाहरी या भौतिक क्रिया न मानकर मान-सिक क्रिया मानता है। मन में किसी मूर्त्ति की कल्पना के जाग्रत होते ही उसकी अभिव्यंजना भी उदित हो जाती है। साधारणतः अभिव्यंजना कला के बाहरी रूप को कहा जाता है। जैसे कविता की अभिव्यंजना उसके शब्द और छन्द हैं। परंतु क्रोशे इस बाह्य अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना नहीं मानता। उसका कथन है कि—"शब्द या छन्द बाहर तभी प्रकट होते हैं जब मन उन्हें

पहले गा चुकता है। अतः अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अभिव्यंजना।" वह केवल बाह्य जगत में ही सौन्दर्य न मानकर उक्ति-चमत्कार में भी सौन्दर्य देखता है। इसीलिए उसके लिए कला का मूल्य केवल कला ही है। कला किसी को आनन्द प्रदान करती है या घृणा अथवा क्रोध से भर देती है, कलाकार का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। उसने कला की अभिव्यंजना में चार स्थितियाँ या प्रक्रिया मानी है—

(१) भीतरी संस्कार—वस्तु के दृष्टिगोचर होते ही द्रष्टा के चित्त पर होने वाला संस्कार।

(२) अभिव्यंजना—संस्कार के जाग्रत होते ही मन में अपने आप आविर्भूत होने वाली अभिव्यक्ति।

(३) सौन्दर्य—बोध से उत्पन्न आनन्द।

(४) कल्पना का स्थूल रूप में अवतरण। शब्द, रंग, स्वर आदि के द्वार कल्पना का अवतार, जिससे जन-साधारण कला की कल्पना से अवगत होता है।

इन चारों का सम्मिलित-व्यापार पूर्ण अभिव्यंजना-विधान कहलाता है। इससे हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध न होकर केवल कौतूहल उत्पन्न होता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अभिव्यंजनावाद का विवेचन करते हुए उस पर किए गए अनेक आक्षेपों और आरोपों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार सबसे पहला आक्षेप यह है कि—"क्रोचे काव्य को कवि की जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों आदि से बिल्कुल नहीं रखा गया है।" इसके अनुसार काव्य सार्वजनिक वस्तु न रहकर व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रह जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि की वह मानसिक क्रिया व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होती है। इसीसे सहृदय उसका रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं। परन्तु जब तक वह मानसिक क्रिया शब्दों का आवरण पहन कर काव्य का रूप नहीं धारण करेगी तब तक उसका आस्वादन कैसे होगा? क्रोचे का उत्तर यह है कि—"हमें कवियों का अनुग्रह मानना चाहिए कि वे अपनी मानसिक कला-सृष्टि को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न भी करते आए हैं।" इस दृष्टि से कलाकृति सार्वजनिक वस्तु बन जाती है परन्तु कवि तत्वतः इसके लिए बाध्य नहीं है।"

दूसरा आक्षेप यह है कि—"यदि कविता मन की सक्रिय अवस्था में अनुभूतियों के प्रकाशन का व्यापार है, तो उक्त व्यापार के सुन्दर या असुन्दर

होने का, कला के श्रेणी विभाग का प्रश्न कैसे उठ सकता है? कोई काव्य समाज की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है या नहीं, इसका भी निर्णय कैसे होगा?" क्रोशे का उत्तर यह है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है इसलिए उसमें श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। दूसरा यह कि कला मात्र सौन्दर्य की ही वस्तु है अतः सुन्दर, असुन्दर का प्रश्न व्यर्थ है। तीसरी बात यह कि वह कला और नीति का कोई सम्बन्ध ही नहीं मानता। इसलिए कलाओं को नैतिक माप-दण्ड से नहीं नापा जा सकता, भले ही उसमें लोक-कल्याण मिल जाय, यह दूसरी बात है।

तीसरा आक्षेप यह है कि—"उसने काव्य-व्यापार का निरूपण करते हुए, जीवन और जगत से उनका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा ही काव्य का सृजन करती है—इस कथन में बाह्य जगत और उसके सम्बन्धों का कहीं भी उल्लेख नहीं है।" इस आक्षेप का उत्तर यही है कि क्रोशे बाह्य जगत और जीवन की पृथक सत्ता नहीं मानता। जगत भी मानसिक वृत्ति का ही प्रतिबिम्ब है। केवल मन की एकमात्र व्यापक सत्ता है। जीवन और जगत मन में ही समाहित है। "क्रोचे की दृष्टि में जीवन-सम्बन्धी और काव्य-सम्बन्धी अनुभूति दो पृथक वस्तुएँ नहीं हैं। जीवन की अनुभूतियाँ ही काव्य-अनुभूति का स्वरूप धारण करती हैं। जिस कवि की जीवनानुभूति जितनी विशद और तीव्र होगी, उसकी काव्य रचना भी उतनी ही प्रशस्त और मार्मिक होने की सम्भावना रखेगी। अतएव यह कहना संगत नहीं कि क्रोचे के मत में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं है।"

(पं० नन्ददुलारे वाजपेयी)

३५—प्रतीकवाद

जब मानव अपनी भावनाओं की विशद अभिव्यक्ति करना चाहता है और सीधे-सादे ढङ्ग से ऐसा करने में असमर्थ रहता है तब प्रतीकों का सहारा लेता है। 'प्रतीक' शब्द का अर्थ है चिह्न, प्रतिनिधि या प्रतिरूप। इसका अभिप्राय यह है कि जब साम्य के आधार पर किसी शब्द को किसी भावना या वस्तु का चिह्न, प्रतिनिधि या प्रतिरूप मान लेते हैं तब उसके द्वारा कथन में मार्मिकता आ जाती है। उदाहरण के लिए 'उषा' को लीजिए। यह शब्द आनन्द या सौख्य का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार 'आशा' शब्द प्रभात का प्रतीक माना जाता है तथा 'प्रभात' 'आशा' का। प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्द से स्वतः भावनाओं के विकास की योजना हो जाती है जैसा कि 'उषा' तथा 'आशा' के कहते ही क्रमशः आनन्द तथा प्रभात की पूर्ण व्यंजना हो जाती है। चूँकि प्रतीक किसी न किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होते हैं इसलिए उनके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसमें अनुभूति की तीव्रता अनिवार्यतः आ जाती है। गम्भीर और उच्च कोटि के कवि सदैव प्रतीकों के आश्रय से अपने भावों की व्यंजना करते आए हैं।

यद्यपि साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग सदैव से होता आया है तथापि 'प्रतीकवाद' शब्द यूरोप की देन है। यूरोपीय समीक्षकों के अनुसार जब वस्तु या भाव के यथार्थवादी वर्णन में तुच्छ एवं अनावश्यक विस्तृत वर्णन का समावेश हो जाता है, उस समय काव्य की अर्थ गम्भीरता और चमत्कार का लोप हो जाता है। उसका प्रभाव काव्य-प्रेमियों पर फीका पड़ने लगता है। उसमें नवीनता का नाश एवं सौन्दर्य का ह्रास हो जाता है। इसी का विरोध करने के लिए साहित्य में प्रतीकवाद का जन्म होता है। मायर्स (Myars) के मतानुसार—"वास्तववाद (Naturalism) ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थ गर्भित बनाने के लिए प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया।"

साहित्य के अन्य प्रमुख वादों के समान 'प्रतीकवाद' की जन्मभूमि भी फ्राँस ही माना जाता है। यह धारा वहीं से चलकर इङ्गलैंड, जर्मनी तथा अमेरिका तक फैल गई। फ्रांस में सन् १८७० में 'तीसरे रिपब्लिक' की स्थापना

एवं बाद में उस पर जर्मनी के आक्रमण और नेपोलियन तृतीय की कायरता के कारण एक निराशा फैल गई। फलस्वरूप वहाँ दो प्रकार की परस्पर विरोधी संस्कृति और विचारधाराओं का प्राबल्य हुआ—जनतंत्रवाद और पुरोहितवाद। राजनीति के जनतंत्रवाद और पुरोहितवाद साहित्यिक क्षेत्र में 'प्रकृतवाद' और 'प्रतीकवाद' में रूपान्तरित हुए। इनके रूपान्तरकार क्रमशः जोला तथा प्रसिद्ध कवि मलार्मे माने जाते हैं। जोला ने साहित्य में भौतिक विज्ञान को ढाला और मलार्मे ने सौन्दर्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा की। प्रकृतवाद में स्थूल और यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सन्वेष्ट हुईं तथा प्रतीकवाद में सूक्ष्मतापरक, आदर्शवादी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ।

प्रकृतवाद का विरोध करने में प्रतीकवाद को सबसे बड़ा सहायक रहस्यवाद के रूप में मिला। प्रकृतवाद में यथानुरूप चित्रण को ही मुख्य विषय माना गया अतः उसमें कवियों की व्यक्तिगत संवेदनाओं को उभरने तथा विकसित होने का कोई अवसर नहीं मिला। प्रकृतवाद की इस निर्बलता एवं संकीर्णता ने व्यक्तिवादी कवियों की रहस्य-वृत्ति को पनपने का अवसर दिया। प्रतीकवादियों का कथन है कि प्रकृतवाद में कवि सब कुछ स्पष्ट रूप से व्यक्त कर वस्तु का स्वरूप उपस्थित कर देता है। इससे उसमें रहस्य वृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। उनके मतानुसार कविता का वास्तविक आनन्द तभी मिलता है जब कि हमें सन्तोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं, परन्तु स्पष्टतया कथन कर देने से कविता का तीन चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस्-चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सन्वेत करता हो। इसी कारण प्रतीकवाद में रहस्य-भावना का प्राधान्य बढ़ा।

कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार हमारे सभी, भाव, अनुभव जीवन के विशिष्ट क्षण आदि एक दूसरे से सटे रह कर भी इतने विलग, इतने गतिशील और अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति ही उन्हें यथावत अभिव्यक्त कर पाती है और न हमारी स्मरण-शक्ति में ही उनका वही रूप स्थिर रह पाता है। साथ ही व्यक्ति की विभिन्नता के समान ही उनकी अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों में भी अन्तर होता है। इसलिये एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भार कैसे वहन कर सकती है। अतः स्वाभाविक रूप से ही प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की व्यंजना के लिए नई शैली, नए बिम्बों की योजना और नए प्रतीकों का विधान करना पड़ता है। परन्तु अनुभूत विषय इतने अग्राह्य, अनुपम और अकथनीय होते हैं कि उनका संकेत मात्र ही किया जा सकता है। वे केवल व्यंजित हो सकते हैं, अभिव्यक्त नहीं। प्रतीक-

वादी कवियों ने भाषा की इसी असमर्थता को दूर करने के लिये ध्वनि-संकेत तथा बिम्ब-संकेत के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांच का वाहक बना दिया। इन लोगों ने "रोमाँच के आगे वाह्य एवं अन्तर्जगत के बोध, बौद्धिकता तथा भावना का पूर्ण बहिष्कार किया। 'ध्वनि' और 'सुगन्धि' की अजीब अजीब धारणाएँ प्रवर्तित कीं। अन्तर्मन की यादगारें, ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ, सूक्ष्मतम तरंगें रहस्यपूर्ण संकेत ही कविता की विषय-वस्तु बने।" (राजनारायण बिसारिया-प्रतीकवाद की स्थापना)

सृष्टि के सम्बन्ध में भी इन प्रतीकवादियों के विचार अद्भुत थे। उनका मत था कि गोचर-जगत वास्तविक नहीं है, सृष्टि का मिथ्या रूप है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। इसलिए यदि हम अलौकिक सृष्टि का वर्णन करना चाहेंगे तो उसमें रहस्यमयता का आ जाना अनिवार्य है। यदि हम वस्तु-जगत (गोचर-जगत) से अनुप्रेरित होकर वर्णन करेंगे तो उसमें दुर्बलताओं, नैराश्यपूर्ण भ्रमों, पापों तथा कुत्सित चेष्टाओं का ही चित्रण होगा। इस प्रकार उन लोगों ने गोचर-जगत का चित्रण न कर उस अलौकिक और शाश्वत सृष्टि के रहस्यमय चित्रण में ही अपने काव्य की इति-श्री मानी। प्रतीक की व्याख्या करते हुए मलार्मे कहा करता था कि—"जो बोधगम्य हो वह और चाहे जो कुछ हो, प्रतीक नहीं है।" इसीलिए मलार्मे की अधिकाँश रचनाएँ दुर्बोध और अगम्य हैं। काव्य में इस दुर्बोधता का समावेश जान बूझ कर किया जाता था। आगे चलकर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गए। एक दल मलार्मे का था जिसमें दुरुहता और अस्पष्टता का विधान प्रधान माना जाता था। दूसरे दल ने प्रसिद्ध कवि बर्लें का अनुगमन किया जो प्रतीक-विधान में मलार्मे की अपेक्षा सरलता एवं स्पष्टता लाने का समर्थक था। संक्षेप में यूरोपिय प्रतीकवाद की यही रूपरेखा है। इसने काव्य में निम्नलिखित नई बातों का समावेश किया—

(१) शैली तथा व्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोग करके कविता को रूढ़ि-ग्रस्त प्रकारों से मुक्त कर दिया।

(२) अनुकाँत तथा मुक्त छंद की अवतारणा की।

(३) कविता और सङ्गीत में सामंजस्य स्थापित किया।

(४) साहित्य को राजनीति द्वारा ग्रसित होने से बचाए रखा।

(५) सौंदर्यवाद की प्रतिष्ठा की।

हिन्दी के 'छायावादी' काव्य में 'प्रतीकवाद' की उपर्युक्त विशेषताएँ पूर्णरूप से मिलती हैं। आचार्य शुक्ल ने 'छायावाद' का विवेचन करते हुए,

इसी साम्य को देखकर लिखा था कि—"हिंदी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" शुक्ल जी इस प्रतीक-शैली को चित्रभाषा शैली भी कहते हैं जिसमें उनके शब्दों में—"जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत छन्दों का विधान भी।"

प्रतीकों का विधान साम्य के आधार पर ही किया जाता है। हमारे यहाँ साम्य तीन प्रकार का माना गया है—सादृश्य (रूप या आकार का साम्य) साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य), केवल शब्द साम्य (दो भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना) इनमें शब्द साम्य में तो केवल श्लेष की शब्द क्रीड़ा होती है। सादृश्य और साधर्म्य में प्रभाव-साम्य रहता है। "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।" इसलिये प्रतीकवाद में प्रभाव-साम्य पर ही विशेष बल दिया जाता है। परन्तु इसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें बाह्य प्रभाव-साम्य हो क्योंकि—"कहीं कहीं तो बाहरी तो सादृश्य साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत (Symbolic) होते हैं—जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवन काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुन्द, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तमान या कान्तिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अन्धकार, अँधेरी रात, या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरङ्ग के लिये झंकार; भाव-प्रवाह के लिये सङ्गीत या मुरली का स्वर इत्यादि।"

(आचार्य शुक्ल)

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि हिंदी में प्रतीकों का छायावाद से पहले प्रयोग ही नहीं हुआ। हिंदी के संत कवियों में प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति सर्वप्रथम विशेष रूप से दिखाई पड़ी। इसका कारण उनकी रहस्य भावना थी क्योंकि उन लोगों ने प्रतीकों का उपयोग उन्हीं स्थलों पर किया है जहाँ वे

अपनी रहस्य भावना की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। कबीर के साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। यहाँ तक कि स्पष्टवादी तुलसी भी अनेक स्थलों पर प्रतीकों के बिना अपना काम चलाने में असमर्थ रहे हैं। चातक की प्रेम-साधना पर लिखे गये उनके समस्त दोहे प्रतीक-पद्धति पर हैं। रीतिकालीन कवियों ने भी कहीं कहीं प्रतीकों का प्रयोग कर अपने काव्य-सौंदर्य को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। परंतु मानसिक दासता के कारण प्रतीकों के इस प्रयोग में भी वही क्लिष्ट-कल्पना और आधिक्य का सहारा लिया गया जो अलंकारों के क्षेत्र में हुआ था। उस काव्य में प्रतीकों की इतनी बाढ़ आ गई कि 'बुद्धि ग्राह्यता बढ़कर अज्ञेयता के सागर में डूब गई।' प्रतीक का महत्व वस्तुतः उसके संकेतित अर्थ में है। किंतु जब काव्य में केवल प्रतीक को ही सब कुछ मान लिया जाता है-प्रतीक साधन न रहकर साध्य बन जाता है—तब उसका महत्व नष्ट हो जाता है और वह काव्य का उपकार न कर अपकार ही करता है।

हिंदी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग विभिन्न रूपों में हुआ है। इसका 'अन्योक्ति-साहित्य' तो शुद्ध रूप से प्रतीकात्मक साहित्य ही है जिसमें अन्योक्तियों की सहायता से मार्मिक भाव-संकेतों की अवतारणा की गई है। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> "टूटे नख रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
> हाय जरा अब आइके, यह दुख दियो बढ़ाय॥
> यह दुख दियो बढ़ाय, चहुँ दिसि जम्बुक गाजैं।
> ससुक लोमरी आदि, स्वतन्त्र करैं सब राजैं॥
> बरनै 'दीनदयाल' हरिन विहरैं सुख लूटैं।
> पंगु भयो मृगराज, आज नख रद के टूटैं॥"

इस पद में केहरी अथवा मृगराज किसी सम्पन्न एवं वीर व्यक्ति का प्रतीक है जो वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो गया है। जम्बुक, ससुक, लोमरी आदि कायर और निर्बल मनुष्यों के प्रतीक हैं जो इसे निर्बल पाकर निर्द्वन्द्व विहार और भोग करते हैं।

कुछ प्रतीक परम्परागत भी होते हैं जिनके प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में एक सहज गुण और सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्राचीनकाल से हमारे यहाँ ऊषा सुख का और संध्या या रात्रि दुख और अज्ञान के प्रतीक माने गए हैं। परंतु साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि एक देश में जो प्रतीक जिस अर्थ में

ग्रहण किया जाता रहा हो वह दूसरे देश में भी उसी अर्थ को ध्वनित करे। जैसे यूरोप में धूप आनन्द और सुख का प्रतीक मानी जाती है क्योंकि वहाँ सूर्य दर्शन दुर्लभ होता है परंतु भारत में धूप सांसारिक ताप, दुःख एवं कष्ट देने वाली मानी गई है क्योंकि यहाँ की धूप जलाने वाली एवं तीखी होती है। जायसी ने धूप को इसी अर्थ में लिया है—

"पथिक जो पहुँचे सहिके घानू। दुख बिसरइ सुख होइ बिसरामू॥"
—(पद्मावत)

इस प्रकार कुछ प्रतीक देशगत होते हैं। कुछ प्रतीक वैयक्तिकता को लेकर चलते हैं। कवि अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष वस्तु को विशेष अर्थ में ग्रहण कर लेता है। जैसे पन्त ने 'छाया' का प्रयोग 'माया' की अभिव्यक्ति के लिए किया है। साधारणतया ऐसा प्रयोग नहीं होता। साथ ही कुछ प्रतीकों का प्रयोग किसी युग विशेष में ही होता है। जैसे आधुनिक युग के छायावादी काव्य में 'मधुमास', 'पतझड़' सुख और दुख के लिए प्रयुक्त होते हैं। पहले इनका प्रयोग इस रूप में कभी नहीं हुआ है। इस प्रकार प्रमुख रूप से प्रतीकों के चार प्रकार मिलते हैं—

१—परम्परानुगत, २—देशगत, ३—व्यक्तिगत और ४—युगगत।

हम ऊपर कह आए हैं कि काव्य में प्रतीकों का प्रयोग रहस्यभावना के ही कारण होने लगा था। हिन्दी के सन्त कवियों ने भी अपनी आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रतीकों का प्रयोग विशेष रूप से किया है। जब साधक अपने हृदयोल्लास को, जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर साधारण जन तक पहुंचाना चाहता है और ऐसा करने में सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा सफलता नहीं प्राप्त कर पाता, तब वह प्रतीकों का सहारा लेता है। इसी पद्धति द्वारा भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति सम्भव हो जाती है। कबीर के काव्य में ऐसे प्रयोगों की भरमार है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूले - फूले चुनि लिये, कालिह हमारी बार॥'

इसमें माली 'काल' का प्रतीक है, कली जीव का। भावार्थ यह है कि एक न एक दिन सभी को काल का ग्रास बनना पड़ेगा—केवल समय का अन्तर है। इसके अतिरिक्त कबीर के अन्य पदों—जैसे—'काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी' तथा 'दुलहिनी गावहु मङ्गलचार' आदि में प्रतीकों के माध्यम द्वारा ही आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

जायसी ने भी साधना की क्रिया के प्रतीक रूप में 'चारि बसेरे' का प्रयोग किया है—

"नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहँ बज्र किवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥"

ये चार बसेरे सूफी कवियों के अनुसार साधना के चार पड़ाव हैं—शरीअत, तरीक़त, मारिफत और हकीकत।

साहित्य में भावों और विचारों की विविधता के अनुरूप ही विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। जब हमारी अनुभूति गहन हो जाती है तब भावों में भी गम्भीरता आ जाती है। तब कवि उस गम्भीरता में अवगाहन कराने के लिए प्रतीकों का सहारा लेता है जैसा कि जायसी ने किया है—

"साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट।
तन मन जौबन साजिकै, देह चली लेइ भेट।

उक्त पद में साजन परमात्मा है तथा 'तन मन जौबन साजिकै' भेंट करना सम्पूर्ण रूप से स्वयं को प्रभु को समर्पित करना है।

अनेक कवियों ने, विशेष रूप से छायावादी कवियों ने प्रकृति का प्रयोग प्रतीक रूप में किया है। इसके लिए उन्होंने नये प्रतीकों की अवतारणा की है। झंझावात को हृदय के उद्वेग और विद्युत को स्मृति का प्रतीक मानकर नवीन लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। छायावादी प्रतीकों का उल्लेख ऊपर आचार्य शुक्ल द्वारा गिनाए गए विभिन्न नवीन प्रतीकों में किया जा चुका है। यहाँ केवल कुछ उदाहरण ही यथेष्ठ होंगे। पन्त ने 'पल्लव' में इन लाक्षणिक प्रतीकों का विशेष प्रयोग किया है। यथा—

"धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।"

यहाँ 'धूल की ढेरी' असुन्दर वस्तुओं के तथा 'मधुमय गान' गान के विषय अर्थात् सुन्दर वस्तुओं के प्रतीक हैं। तथा—

"चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारों में बच्चों की साँस॥"

यहाँ 'चाँदनी' मृदुलता एवं शीतलता का तथा 'बच्चों की सांस' भोलापन का प्रतीक है। प्रसाद के काव्य में भी इस प्रकार के प्रयोगों का बाहुल्य है। यथा—

"झँझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला॥"

यहाँ 'झंझा झकोर' क्षोभ और आकुलता का, 'गर्जन' वेदना की तड़प

का, 'बिजली' चमक या टीस का, 'नीरदमाला' अंधकार का, 'शून्य' शब्द हृदल के विशेषण के अतिरिक्त आकाश का प्रतीक है।

कुछ नवीन लेखकों ने भी जन-जीवन का करुण चित्र उपस्थित करने के लिये नवीन प्रतीकों का सहारा लिया है जिनमें उनकी वैयक्तिक छाप विद्यमान है। इन प्रतीकों का परम्परागत प्रयोग नहीं मिलता है। धर्मवीर भारती की एक कविता द्रष्टव्य है—

> "ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
> ये पागल क्षण,
> यह काम काज, दफ्तर, फाइल, उचटा सा जी, भत्ता, वेतन
> इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम,

यहाँ विकास प्रवण चेतना को फूल, जीवन को प्रशस्त एवं प्रकाशित करने वाली अपनी अन्तर्वेदना को मोमबत्ती और कभी न पूर्ण होनेवाली आकांक्षाओं अभिलाषाओं को टूटे सपने का प्रतीक माना गया है।

हिन्दी-गद्य-साहित्य में भी प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। प्रसाद का 'कामना' नाटक प्रतीकात्मक है। इसके समस्त पात्र विभिन्न भावनाओं के प्रतीक है। कुछ विद्वान 'कामायनी' को भी प्रतीकात्मक मानते हैं। इसी प्रकार 'नवरस' नामक नाटक में भी विभिन्न पात्रों को नवरसों का प्रतीक माना गया है। 'अम्बा' भी एक प्रतीकात्मक रचना है। इसमें 'भीष्म' पौरुष से उद्भ्रांत गर्वमण्डित पुरुष का तथा 'अम्बा', शोषित, दलित या अपनी स्थिति को समझने वाली नारी के प्रतीक हैं। आजकल कतिपय प्रयोगवादी कवि प्रयोगवादिता के जोश में नवीन-नवीन प्रतीकों का प्रयोग कर साहित्य में एक नवीनता उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञेय इनके अगुआ हैं।

प्राचीन एवं नवीन प्रतीकों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कबीर आदि निर्गुण मार्गी कवियों में एक ही वस्तु के अनेक प्रतीक मिलते हैं, जैसे—

मन—मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, सावज, हस्ती मतंगज आदि।

जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी आदि।

संसार—सायर, वन आदि।

माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया आदि इनके साथ ही कुछ प्रतीक निश्चित से है। जैसे अन्तः करण के लिये हरिणी, ज्ञान दृष्टि के लिये अग्नि, तत्व ज्ञान के लिये अमृत जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है।

छायावादी प्रतीकों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

विद्वानों ने साहित्य में प्रतीकों के प्रयोग को आवश्यक मानते हुए यह भी कहा है कि उनका प्रयोग भाव सौंदर्य और काव्य सौंदर्य को बढ़ाने में सहायक होना चाहिये। नवीनता की सृष्टि के लिये ऐसे नवीन प्रतीकों की उद्भावना जो सर्व साधारण की समझ से परे होते है, काव्य के लिये घातक होती है। डा० प्रेमनारायण शुक्ल काव्य में प्रतीकों की उपयोगिता का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—"साहित्य में कोई भी वाद क्यों न आए, अनुभूतियों-भावों की ऐसी सुरुचिपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति होनी चाहिए जो मानव हृदय को परितोष प्रदान कर सके। अतएव प्रतीकों को भी भाव अथवा विचार सापेक्ष होना चाहिए।"

३६—प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव अनादि काल से एक दूसरे के सहयोगी अथवा विरोधी होकर रहते आए हैं। वे परस्पर लड़े झगड़े भी और मिल कर एक भी हो गये। इस प्रकार प्रकृति मानव की आदि सहचरी है। सृष्टि के ऊषाकाल में जब आदि मानव ने अपने नेत्र खोले होंगे तो उसको सर्व प्रथम प्रकृति का ही साहचर्य और सहयोग प्राप्त हुआ होगा। "दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल-परुष, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षक-विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार क्रम में मानव जाति का भाव जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।" (महादेवी वर्मा)

हमारा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस प्रकृति के विविध रूपों की अवतार कथा है। वैदिक ऋषियों ने ऊषा, मारुत, इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, गिरि, सरिता, वन, उपवन जैसे सुन्दर गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों को देखकर आश्चर्यान्वित और भाव-विभोर होकर उनकी वन्दना की। साम-वेद की ऋचाएं इसकी साक्षी हैं। परन्तु मानव में प्रकृति ने अलौकिक और विस्मयकारी रूप को ही एकमात्र नहीं देखा था। बल्कि—"वह प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में अपने लघुतम अस्तित्व पर विचार कर रहा था कि यकायक प्रकृति ने अपना मनोमुग्धकारी रूप पलटा, अगाध जलनिधि ने अपनी फेनिल लहरों को उगलना आरम्भ किया और उसका गम्भीर निनाद मानव के कर्ण कुहरों को विदीर्ण करने लगा।........समस्त वातावरण में एक भय और आतंक छा गया।.... जो कुछ भी सौम्य और सुन्दर था वह रौद्र बन गया।.... मानव भय से कम्पित और जड़ हो गया।.... परन्तु प्रकृति का यह रूप भी स्थायी नहीं रहा, शान्त वातावरण का आभास होने पर मानव ने नेत्रोन्मीलन किया।.... उसके हृदय से भय के भाव तिरोहित हो गए। उसने प्रकृति को पुनः चिर सहचरी के रूप में देखा। सिन्धु, जलद, गिरि, सूर्य, पवमान आदि

में अन्तर्निहित माँगलिक भावना का भी उसने अनुभव किया।.... इस प्रकार उसने प्रकृति के उपादनों के अद्भुत, रौद्र, शिव एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर नवीन भावनाओं को ग्रहण किया।" (डा० किरण-कुमारी गुप्ता)

इस सहज सौन्दर्य बोध के उपरान्त, मानव के हृदय में, जो जिज्ञासा मूलक चिन्ता जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बनाकर घूमती रही। वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या साँख्य का द्वैतमूलक पुरुष-प्रकृतिवाद, सब चिन्तन सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं। क्रमशः मानव-मस्तिष्क अधिकाधिक विचार शील होता गया। उसकी यह विचार शीलता दो सरणियों में विभक्त हो गई—कवि और वैज्ञानिक! कवि ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया और प्रकृति को अपने आनन्द में उल्लसित एवँ कष्ट में विपन्न अनुभव किया। वह मानव हृदय की विभिन्न भावनाओं की क्रीड़ाभूमि बन गई। वैज्ञानिक ने प्रकृति के मूल में एक सर्व व्यापी चेतना का अनुभव कर उसके रहस्य को समझने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसने प्रकृति के बाह्य रूप का अवलोकन कर उसकी संचालिका शक्ति के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। साथ ही उसके मन में प्रकृति से संघर्ष कर उस पर विजय प्राप्त करने की इच्छा भी बलवती हो उठी। प्रकृति और विज्ञान का यह संघर्ष आदिकाल से लेकर अबतक बराबर चला आ रहा है। परन्तु कवि भावुक प्राणी होता है। वह वैज्ञानिक विश्लेषणादि एवं संघर्ष से दूर रहता है। उसका प्रधान उद्देश्य, काव्य के माध्यम से अपने मन पर प्रकृति के विभिन्न रूपों के पड़े हुये प्रभावों को ही व्यक्त करना है। इसी कारण काव्य में प्रारंभ से अब तक प्रकृति का एक विशिष्ट स्थान रहा है। भारतीय-काव्य का इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

वैदिक-साहित्य का निर्माण प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में हुआ था। आरण्यकों और उपनिषदों में उसी ज्ञान का लेखा जोखा है जो उनके रचयिताओं को प्रकृति के साहचर्य से प्राप्त हुआ था। इस काल तक प्रकृति बहुर्मुखी ही अधिक थी परन्तु परवर्ती काल में वह क्रमशः अधिकाधिक अन्तर्मुखी होती चली गई। परिणाम-स्वरूप सूत्रकाल में साहित्य से उसका बहिष्कार सा हो गया परन्तु संस्कृत के महाकाव्य काल में पुनः उसके सुन्दर स्वरूप के दर्शन हुए। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में अनेक स्थलों पर प्रकृति का अत्यन्त मनोरम चित्रण हुआ है।

बौद्धकाल में भी प्रकृति-वर्णन हुआ। 'मारविजय' में बुद्ध तथा काम-विजय के सम्बन्ध में प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किए गये हैं। बुद्ध-जातकों की अनेक घटनाएँ प्रकृति के प्रांगण में ही घटित हुई हैं जिनकी पृष्ठ-भूमि शुद्ध प्रकृति है। गुप्तकाल में प्रकृति-वर्णन एक निश्चित दिशा में आ गया। कालिदास ने 'कुमार सम्भव', 'रघुवंश' एवं 'मेघदूत' में प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र उपस्थित किए। कुमार सम्भव का प्रथम सर्ग विशुद्ध प्रकृति-वर्णन है। इस समय तक महाकाव्यों का निर्माण होने लगा था। महाकाव्यों में प्रकृति-वर्णन, नदी, सरोवर, वन, पर्वत, आदि का चित्रण शास्त्रकारों ने आवश्यक माना था। अतएव समस्त संस्कृत महाकाव्यों में उत्कृष्ट कोटि का प्रकृति वर्णन हुआ है। 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपाल वध', 'नैषधीय चरित' में प्रकृति के भिन्न-भिन्न चित्रों के रूप मिलते हैं। 'कादम्बरी' में तो श्लिष्ट प्रकृति चित्रण अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है।

प्रकृति-वर्णन की यह परम्परा हिन्दी साहित्य में नहीं आ सकी। इसका कारण था हिन्दी में महाकाव्यों का अभाव। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग से पूर्व केवल चार-पाँच महाकाव्य मिलते हैं। इनमें से 'पृथ्वीराज रासो' और 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन की महाकाव्य वाली पद्धति को ही अपनाया गया है। हमारे यहाँ के हिंडोला गीतों में बारहमासे के रूप में प्रकृति का सुंदर चित्रण बहुत प्राचीन काल से होता आया है जिसका रूप विद्यापति और जायसी में भी मिलता है। विद्यापति ने उद्दीपन रूप में प्रकृति को अपनाया था। जायसी ने मानव-जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित किया था। प्रकृति वर्णन तुलसी ने भी किया परन्तु उसमें उपदेश की भावना का प्राबल्य रहा। बाद में दीनदयाल गिरि आदि ने अपनी अन्योक्तियों में प्रकृति का खुल कर प्रयोग किया। रीतिकाल में प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में अपनाई गई। इस काल में वह न तो आलम्बन रही और न कल्पना का क्षेत्र।

आधुनिक युग के प्रकृति-वर्णन पर यूरोप का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यूरोप के प्रकृतिवादी कवियों से हिन्दी कवियों को प्रकृति वर्णन की नई प्रेरणा मिली। इसका यह रूप भारतेंदु और द्विवेदीयुग तक रहा। इसमें प्रकृति रूप का आलंबन प्रधान रूप से अपनाया गया। बाद में प्रकृति के प्रति विभिन्न नवीन दृष्टिकोण अपनाए जाने लगे। शुक्लजी ने 'बुद्धि चरित' में प्रकृति का चित्रात्मक वर्णन उपस्थित किया। हरिऔध एवं गुप्तजी ने अपनी प्रारम्भिक कृतियों में प्रकृति के चित्रात्मक वर्णन को ही अपनाया। गोपालशरण सिंह आदि ने प्रकृति के माध्यम से परोक्ष सत्ता तक पहुँचने का प्रयत्न किया। प्रकृति का उद्दीपन वाला

रूप भी अपनाया गया। 'रत्नाकर' ने उद्दीपन रूप के साथ ही साथ प्रकृति का अत्यन्त प्रभावोत्पादक चित्र उपस्थित किया। पन्त, प्रसाद, महादेवी, निराला आदि ने प्रकृति में अपनी विभिन्न मनोदशाओं का प्रतिबिम्ब देख कर उसे विभिन्न रूपों में चित्रित किया। इनमें प्रकृति कहीं पर तो प्रकृति-प्रिया के रूप में सहचरी, प्रेरिका एवं समस्त कोमल भावनाओं के आलम्बन रूप में उपस्थित हुई है और कहीं परोक्ष-सत्ता का रहस्यात्मक अवगुण्ठन हटाकर जीवात्मा के मिलन का आमन्त्रण देती है।

प्रकृति चित्रण के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने यह बात देखी कि एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों का प्रकृति के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रहा है। भक्ति काल में सूर ने अपने उपास्य कृष्ण के सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए उपमान रूप में प्रकृति का उपयोग किया। तुलसी श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर प्रकृति में ज्ञान और उपदेश ढूँढ़ते फिरे हैं। रीतिकाल में सेनापति, देव, बिहारी, घनानन्द आदि ने यद्यपि रीति परम्परा का पालन किया है किंतु उनके अभिव्यक्तीकरण में महान अन्तर है। आधुनिक काल में प्रकृति के उपासक प्रसाद, पन्त और निराला आदि ने प्रकृतिके भिन्न-भिन्न रूपों को अपनाया है। प्रसाद ने प्रकृति देवी के चरणों में समस्त वसुधा को समर्पित कर दिया है, पंत ने प्रेयसी प्रकृति की रूप सुधा का पान किया है। निरालाने उसे संवाहिका शक्ति मानकर उसमें मानवीय भावनाओं का आरोपण किया है। इस प्रकार जब एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों के दृष्टिकोण में इतना अन्तर हो जाता है, तो उनकी रचना को उनके दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना अत्यन्त दुस्तर कार्य प्रतीत होता है। फिर भी आलोचकों ने प्रकृति चित्रण के कुछ स्थूल वर्ग माने हैं, जैसे—आलम्बन, उद्दीपन, अलङ्कार, मानवीकरण, उपदेश और नीति का माध्यम, उसमें परम तत्व का आभास आदि।

विवेचन की सुविधा के लिए हम प्रकृति-चित्रण को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१—आलम्बन या यथातथ्य रूप में प्रकृति चित्रण, २—प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोप (मानवीकरण), ३—मानव भावनाओं और कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण जिसके अन्तर्गत प्रकृति कहीं अनुकूल बन कर आती है और कहीं प्रतिकूल, ४—उद्दीपन के रूप में, ५—प्रतीकात्मक रूप में, ६—बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में, ७—उपदेशिका के रूप में, ८—अलङ्कार प्रदर्शन के रूप में, ९—दूतिका के रूप में, १०—रहस्यात्मक रूप में, ११—

मानवीकरण के रूप में ।

१—प्रस्तुत रूप में या आलम्बन अथवा यथातथ्य चित्रण के रूप में—इस रूप में प्रकृति कवि के लिए साधन न बन कर साध्य बन जाती है । कवि प्रकृति का निरीक्षण करता और उसके सूक्ष्मतम तत्वों के प्रति आकर्षित होता है । वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का पृथक-पृथक परिगणन न कर सबको एकत्रित कर संश्लिष्ट वर्णन करता है । उसका मन प्रकृति दर्शन में रम जाता है । वह आत्मविभोर हो उठता है और अपनी तल्लीनता में हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त होता है । इस रूप में प्रकृति का वर्णन संस्कृत में बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि ने तथा हिन्दी में सेनापति, तुलसी, 'हरिऔध' पंत, प्रसाद, गुप्त और आचार्य शुक्ल आदि कवियों ने किया है । इसमें प्रकृति का शुद्ध वर्णन होता है । उसमें मानवी भावों का आरोप कहीं भी नहीं होता । आचार्य शुक्ल ऐसे वर्णन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं । हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही बनवास' नामक काव्य ग्रन्थ में आलम्बन रूप के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । उन्होंने प्रकृति के उग्र और रम्य दोनों रूपों का चित्रण किया है । रात्रि की भयंकरता और निस्तब्धता का रूप द्रष्टव्य है—

"समय था सुनसान निशीथ का, अटल भूतल में तम राज्य था ।
प्रलयकाल समान प्रसुप्त हो, प्रकृति निश्चल, नीरव शान्त थी ।।"

सौम्य तथा रम्य रूप—

"गिरीन्द्र में व्याप्त विलोकनीय थी बनस्थली बीच प्रशंसनीय थी ।
अनूप शोभा अवलोकनीय थी बसंत जम्बालिनि कल जम्बु की ।।"

प्रकृति के उपासक प्रसाद ने प्रकृति के विराट, भव्य एवं सरस सभी रूपों के दर्शन किए हैं । उन्हें प्रकृति में इतनी अधिक संवेदन शीलता का आभास मिला है कि वह उनके काव्य का एक प्रधान अङ्ग बन गई है । कामायनी में प्रकृति के इन विविध रूपों के सुन्दर दर्शन होते हैं । प्रकृति का विकराल रूप देखिये—

"पंचभूत का भैरव मिश्रण सम्पाओं के सकल निपात ।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ।।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास ।
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास ।।"

रम्य रूप—"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई ।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई ।।"

तथा

नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग ॥"

पन्त मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी विभिन्न कविताओं में प्रकृति के संश्लिष्ट रूप के सुन्दर चित्र मिलते हैं। वे प्रकृति के सौन्दर्य से इतने अभिभूत हो गए हैं कि उन्हें बाला के सुन्दर बाल भी आकर्षित नहीं कर पाते—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी नाता,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूं लोचन ?
भूल अभी से इस जग को ॥"

उन्होंने प्रकृति से प्रेम का सम्बन्ध तोड़ कर प्रेमिका के प्रेमपाश में बंध जाने में असमर्थता प्रकट की है। प्रकृति के सहज सौंदर्य के दर्शन से उन्हें मानव सौन्दर्य से अधिक आत्म-तुष्टि और आनन्द का अनुभव होता है। रीतिकालीन कवियों में केवल सेनापति ने ही आलम्बन रूप से प्रकृति चित्रण किया है। उनके ऋतु विषयक वर्णन इसके उदाहरण हैं।

२—प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोप—इसके अंतर्गत प्रकृति के उपादान अपने वास्तविक स्वरूप को बनाए रखकर केवल उन भावनाओं से युक्त दिखाई देते हैं, जो मानव-हृदय की वस्तुएँ हैं। जिस प्रकार प्रातःकाल मनुष्य शय्या से उठकर अपना मुख दर्पण में देखता है उसी प्रकार किरण भी सवेरा होने पर अपना मुख दर्पण में देखती है—

'किरणों ने कर दिया सवेरा,
हिमकण दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा, उठ पंकज पर पड़े पराग।"
(यशोधरा-गुप्त)

३-पृष्ठ भूमि के रूप में-आलम्बन रूप में किए गए प्रकृति चित्रण और पृष्ठभूमि के रूप में किये गए प्रकृति चित्रण में बहुत थोड़ा अन्तर है। आलम्बन रूप का कोई विशिष्ट प्रयोजन न होकर केवल मात्र प्रकृति का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करना होता है। किंतु पृष्ठभूमि के रूप में किया गया चित्रण सप्रयोजन होता है। उसमें मानवीय भावों की छाया होती है। 'वैदेही वनवास' में सीता के वन प्रवास से पूर्व, शान्त प्रकृति अकस्मात् उद्वेलित हो उठती है। उसके रूप में अमङ्गल की छाया आ जाती है—

"थी सब ओर शान्ति दिखलाती, प्रकृति नटी नर्तनरत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकता तरङ्गित थी ॥

उसी समय बढ़ गया वायु का वेग क्षितिज पर दिखलाया।
एक लघु जलद खण्ड पूर्व में जो बढ़ वारिद बन पाया॥

प्रसाद की कामायनी में इस रूप में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। मनु के हृदय की निराशा नष्ट होकर उसमें आशा का संचार हो रहा है। प्रकृति भी इसी आशा के संदेश से ओत प्रोत हो रही है— .

"उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी, जल में अंतर्निहित हुई।
वह विपन्न मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिरसे
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में, शरद विकास नए सिर से।"

४—उद्दीपन रूप में—इसमें प्रकृति कवियों केलिए अनुराग का विषय न होकर नायक और नायिका के अनेक भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र बन जाती है। प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की प्रबल शक्ति है। इसी शक्ति को लक्ष्य कर हमारे कवियों ने चिरकाल से प्रकृति का उद्दीपन रूप से वर्णन किया है। रस रास में चाँदनी और मलय समीर का तथा विरह में ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन इसी प्रवृत्ति का फल है। उद्दीपन रूप में प्रकृति की सुरम्य छटायें सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिलाकर विरह वेदना को और भी विषम बना देते हैं। इसी कारण उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण दो रूपों में मिलता है। १—जहाँ संयोगावस्था में प्रकृति प्रेमियों के आनंद की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। २—जहाँ प्रकृति विरहावस्था में विरहियों की विरह भावना को और उद्दीप्त करती है। परन्तु हमारे यहाँ अधिकाँशतः विप्रलंभ श्रृङ्गार में ही प्रकृति के उद्दीपनरूप का वर्णन हुआ है। जब नायक नायिका में उत्कृष्ट प्रेम होने पर भी प्रिय समागम नहीं होता तो विप्रलम्भ श्रृङ्गार की सृष्टि होती है। वियोग तीन प्रकार का होता है—मान, प्रवास और मृत्यु। कवियों ने अधिकतः प्रवास-जन्य-विरह का ही वर्णन किया है। तुलसी के राम सीता-विरह से व्याकुल होकर इसी अवस्था में—"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी।" कहते फिरते थे। "घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।" में राम प्रकृति की उद्दीपन शक्ति से व्याकुल होकर सीता की याद करते हैं।

सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के वियोग में तल्लीन बैठी हैं। उन्हें

रह रह कर पुरानी स्मृति आती है। प्राचीन क्रीड़ा स्थल उन्हें कृष्ण की याद दिलाते हैं।

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूले अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवन दधि सुत किरन भानु भई भुंजैं॥"

इसी प्रकार का वर्णन विद्यापति ने भी किया है—

"चयन चान तन अधिक उतापए उपवन बन उतरोली रे।
हमय बसंत कंत रहु दुर देश जानल विधि प्रतिकूले रे।"

संयोग शृङ्गार में प्रेमी-प्रेमिका का संयोग होने पर प्रकृति के दृश्य पारिस्परिक आकर्षण में वृद्धि करते हैं। शीतल-सुरभित समीर, चन्द्र ज्योत्स्ना, निर्झर तट, वृक्ष-पत्रों का मरमर शब्द और खग-कुल का कल-कूजन दोनों के आकर्षण में एक प्रकार की तीव्रता, सरसता और माधुर्य का संचार कर देते हैं। देव का एक पद द्रष्टव्य है—

"चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक कौं,
चाँदनी सी राधा बिछी चाँदनी विशाल है।
चन्द्र की कला सी देवता सी देवदासी,
सज्ज फूल से दुकूल पैन्हैं फूलन की माल है।
फूटत फुहारे वे अमल-जल झलकत,
चमकैं चँदोवा मणि-माणिक महाल है।
बीच अरतारन की हीरन की जगमगी,
ज्योतिन की मोतिन की झालर है।"

५– प्रतीकात्मक रूप में–कवि भावसाम्य के आधार पर प्रकृति के उपादानों में से कुछ ऐसे प्रतीक चुन लेता है जो उसके भावों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं जैसे अंधकारनिराशा का प्रतीक; प्रकाश = आशा का प्रतीक; दीपक = साधना का प्रतीक आदि। निम्नाङ्कित पद में प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीक रूप में अत्यंत सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
किसी फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह धूल हूँ,
दूर तुम से हूं अखण्ड सुहागिनी भी हूँ,

इसमें रेखाङ्कित शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

६—बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में—जहां प्रकृति के और मानव के कार्य कलापों में समता सी दिखाई देती है। गौतम पत्नी यशोधरा अपने पुत्र को गोद में बैठाकर गा रही है। गुप्त जी ने इसका दृश्य खींचते हुए कहा है—

"रवि पर नलिनी का, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तव जा रही।
वहाँ अङ्क में मधुप, यहाँ मैं, गिरा एक गुण गा रही।"

उधर नलिनी (कमलिनी) सूर्य की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रही है और इधर गोपी राहुल को गोद में लिये गौतम के ध्यान में बैठी है। उधर नलिनी के अङ्क में मधुप बैठा है और इधर राहुल। उधर मधुप ऊषा का गुण गा रहा है और इधर राहुल गौतम की प्रशंसा कर रहा है।

७—उपदेशिका के रूप में—मनुष्य ने प्रकृति के कार्य कलाप को अनेक रूपों में आदर्श मानकर उससे बल, ज्ञान और सान्त्वना प्राप्त की है। सर्वसहा पृथ्वी क्षमा और सहनशक्ति का आदर्श है। पर्वत चारित्रिक दृढ़ता के, पवन अनवरत सेवा-वृत्ति, का सरिता और वृक्ष परोपकार, मुक्तदान तथा समदृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। तुलसीदास को प्रकृति का प्रत्येक तत्व उपदेश देता सा प्रतीत होता है। प्रकृति उनके लिये एक गम्भीर गुरु की भांति आदर्श बन गई है—

"बरषहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।
दामिन दमक रही घन माँही, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।"

तुलसी के अतिरिक्त रहीम और वृन्द कवि ने भी नीति के दोहे लिखे हैं। उन्होंने प्रकृति से उपमा लेकर मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का वर्णन किया है और उसके सम्मुख नीति विषयक ज्ञान रखा है। गिरिधर कविराय और दीनदयाल की कुण्डलियाँ भी इसी प्रकार के नीति सम्बन्धी भावों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार के प्रकृति के उपयोग में यद्यपि प्रकृति का स्थान गौण हो जाता है और उद्देश्यात्मक भावना को प्रधानता मिलती है तथापि तुलसी आदि द्वारा इस प्रकार का प्रयोग खटकता नहीं है।

८—अलंकार प्रदर्शन के रूप में—अनादि काल से ही प्रकृति और मानव का साहचर्य होने के कारण कवि प्रायः सौंदर्य के सभी उपमान प्रकृति के क्षेत्र से ही ढूँढ़ता रहा है। वह निशापति की कलित किरणों में सुन्दर मुख की सी शीतलता प्राप्त करता है। मृग शावकों के नेत्रों में प्रिय के नेत्रों की सी सरलता का अनुभव करता है और मदमत्त गज की मंथर गति में अपने प्रिय

की गति का साम्य देखता है। इस प्रकार कवि जड़ और चेतन, प्रकृति और मानव में साम्य उत्पन्न कर देता है और प्राकृतिक वस्तुओं को चेतन मानव के शरीरांगों का उपमान बनने के कारण विशेष महत्व मिल जाता है।

कवियों ने मुख की उपमा शशि और कमल से दी है। केशजाल की उपमा मधुपगन से दी जाती है। पन्त ने मृणाल-तन्तु, मेघ, रेशम, लहर तथा अन्धकार आदि उपमानों का प्रयोग केशों के लिए किया है—

"घने लहरे रेशम के बाल,
मलिन्दों से उलझी गुंजार,
मृणालों से मृदु तार,
मेघ से सन्ध्या का संसार।"

नेत्रों की उपमा खंजन, मीन, कमल, तरङ्ग और मृग से दी जाती रही है। नासिका के लिये प्रायः शुक नासिका का प्रयोग हुआ है। दन्तपंक्ति के उपमान दाड़िम, मुक्ता, कुन्दकली और तारकावली हैं। इस प्रकार मानव सौंदर्य को व्यक्त करने के लिये कवियों ने प्रकृति के उपकरणों का ही चयन किया है। प्रसाद श्रद्धा का वर्णन करते हैं—

"नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रङ्ग॥"

रूपकालङ्कार—"देखो माई सुन्दरता को सागर।
तनु अति श्याम अगाध अम्बुनिधि कटि-पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भंवर परत अङ्ग अङ्ग॥"

उत्प्रेक्षालङ्कार—"अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मनमोहन मुख बगराई।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली घिर आई॥"

इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति, प्रतीप, अन्योक्ति, अपन्हुति आदि अलङ्कारों में प्रकृति के उपादानों का सहयोग है।

प्रकृति का उपमान अर्थात् अलंकार रूप में प्रयोग अप्रस्तुत रूप में होता है। प्रकृति और मानव के इस प्रकार के संयोग में प्रकृति का स्थान गौण हो जाता है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि कवि मानव-सौंदर्य को अतिरञ्जित करने वाले प्राकृतिक उपादानों के प्रयोग से केवल जड़ और चेतन, प्रकृति और मानव में साम्य ही नहीं स्थापित कर देता है अपितु प्रकृति के प्रति अपने हृदय का अनुराग और उल्लास भी प्रकट करता है। जहाँ कवि प्रचलित उपमानों का परम्पराभुक्त प्रयोग नहीं करता वहाँ तो उसका प्रकृति के प्रति उत्साह एक

अत्यन्त आकर्षक एवं मनोमुग्धकारी रूप में प्रकट होता है। प्रसाद का "खिला हो ज्यों बिजली का फूल" और "नील घन-शावक से सुकुमार" तथा गुप्तजी के "रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे ज्यों, प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते थे" आदि प्रयोग कवि हृदय का वास्तविक प्रेम व उत्साह प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के अलंकार काव्य के अलंकार मात्र ही नहीं हैं वरन् कवि हृदय की वास्तविक अनुभूति का परिचय भी देते हैं।

६.—दूतिका के रूप में—प्राचीनकाल से कवि प्रकृति के उपादानों से, दूत के रूप में, संदेशवाहक का कार्य लेते रहे हैं। कालिदास का मेघदूत इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। नागमती ने भी 'परेवा' के द्वारा अपना सन्देश भेजा था। हरिऔध ने पवन से दूत का कार्य लिया है। राधा कृष्ण के पास पवन के द्वारा अपना सन्देश भेजती है—

"ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।"
शोभावाली अमित कितनी कुंज पुंजें मिलेंगी।"

इससे आगे वह कहती है कि जब तुझे कृष्ण मिल जायँ तो उनसे मेरा सन्देश कह देना। गुप्तजी की यशोधरा अपना सन्देश नदी के द्वारा भेजती है--

"नदी प्रदीप दान ले।
कह देना इतना ही उनसे अब उनको पहचान ले।
धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले।"

१०—रहस्यात्मक रूप में—रहस्यवादी प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। प्रकृति और पुरुष को एक मान लेने की भावना भारत की प्राचीन परम्परा है। वैदिक काल से ही मानव ने प्रकृति में उसी परम तत्व के दर्शन किए हैं। प्रकृति के रुद्ररूप में उसने सर्व शक्तिमान् की भ्रू भङ्गिमा और पूर्ण प्रफुल्लित पुष्प में परमतत्व की मृदु मुस्कान का अनुभव किया है। "लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल" के अनुसार सकल वसुधा उसी चेतन शक्ति से अनुरञ्जित और अनुप्राणित प्रतीत होती है। जहाँ तक उनकी दृष्टि जाती है, सारी सृष्टि में उन्हें विश्वात्मा का ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। जायसी हृदय में ही, उस अखंड ज्योति के सकल लोक में दर्शन करते हैं—

"बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥"

आधुनिक कवियों ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। कवि प्रसाद के

मन में विश्वचक्र को देखकर जिज्ञासा होती है—

"महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण, किसका करते से संधान ॥

११—मानवी करण के रूप में—प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण है । सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना और क्रमशः सूर्य, सोम, मरुत, वरुण एवं इन्द्र आदि शुभ नामों से सम्बोधित करना मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है । अंग्रेजी की रोमांटिक कविताओं में इस प्रकार के चित्रों का प्राचुर्य है । अँग्रेजी की इसी रोमांटिक कविता के प्रभाव स्वरूप हिन्दी छायवादी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति का बाहुल्य दिखाई पड़ा है । छायावाद में, प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव भावनादि का आरोप किया गया है । छायावाद से पूर्व हिन्दी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती ।

कामायनी में प्रसाद ने 'धरा' को मानवती-वधू का रूप दिया है—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी ।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी ।"

पंत कुंज में बिखरी हुई किरण को देखकर उससे कहते हैं—

"अरे कौन तुम दमयन्ती सी हो तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें क्या छोड़ गया अलि नल-सा निष्ठुर कोई ।"

उन्होंने 'चाँदनी' की निम्न पंक्तियों में विचार मग्ना एकाकिनी सुन्दरी का चित्र अङ्कित किया है—

"नीले नभ के शतदल पर बैठी शारद-हासिनि ।
मृदु करतल पर शशिमुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिन ।"

निराला ने संध्या को सुन्दरी का रूप दिया है—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,"

उनकी 'जुही की कली' नामक कविता मानवीकरण के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से मानी गई है—

"विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न मग्न कोमल-तन-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में ।"

"इस प्रकार के मानवीकरण और मानवीय भावों के आरोपण को रस्किन जैसे अँग्रेजी आलोचकों ने हेत्वाभास (Pathetic Fallacy) कहा है। उनका कहना है कि प्रकृति जड़ है। उसके सब कर्म निर्बाध गति से हो जाते हैं। मानव वेदना अथवा उसके हर्षातिरेक का निर्जीव प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रकृति में इस प्रकार का आरोपण प्रकृति का हेत्वाभास मात्र है। कालिदास ने भी इसका अनुभव किया है और यक्ष द्वारा कहलवा दिया है— 'कामर्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु" (कामीजन प्रकृति में चेतन अचेतन का भेद भूल जाते हैं) परन्तु हम इस प्रकार के प्रकृति वर्णन को हेत्वाभास कह कर नहीं टाल सकते, क्योंकि अनादि काल से ही प्रकृति से सहचार रहने के कारण मानव कष्ट निवेदन और भावाभिव्यंजन प्रकृति से करता रहा है और अपने उत्कट प्रेम स्वरूप प्रकृति में प्रति स्पन्दन का अनुभव करता रहा है।"
(डा० किरणकुमारी गुप्ता)

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने प्रकृति चित्रण के विभिन्न प्रमुख भेदों का परिचय देने का प्रयत्न किया है। इन भेदों के अतिरिक्त इसके और भी कई भेद किए जा सकते हैं। प्रकृति चित्रण की प्रणालियाँ इतनी अधिक हैं कि उनको भेदोपभेदों में बाँटना अत्यन्त दुस्तर कार्य प्रतीत होता है।

प्रकृति चित्रण में प्राचीन काल से कविगण अनेक प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग करते चले आए हैं। इस स्वतन्त्रता को संस्कृत में 'कवि समय' और अँग्रेजी में पोइटिक कन्वैन्शन्स (Poetic conventions) कहते हैं। कवि समय का अर्थ है—कवियों का आचार अथवा सम्प्रदाय। कुछ ऐसी बातें हैं जो देश काल के सर्वथा प्रतिकूल हैं किंतु प्राचीन काल से कविगण उन्हें अपने काव्य में स्थान देते चले आए हैं। अतः इस प्रकार के प्रयोग देश और काल के विचार से सदोष होते हुए भी कवि समाज में मान्य हैं। प्राचीन काव्य में इस प्रकार की कवि-प्रसिद्धियां पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प आदि सभी से सम्बन्धित मिलती हैं। जैसे चन्दन के वृक्ष पर सर्पों का लिपटा रहना असत्य बात है परन्तु काव्य में इसका प्रयोग प्राचीन काल से अद्यावधि निरन्तर मिलता है। हिंदी में अधिकांश कवि प्रसिद्धियां प्रायः ज्यों की त्यों अवतरित हो गई हैं उनमें से मुख्य ये हैं—अशोक, चन्दन, कमल, कुमुद, कुन्द, चम्पक, कोकिल, चकोर, चकवा-चकवी, मयूर, चातक और हंस।

३७—गीतिकाव्य : स्वरूप और विकास

आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार कविता के दो भेद माने गये हैं—१-व्यक्तित्व प्रधान अथवा विषयीगत (Subjective) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत (Objective)। इसी भेद को स्वीकार करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास ने भी कविता के दो भेद माने हैं—"एक तो वह जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम विषय प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।" इसके अनुसार कविता के दो मोटे भेद हुए—भाव प्रधान और विषय प्रधान।

भाव-प्रधान कविता में कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है। भाव-प्रधानता के कारण उसमें गीतात्मकता का विशेष स्थान रहता है। इसी कारण इसे गीति-काव्य या प्रगीत-काव्य कहते हैं। अँग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहा जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण से काव्य के दो भेद किए गए हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से निर्बन्ध के भेद से श्रव्य काव्य के दो भेद माने गए हैं—प्रबन्ध काव्य और निर्बन्ध या मुक्तक काव्य। मुक्तक काव्य में मन की किसी एक अनुभूति, भाव या कल्पना का चित्रण किया जाता है। इस मुक्तक काव्य के भी दो भेद माने गए है—१ पाठ्य मुक्तक, २—गेय मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में विषय की प्रधानता रहती है। उसके छंद पाठ्य अधिक होते हैं, गेय कम। गेय मुक्तक में भावनाओं और वैयक्तिक अनुभूतियों के प्राधान्य के कारण रागात्मकता आ जाती है। ये स्वर, ताल तथा लय से बँधे हुए और गेय होते हैं। ये गेय मुक्तक ही गीतिकाव्य या प्रगीतकाव्य कहलाते हैं।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्योचित भाषा में प्रकट किया जाता है। व्यक्ति के

व्यक्तित्व और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों तथा भावों के, सजीव भाषा में साक्षात कराने की क्षमता ही प्रगीत काव्य की विशेषता है। व्यक्तिगत भाव और अनुभूति की तीव्रता उसमें रागात्मकता का समावेश कर देती है। गीति-काव्य की इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर महादेवी वर्मा ने गीतकाव्य का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" अतः गीतिकाव्य के तीन प्रधान लक्षण हुए—रागात्मकता, निजीपन और अनुभूति की प्रधानता। दूसरे शब्दों में हम इन्हें गेयत्व, स्वानुभूति का भाव और कोमल भाव की सघनता भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त तीनों विशेषताएं गीतिकाव्य की आभ्यन्तर और बाह्य विशेषताएं हैं। गीतिकाव्य की आभ्यन्तर विशेषता इस बात में है कि उसके भीतर आत्मा की,—अपनी निजी अनुभूति घनीभूत रूप में प्रकट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तु का हो पर गीति के भीतर आकर वह वस्तु का कल्पनागत वर्णन रह कर, कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है। उसके भीतर कवि की आत्मा और भावनाएँ ही प्रतिबिम्बित और झाँकती हुई मिलेगीं। इस आधार पर आत्मानुभूति को गीतिकाव्य की सबसे प्रमुख विशेषता माना जा सकता है।

इस आत्मानुभूति के अन्तर्गत कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताओं का आधार अवश्य ग्रहण करता है, परंतु वह आधार अलक्ष्य ही रहता है। कवि की सबल भावना हमारी अनुभूतियों और प्रेरणाओं को उकसाती हैं। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—"कवि की पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्त तथ्य देखती है जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। यह कवि की सूझ है, उसकी अन्वेषक शक्ति है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलने वाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु अपनी,—हृदय की संगी—हो जाती है, और अपनाव के साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएं उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुलाना कठिन है। वे जागकर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि इतना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।" इस प्रकार आत्मानुभूति गीतिकाव्य की आभ्यन्तर विशेषता है।

गीति काव्य की अन्य बाह्य विशेताएँ-रागात्मकता, वैयक्तिकता और कोमल भावों की सघनता भी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित हैं। अनुभूति की

तीव्रता कवि को गाने के लिए प्रेरित करती है और वह स्वाभाविक रूप से गा उठता है। अतः गेयता भी स्वतः सिद्ध सी है। गेयत्व का एक और रहस्य है। किसी भी भाव का अनुभव हम बार बार करना चाहते हैं। गीति की स्वर लहरियाँ बार बार वहीं जाकर अनुभूति पर प्रभाव डालतीं हैं। स्वर की दीर्घता और संक्षिप्तता अनुभूतियों को उकसाती है, उसकी कोमलता कानों को मधुर लगती है और संवादन कल्पना को सजग और विकसित कर देता है। इस प्रकार गीति की गेयता उसका आवश्यक गुण है।

गीतिकाव्य का सम्बन्ध हृदय से है। अतएव उसका अंतरङ्ग अथवा वस्तु तत्व हृदय के अनुरूप ही बहुत कोमल, सरल और भावना पूर्ण होना चाहिये। भावना की सुकुमारता के साथ ही साथ भाषा भी सरल, मधुर और व्यंजक होनी चाहिये। उसका प्रकरण सुन्दर, मनोहर संक्षिप्त होने पर ही प्रभावोत्पादक बनता है। उसमें कल्पना का नवीन और उन्मुक्त होना भी आवश्यक है। भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए जिससे उसका प्रभाव अधिक से अधिक पड़े। साथ ही भाव विच्छिन्न और अस्पष्ट न हों। सुकुमारता की रक्षा के लिये संगीत का प्राधान्य तथा कोमलों रसों का समावेश होना अत्यधिक आवश्यक है। इसीलिए शांत, शृङ्गार और वात्सल्य गीतिकाव्य के प्रिय रस रहे हैं। उपर्युक्त सम्पूर्ण विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का चित्रण, प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता और व्यंजकता, शब्दों का मधुरचयन, भाषा का भावना से सामंजस्य, साक्षात् प्रभाव और संक्षिप्तता। उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर गीति काव्य की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की जा सकती है—'कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति, जब मधुर शब्दों द्वारा स्वाभाविक गीतिमय और गेय स्वर लहरी में तीव्रता के साथ प्रकट होती है तो उसे गीति कहा जाता है।'

यहां गीतिकाव्य से सम्बन्धित एक भ्रम का निराकरण कर लेना चाहिए। साधारणतः यह समझा जाता है कि प्रत्येक गीत या गान गीति-काव्य के अन्तर्गत ले लिया जाता है। परन्तु गीतिकाव्य की परिधि में केवल वही पद आ सकते हैं जो कवि की अपनी अनुभूति को अपने रूप में प्रकट करने वाले हों, अन्य पद नहीं। इसी प्रकार कवि के स्वानुभूति सम्बन्धी वे कथन भी इसके क्षेत्र के बाहर हैं जो सहज तथा स्वाभाविक नहीं। साथ ही जो गाए नहीं जा सकते या जिनमें नीति, उपदेश या किसी प्रकार का वर्णन रहता है। गान को इसके अन्तर्गत इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि गान या पद उन्हें कहते हैं जो

संगीत के स्वरों के नियमानुसार, साज पर या बिना साज की सहायता से भी गाए जा सकें—उनमें आत्मानुभूति हो या न हो। गीति में आत्मानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है।

गीति को हम दो वर्गों में भी विभाजित कर सकते हैं— १—शुद्ध गीति और २—प्रगीत मुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति निरूपण करने वाले गीत आते हैं जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति, टेक के रूप में, पद पूरा होने पर दुहराई जाती है। प्रगीत मुक्तक में अन्य छन्द हैं जिनमें स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन, संगीतात्मक शब्दों में होता है; वे ललित स्वर के साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर सेट कर के साज पर चाहे न गाए जा सकें। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय साहित्य का अधिकांश गीतिकाव्य गीति के क्षेत्र से बाहर है क्योंकि उसमें उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलतीं। विद्यापति एवं अन्य कृष्णभक्त कवियों ने राधाकृष्ण की लीला का वर्णन एक दर्शक के रूप में किया है और पद के अन्तिम चरण में अपनी छाप डालने के साथ यह भाव भी प्रकट कर दिया है कि उस वर्णन में भी कहीं दर्शक के रूप में और कहीं वर्णन करने वाले के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार पूरे गीत में कवि की स्वानुभूति अपने रूप में न होकर दूसरे की अनुभूति के रूप में हुई है। अतः ऐसे पदों को शुद्ध गीति भावना के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। सगुणोपासक भक्त कवियों के गीतों में जहाँ भी राम या कृष्ण की लीला का वर्णन है वहाँ पर न सूर और न उनके साथियों में और न तुलसी में ही शुद्ध गीति भावना पाई जाती है। केवल इनके विनय गीतों में ही गीति-भावना का सहज रूप विद्यमान है। सूर के विनय के पदों एवं तुलसी की विनयपत्रिका के अधिकांश पदों में विनय-गीति की उत्कृष्ट भावना खेलती मिलती है।

विद्वानों ने आकार और वृत्ति के अनुसार गीति-काव्य को निम्नलिखित बारह वर्गों में विभाजित किया है—

१—प्रेमगीत, २—व्यंग्य गीत, ३—धार्मिक गीत, ४—शोक गीत, ५—युद्ध गीत, ६—वीर गीत, ७—नृत्य गीत, ८—सामाजिक गीत, ९—उपालम्भ गीत, १०—गीति नाट्य, ११—सम्बोधन गीत और १२—सानेट चतुर्दश पदी गीत। इन वर्गों के अतिरिक्त हिन्दी में आजकल राष्ट्रीय गीत, उपदेशात्मक गीत, विचार-प्रधान गीत आदि अनेक प्रकार के गीत और लिखे जाने लगे हैं।

गीतों के उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकारों को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-लोक गीत और साहित्यिक गीत। गीतिकाव्य की उत्पत्ति

वास्तव में लोक-गीतों के रूप में हुई थी। साहित्यिक गीत उसी का विकसित रूप है। लोक गीत जन-साधारण के जीवन के अधिक निकट और उससे घुले मिले रहते हैं। उनमें जीवन की वासना, घृणा, प्रेम, लालसा, उल्लास, विषाद आदि की उन प्रारम्भिक अनुभूतियों का चित्रण होता है जिन पर सामाजिक शिष्टाचार का प्रभाव नहीं होता। उनमें वर्णन शैली आदि की कृत्रिमता न होकर पूर्ण स्वाभाविकता होती है। न इन पर साहित्यिक रूढ़ियों और प्रतिबन्धों का ही कोई प्रभाव होता है। वे मानव-मन की सहज स्वाभाविक अनुभूतियों के अधिक निकट होते हैं। इसीलिए उनमें हमारे भावों, अनुभूतियों और जीवन का शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ प्रकट होता है। "लोकगीत वस्तुतः उस मानव-संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत है। इसीलिए लोकगीत किसी भी देश की जन-संस्कृत विचारधारा और चिंतन पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।" (साहित्य-विवेचन)

लोक गीत गीतिकाव्य की अविकसित और साहित्यिक गीत विकसित अवस्था है। लोक गीत का गायक सामाजिकता में अपने व्यक्तित्व को तिरोहित कर देता है। ये लोक गीत विभिन्न संस्कारों, उत्सवों, शारीरिक श्रमों के अवसरों, घरेलू कार्यों आदि सभी मौकों पर गाए जाते हैं। इनमें हृदय का उत्साह और मनोरंजन की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। दूसरे लोकगीत पारिवारिक सम्बन्धों से सम्बन्धित रहते हैं जिनमें स्त्रैण भावना का प्राधान्य रहता है। साहित्यिक गीतों में कोमलता मिश्रित पौरुष भावना का प्राधान्य पाया जाता है। ये गीत विशिष्ट वर्ग के होने के कारण इनका प्रभाव क्षेत्र सीमित रहता है। इसके विपरीत लोक गीत सामाजिक जीवन के अधिक निकट होने के कारण अपने प्रभाव-क्षेत्र का निरंतर विस्तार करते रहते हैं। इनमें कवि का व्यक्तित्व सामाजिक सत्ता में समाविष्ट हो जाता है जब कि साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है।

गाँवों में प्रेम, संयोग-वियोग, विवाह, बेटी की विदाई आदि से सम्बन्धित अनेक सुन्दर लोक गीतों का प्रचलन है। यद्यपि उनमें कलात्मक सौंदर्य अधिक नहीं रहता परंतु उनके भाव सौंदर्य की तुलना में अधिकांश साहित्यिक गीत फीके पड़ जाते हैं। एक गीत द्रष्टव्य है—बेटी की विदा का प्रसंग है। ससुराल जाते समय बेटी अपने मायके के लोगों के भावों का संकेत कितने मार्मिक ढङ्ग

से करती है—

> "सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रंगायो अनमोल।
> माया ने दीनों नौ मन सौनवां कि ददुली ने लहर पटोर॥
> भय्या ने दीनो चढ़न को घोड़िला भौजी मोतिन को हार।
> सावन सेंदुरा ... . ॥
> माया के रोवे ते नदिया बहति है ददुली के रोये सागर पार।
> भैया के रोये ते पटुका भींजत है भौजी के दुइ दुइ आँस॥
> सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रंगायो अनमोल॥"

पारिवारिक संस्कृति की विशेषता को लेकर चलने वाली भावधारा इस गीत में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य उतना ही प्रखर है। इसी कारण हमारे लोक गीतों का जितना साँस्कृतिक महत्व है उतना साहित्यिक गीतों का नहीं। साथ ही स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता, और गहरे पारदर्शी एवं हृदय द्रावक संकेतों से जितने हमारे लोकगीत ओत प्रोत हैं, उतने साहित्यिक गीत नहीं। आज हिंदी में लोक गीतों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक विद्वानों, पर्यटकों आदि ने इस क्षेत्र में कठिन परिश्रम द्वारा उनका संग्रह किया है। यहाँ लोकगीतों का विवेचन इसलिये अपेक्षित था कि अधिकाँश विद्वान गीति-काव्य के इस सर्वाधिक उपयोगी एवं सर्वश्रेष्ठ अंग को गीत काव्य का विवेचन करते समय उपेक्षा की दृष्टि से देखते आए हैं। लोकगीतों का प्रचलन साहित्यिक गीतों से बहुत पुराना है इसलिए हिंदी गीतकाव्य के विकास के साथ साथ इनका विकास दिखाने से निबंध का कलेवर बढ़ जाने का भय था। अब हिंदी गीतिकाव्य के विकास का संक्षिप्त इतिहास भी अपेक्षित है जो निम्नलिखित है—

हिंदी गीतिकाव्य अपनी परम्परा के लिये संस्कृत साहित्य का ऋणी है। इसका इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है। सामवेद संगीतात्मक गीतों का ही संग्रह है। स्वयं वेदों के गायकों ने वेदों को गीत कहा है। वेदों के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिये, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छंदों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मंत्रों में सौंदर्य भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र विषय मंत्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। उषा-विषयक ऋचाएं नितांत, सरल, सहज तथा भव्य भावना से परिपूर्ण हैं। उनमें उषा के विभिन्न रूपों का

चित्रण है। एक श्लोक द्रष्टव्य है—कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—

"कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥

ऋग्वेद १।१२३।१०।

अर्थात् 'हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भांति अत्यंत आकर्षण-मयी बन कर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित वदना युवती की भांति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो।' यहां कवि की मानवी करण भावना अत्यंत प्रबल हो उठी है। यहां उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस प्रकार के सुन्दर भावपूर्ण गीतों से ओत प्रोत है।

श्री मद्भागवत गीता में आकर गीत शब्द का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ। गीता का अर्थ भी यही है कि जो गाया जासके या गाया गया हो। वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेरी गाथाओं का स्थान आता है। उनमें वैराग्य के प्रति हार्दिक राग और उत्साह है। वास्तव में गाथा शब्द का अर्थ भी गीत ही है। कबीर पर इन थेरी गाथाओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिए 'थेरी गाथा' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"काल का भवरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवख्य सदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा॥"

अर्थात् भौंरे के समान मेरे काले, चिकने और घुंघराले, केश बुढ़ापे के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गए हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है। सत्यवादी की यह बात झूठ नहीं है।'

बाल्मीकि रामयण को गेय और पाठ्य दोनों ही माना गया है। कालि-दास का मेघदूत खण्डकाव्य होते हुए भी उसमें वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता है जो उसे गीतिकाव्य के निकट खींच लाती है। इससे आगे चलकर प्राकृत और अपभ्रंश में गीतों की यह परम्परा अक्षुण्ण रही। इस काल में वीर रस के ओजपूर्ण और प्रेम के कोमल गीतों की रचनाएँ हुईं किंतु वीर गीत भावों की न्यूनता के कारण साहित्य में अच्छा स्थान नहीं पा सके। हिंदी के आदि युग तक इन वीर गीतों का खूब प्रचलन रहा परंतु बाद में वासना के साथ ही

वे लुप्त हो गए।

संस्कृत में गीतिकाव्य का वास्तविक, संस्कृत और उन्नत रूप गीत गोविन्दकार जयदेव में मिलता है। उनके गीत राग-रागनियों में बंधे हुए हैं। उनमें कोमल-कांत-पदावली द्वारा अत्यन्त सरस गीतों की रचना की गई है। जयदेव माधुर्य को अपनी कविता का सबसे बड़ा गुण समझते थे और उसी माधुर्य के कारण उनका नाम आज तक संस्कृत के प्रमुख गीतकारों में सम्मान पूर्वक लिया जाता है। जयदेव से यह परम्परा विद्यापति और चण्डीदास को मिली। विद्यापति के पदों में पद-लालित्य, सरस राग, हृदय का रस और उक्ति वैचित्र्य सभी कुछ है। विद्यापति जयदेव से प्रभावित अवश्य हैं परन्तु जयदेव के गीतों में लोक-सुलभ भावना उतनी साफ और सीधी शैली में नहीं उतर पाई है। जितनी कि विद्यापति में। विद्यापति के गीतों में यद्यपि अलंकार, रस, नायिका, भेद साहित्यिक प्रयोग आदि परम्परागत हैं, उनकी शैली प्राचीन संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव से ओत प्रोत है, फिर भी वे लोक-गीति-परम्परा के बहुत अधिक समीप हैं। इसी कारण भाव-सौंदर्य, भाव-विस्तृति, संगीतात्मकता और वेदना की तीव्रता में जयदेव कभी कभी उनसे पीछे रह जाते हैं। विद्यापति का एक पद द्रष्टव्य है।

"नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर।
घिरे घिरे मुरली बजाव॥
समय संकेत निकेतन बइसल।
बेरि बेरि बोल पठाव॥
सामरि तोरा लागि, अनुखन विकल मुरारि।
जमुना क तिरे उपवन उदवेगल, फिरि-फिरि तथहि निहारि।
गोरस बेचए अइबत जाइत, जनि - जनि पुछ बनमारि॥"

इसी प्रकार के गीतों से प्रभावित होकर विद्वानों ने हिन्दी-गीति-काव्य की स्वतंत्र परम्परा का विकास विद्यापति से माना है।

विद्यापति के उपरांत हिंदी में गीतिकाव्य के दर्शन सर्व प्रथम कबीर आदि सन्त कवियों के काव्य में होते हैं। कबीर ने विरह निवेदन के रूपमें सुन्दर गीतों का सृजन किया है। थेरी गाथाओं की दुख वादी वैयक्तिक भावना कबीर के पदों में एक उन्नत रूप में प्रकट हुई—

"बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥

आनन भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी कूँ कामिनि प्यारी ज्यूँ प्यासे को नीर रे॥

किंतु वैयक्तिक भावना का आरोप होते हुए भी निराकार आराध्य होने के कारण वह आत्मीयता कबीर में नहीं छू सकी, जो कि मीरा में साकार प्रेमी के लिए आत्म-निवेदन में है। कबीर के—

"साँई बिन दरद करे जो होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख रोय॥"

से मीरा के—

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब ते तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन॥"

में कहीं अधिक मार्मिकता है।

विद्यापति और कबीर की गीति-परम्परा का प्रभाव सूर पर अधिक पड़ा। सूर में भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है इसलिए उनके गीतों में विदग्धता और तन्मयता की मात्रा बहुत गहरी है। सूर के पदों में वात्सल्य, शांत और शृङ्गार रस की प्रधानता के साथ आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन एवं बाल-यौवन के शृङ्गारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के होते हुए भी हार्दिकता के योग से उन पदों का गीत-सौन्दर्य विशेष निखर सका है। कृष्ण के वियोग में विरहिणी गोपियों की आँखें निरन्तर आँसू बरसाती रहती हैं—

"निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जब तैं स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर-कपोल भए कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहौं उर बिच बहत पनारे॥"

विरह की यह एक सार्वभौम दशा है और शब्दों में उसकी वही सजीवता और मार्मिकता सूर की भावुकता से जीवन्त हुई है। तुलसी में इस तरह की भावुकता की कमी तो नहीं है लेकिन उनमें सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में वैयक्तिक, रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। 'विनय पत्रिका' के गीतों की तन्मयता और उल्लास गीति-काव्य की अमूल्य निधि है। नीचे की पंक्तियों में आत्म समर्पण की कितनी सहज अभिव्यंजना हुई है—

"जाउँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे॥"

रीतिकालीन काव्य में (जैसे रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर

आदि) हमें स्वानुभूति के दर्शन लौकिक प्रेम के आश्रय में होते है पर उनमें भी कृष्ण भक्ति की छाया है। इन गीतों को हम शुद्ध, गीति काव्य के अन्तर्गत न मान कर प्रगीत मुक्तकों में मान सकते है क्योंकि इनमें कोमल भाव का घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और संगीतात्मक मधुर शब्दावली के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त रीतिकालीन शेष साहित्य में गीतों का विकास रुक सा गया।

मध्यकालीन गीति कविताका सबसे बड़ा दान हिंदी साहित्य को यह मिला कि व्यक्ति के अपने हास-रोदन के माध्यम में सामूहिक दुख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन दिनों जब लोक-सवेद्य भक्ति गीतों की बाढ़ सी आई हुई थी लोक-जीवन की सांगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान के प्रयत्न भी चल रहे थे। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का शृङ्गार दिया जा रहा था। संगीत को नई-नई राग-रागिनियों का जामा पहनाया जा रहा था। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी को समान अधिकार मिल रहा था। रीतिकालीन अलंकारिक मोह से गीत सौंदर्य को धक्का अवश्य लगा, किंतु उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दु युग ने गीतों के सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली।

आधुनिक युग में भारतेन्दु काल से पुनः गीतिकाव्य का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु एवं सत्यनारायण ने व्रज भाषा की पद शैली में राधा कृष्ण की प्रेमानुभूति में सुन्दर गीत रचे। इस प्रकार के गीतों में वियोगी हरि के गीत भी सुन्दर और मार्मिक बन पड़े। यद्यपि इनके पहले भी गीतों में परिवर्तन होने लगा था किंतु उसका पूर्ण विकास प्रसाद युग में आकर हुआ। अतएव शुद्ध रूप में आधुनिक गीति काव्य का प्रारम्भ प्रसाद से ही माना जा सकता है। द्विवेदी युग भारतेन्दु युग और प्रसाद युग का सन्धि काल है। इस युग में वस्तुतत्व और वर्णन प्रणाली का ही प्राधान्य रहा। इस युग के गीतिकारों में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त प्रधान हैं। गुप्तजी ने किसी स्वतंत्र गीति-काव्य की रचना नहीं की। उनके गीत प्रबन्ध काव्यों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। साकेत और यशोधरा के कतिपय गीत हिंदी गीति-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह की 'कादम्बिनी' के कतिपय गीति तथा शिवाधार पांडेय के गीत सहृदयता से ओतप्रोत हैं। द्विवेदी युग का गीति काव्य का प्रच्छन्न स्रोत छायावाद में आकर पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हो सका।

प्रसाद युगीन गीतों का विवेचन करने से पूर्व भक्तिकालीन गीतिकाव्य और आधुनिक गीतिकाव्य का पारस्परिक अन्तर देख लेना आवश्यक है। यह ऊपर कह आए हैं कि भक्तिकाल में शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली। उसी समय से शास्त्रीय संगीत का संस्कार कर उसे लोक-ग्राह्य बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। महाराष्ट्र के भातखंडे स्कूल और बंगाल के टैगोर स्कूल ने काव्य और संगीत की संगति-के लिए उसका परिष्कार प्रारम्भ किया। इस पर अँग्रेजी संगीत का भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव संगीतात्मकता पर ही नहीं पड़ा, बल्कि काव्य के अन्तर-दर्शन पर भी उसकी छाप पड़ी। गीति-कविता धीरे-धीरे सामूहिक धरातल से हटकर आत्मनिष्ठ बनती गई। अब उसमें संगीतात्मकता गौण होकर उसका प्रधान उपजीव्य हृदय के भाव बने। इस प्रकार पिछले गीतों से यह पूर्णतया पृथक सी हो गई। इसने अपनी पृथक स्वतंत्र सत्ता कायम करली। भक्तिकालीन गीत मुख्यतया गाने के लिए रचे गए थे। आज की गीति कविता मुख्यतया कविता है, संगीत नहीं। इसके गीतों में अनुभूति होती है। उन गीतों की अन्तर वस्तु प्रेम था, इनका आधार अनन्त जगत है। उनकी वैयक्तिक अनु-भूति परोक्ष होती थी, इनकी प्रत्यक्ष है। छायावाद ने आकर तो गीतिकाव्य को विषय, भाव और वैचित्र्य की दृष्टि से छन्द और सांगीतिकता का बहुत बड़ा वैभव प्रदान किया। स्वानुभूति मात्र अपने सुख-दुख, विरह-मिलन के हास-अश्रु की लड़ियों का ही श्रृङ्गार नहीं करती—देशात्मबोध, मानवीयता, प्रकृति-चित्रण, आत्मदर्शन आदि की विविधता से वह ऐश्वर्यशालिनी है। नवीन छंद नई ध्वन्यात्मकता, नई उपमाएँ, अभिव्यंजना के नए प्रकार, नई अर्थशक्ति, आदि के समावेश से यह समृद्ध बन गई है। अस्तु,

प्रसाद ने अपने नाटकीय गीतों के रूप में अत्यन्त सुन्दर गीत लिखे। "अरुण यह मधुमय देश हमारा" गीत अपनी मधुरिमा और भाव प्रबलता के लिए प्रसिद्ध है। पन्त, निराला और महादेवी ने गीतिकाव्य के इस नवीन रूप में संगीत के प्राण फूँके। महादेवी की भाव-प्रबलता और तन्मयता उनके स्फुट गीतों में साकार हो उठी। गुप्त, प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा, नवीन आदि के गीत संगीत की देशी प्रणाली पर अवस्थित हैं। सूर, तुलसी और मीरा की गीत शैली से उनमें विशेष भेद नहीं है। किंतु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न संगीत की सृष्टि की। बंगाल में टैगोर स्कूल ने जिस प्रकार गीतिकाव्य में संगीत के नए प्रयोग किए, उसी प्रकार यह कार्य हिंदी में पन्त और निराला ने किया। 'ज्योत्स्ना' के नाट्य गीतों के बाद 'युगान्त' से

पन्त की काव्य धारा बदल गई। अतः गीतिकाव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला अभिव्यक्ति के प्रति जितनी सचेष्ट है उतनी अभि-व्यक्ति के प्रति तन्मयता नहीं है। उनकी 'गीतिका' के गीतों में रागात्मक उत्तेजना के स्थान पर सांकेतिक अभिव्यंजना गहरी हो गई है, तन्मयता के बजाय संगीतात्मकता का प्राधान्य है। महादेवी के गीत सहज गतिशीलता, आत्म विस्मृति, भाव-विदग्धता और संगीत में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी रचनाओं में वाणी की प्रधानता और चित्रात्मकता का अनोखा सौंदर्य है, इसलिए उनमें रस और सौंदर्य का अपूर्व सम्मिलन घटित हुआ है। पंत में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है, गीति प्रतिभा अपेक्षाकृत कम। शब्द-सौंदर्य, चित्रात्मकता, लाक्ष-णिक वैभव, ध्वन्यात्मकता आदि में पन्त अप्रतिम हैं किंतु जिस तीव्र आत्मा-नुभूति से गीति कविता का जन्म होता है, पन्त में उसका अभाव है।

प्रसाद और निराला आधुनिक गीति युग के दो छोर हैं—महादेवी बीच की कड़ी।

इन कवियों ने प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन करते हुए अत्यन्त भावुक गीतों का निर्माण किया है। प्रकृति को सचेतन रूप में देखने वाले कवियों में पन्त और महादेवी प्रमुख हैं। दिनकर, नवीन, नेपाली, अंचल, सुमन, रांगेय राघव आदि कवियों के गीतों में देश-प्रेम और नव-जागरण का स्वर प्रबल है। इनमें आवेश की प्रधानता है। प्रसाद और पन्त में आवेश के स्थान पर सांस्कृतिक एवं कोमल भावनाओं का ही प्रकाशन हुआ है जो गीतिकाव्य का सार है।

हमारे छायावादी गीतों पर अँग्रेजी के कवियों, विशेषकर वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन आदि का विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतों का विकास हुआ। साथ ही नारी प्रेम का समावेश भी इसी काल में हुआ है। नारी के सौंदर्य और प्रेम का चित्रण तो पहले भी हुआ करता था परंतु उस चित्रण में प्रगीतात्मकता नहीं आने पाई थी। नारी के सौंदर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शान्ति, सहनशीलता एवं संवेदनशीलता आदि गुणों की ओर संकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति इस युग में हुई परंतु प्रधान आकर्षण नारी के रूप सौंदर्य का ही रहा।

'बच्चन' की 'मधुशाला' एक भिन्न प्रकार के मस्ती और खुमार से भरे हुए गीतों को लेकर आई परंतु यह खुमार शीघ्र ही समाप्त हो गया। इसके पश्चात उनके 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' आदि में सुन्दर, स्वस्थ एवं संयत

गीतों के दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट, रामशंकर शुक्ल, तारा पांडेय, नरेन्द्र, आरसी, केसरी, सुमन, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, नेपाली, अंचल, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती आदि अच्छे गीतिकार है। इनमें कुछ छायावादी है और कुछ प्रगतिवादी तथा अन्य प्रयोगवादी। युवक वर्ग अधिकांशतः प्रगतिवादी हैं। प्रगतिवादी और छायावादी गीतों में प्रधान अन्तर यह यह है कि आज वासना नग्न रूप में झाँकने लगी है जब कि छायावाद में उस पर कला का आवरण पड़ा हुआ था। आज के गीतों में कला का स्तर ऊँचा नहीं है।

गीतिकाव्य का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध आलोचक हंस कुमार तिवारी ने विभिन्न प्रकार के गीतिकारों एवं गीतों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि— "फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि गीति-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजन-संबंध विशेषता की अनिवार्यता है वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनीयता में, न संगीतात्मकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से घुल मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे।"

३८—शैली और व्यक्तित्व

शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले शैली की संक्षिप्त रूप रेखा समझ लें। प्रस्तुत विवेचन से शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा—

काव्य के लिये दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार। वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को ही शैली कहते हैं। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है, जितना कि 'म्यांउ' की ध्वनि का बिल्ली से। तलवार की धातु और उसका आकार प्रकार, जिसमें उस तलवार का स्थूल रूप शामिल है, अलग नहीं किया जा सकता है। यदि वस्तु है तो उसका कोई न कोई आकार होगा और यदि आकार है तो किसी न किसी पदार्थ का होगा। साहित्य की उत्पत्ति भाव, विचार और कल्पना द्वारा होती है। यदि यह भाव, विचार और कल्पना हमारे मन में ही उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो। मनुष्य अपने विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। शैली ही इसे साकार रूप देती है।

साहित्याचार्यों ने शैली के अनेक उपकरण माने हैं—शब्द, वाक्य, गुण, वृत्तियां और रीतियां, अलङ्कार, पद-विन्यास, छन्द, शब्दशक्ति। इन उपकरणों के संस्कृत एवं सम्यक उपयोग द्वारा ही एक श्रेष्ठ एवं परिष्कृत शैली की उत्पत्ति होती है। शब्द—भाषा का मूल आधार शब्द है, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व माना जाता है। अनुभव के साथ ही साथ लेखन-शैली की वृद्धि होती जाती है और भाषा में शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। शब्द शक्ति का उन्नततम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होगा जहां लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी से बड़ी गम्भीर और भाव पूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः शब्दाडम्बर ही अधिक दिखाई पड़ता है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों में समानता आ जाती है। प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट

देख पड़ती है। इस लिए शैली में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य रचना हो सकती है। हम किसी कवि या लेखक के ग्रन्थ को ध्यान पूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, शब्दों का कैसा प्रयोग किया है, और कहां तक वह इस कार्य में दूसरे से बढ़ गया है या पीछे रह गया है। बहुत से विद्वानों का योग्यता का माप दण्ड यह होता है कि अमुक लेखक ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु शब्दों की संख्या के स्थान पर उन शब्दों के प्रयोग के ढङ्ग पर ही शैली की श्रेष्ठता निर्भर करती है।

भारतीय आलोचकों ने शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी हैं। परंतु स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अन्तर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व सामर्थ्य, या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतः वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से होना चाहिए जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हमें प्रयोग करना चाहिए। वाक्यों की रचना में शब्दों के संगठन तथा भाषा की प्रौढ़ता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। इन दोनों गुणों का होना आवश्यक है। वाक्य बहुत बड़े तथा लम्बे न होने चाहिए उनके बहुत अधिक विस्तार से सङ्गठनात्मक गुणों का नाश हो जाता है। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वाँछनीय है। वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु 'अवधारणा का संस्थान' है, अर्थात् इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। अवधान को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से सम्पन्न हो जाता।

शौर्यादि की भांति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है। अलंकार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी हैं। काव्य शास्त्र में शैली का विभाजन गुणों के आधार पर हुआ है। भरत, वामन आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ के दस दस गुण माने जाते हैं और भोज ने तो उनकी संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। परन्तु प्रधान रूप से गुण तीन ही हैं—माधुर्य, ओज और

प्रसाद। इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है। माधुर्य का द्रुति, द्रवणशीलता या पिघलाने से, ओज का दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से और प्रसाद का विकास से अर्थात् चित्त को खिला देने से। प्रसाद का अर्थ ही है प्रसन्नता। प्रसाद तो सभी रचनाओं के लिए आवश्यक गुण है। इसलिए जहाँ माधुर्य और ओज का तीन तीन रसों से सम्बन्ध माना गया है वहाँ प्रसाद का सभी रसों से माना है। सूखे ईंधन में अग्नि के प्रकाश की भांति प्रसाद गुण द्वारा चित्त में एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है।

गुण का आधार शब्दों की बनावट अथवा वह वर्ण है जो शब्द रचना में आते हैं। इन गुणों के आधार पर ही इनके अनुकूल वर्ण-विन्यास और पद-योजना रखी गई है। इसी वर्ण-विन्यास या शब्दों की बनावट को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। गुणों के आधार पर पद या वाक्यरचना की भी तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली मानी हैं। मम्मट ने इन्हें क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमलावृत्ति लिखा है। ये रीतियाँ गुणों पर आश्रित हैं। इनका नामकरण भिन्न-भिन्न देश-भागों के नाम पर है। इससे जान पड़ता है कि उन-उन देश भागों के कवियों ने एक-एक ढङ्ग का विशेष रूप से अनुकरण किया था, अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिए गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषावृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ावृत्ति और पाँचाली रीति आवश्यक मानी गई हैं।

भारतीय शैली की एक प्रमुख विशेषता उसमें अलङ्कारों का स्थान है। ये अलङ्कार शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते हैं। वे इतने नगण्य या ऊपरी नहीं हैं जितने कि समझे जाते हैं। उनका भी रस से सम्बन्ध है। अलङ्कारों का काम शैली द्वारा रस के उत्कर्ष या गुणवृद्धि में सहायता पहुँचाना है। उनकी भरमार नहीं होनी चाहिए। उनका प्रयोग केवल उस समय हो जब वह भावना को ऊँचा उठाते हों या अर्थ को उदाहरण आदि बढ़ाकर स्पष्ट करते हों। अलङ्कार इस कारण और भी प्रभावशाली होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति भी हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य मात्र की। नारी द्वारा भौतिक अलङ्कारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास रहता है। उसी उल्लास के अभाव में विधवा स्त्री अलङ्कार नहीं धारण करती। इसीलिए हृदय का ओज या उल्लास अलङ्कारों के मूल में माना जायगा। उपमा, रूपक आदि मानसिक चित्रों द्वारा स्पष्टता ही प्रदान नहीं करते वरन् अर्थान्तर न्यास, दृष्टान्त उदाहरण आदि द्वारा विचार की भी पुष्टि करते हैं। भ्रान्ति, सन्देह,

स्मरण, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों द्वारा सादृश्य को नाना रूपों में उपस्थित किया जाता है। समष्टि रूप से शब्दालङ्कार द्वारा शब्द माधुर्य की सृष्टि की जाती है। अर्थ के स्पष्ट करने में साम्यमूलक अर्थालङ्कार उपयुक्त होते हैं। इसमें अर्थालङ्कारों का स्थान विशेष है। गद्य में शब्दालङ्कारों का प्रयोग वांछनीय नहीं हैं। व्यर्थ के अलङ्कार शैली के ऊपर भार हो जाते हैं। सीधी-सादी प्रसादगुणमयी शैली जिसमें यत्र-तत्र एकाध अलङ्कार का पुट है और जो लेखक का अर्थ पुष्ट करती चलती है, अच्छे निबन्धकार की विशेषता है।

पद-विन्यास भी शैली का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। पदों से तात्पर्य वाक्यों के समूह से है। किसी विषय पर कोई ग्रन्थ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य-मुख्य विभाग कर दिये जाते हैं जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक-एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार प्रधान विषय को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है, जिसमें पदों की एक पूर्ण शृङ्खला सी बन जाय। पदों के इस योग में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा संक्रमण और वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। इन दोनों में सफलता प्राप्त करने के लिए संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए।

गद्य और पद्य का मुख्य भेद छन्द पर निर्भर है। भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है, छन्द उसी का बाहरी आकार है। छन्द में वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रित रहते हैं। छन्दों द्वारा जो सौन्दर्य का उत्पादन होता है उसके मूल में भी अनेकता में एकता का सिद्धान्त है। छन्द में शब्दों और वर्णों में विभेद रहते हुए भी उनमें स्वरों का साम्य रहता है। मुक्तक छन्द में जो नियमों से परे होते हैं, बँधे हुए आकार के बिना ही लय की साधना होती है। तुक का अब इतना मान नहीं जितना पहले था। तुक स्मरण रखने में सहायक होती थी। गद्य में अधिक तुकबन्दी दोष ही हो जाता है। गद्य में गति और लय होती है किन्तु पद्य की भाँति पूर्णतया व्यक्त नहीं होती है। छन्द दो प्रकार के होते हैं—मात्रा मूलक और वर्ण मूलक।

हमारे शास्त्रों में शैली के अन्तर्गत शब्द शक्ति की भी विस्तृत विवेचना है। शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। संस्कृत के आचार्यों ने व्यंगकाव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। लक्षणा और व्यंजना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनसे भाषा सप्राण हो जाती है। इनका सम्बन्ध अर्थ से है। अभिधा से साधारण अर्थ व्यक्त होता है। लक्षणा द्वारा अर्थ के विस्तार से भाषा में रबड़ की भाँति खिचकर बढ़ जाने की शक्ति आती है। शब्दों के अल्प व्यय से अर्थ बाहुल्य में सुलभता आती है। वाक-वैदग्ध्य आ जाता है। व्यंजना में शब्दों का आधार लक्षणा से भी कम हो जाता है और शब्द से संकेत पाकर अर्थ उमड़ पड़ता है। रचना में एक झंकार पैदा हो जाती है। वाक्य रचना में ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है कि पाठक लेखक से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। व्यंजना में यह बात अत्यन्त वांछनीय है कि अर्थ व्यंग्य रहते हुए भी शब्द कहीं दुरूह न हो जाय। आचार्यों ने इन प्रधान शक्तियों के भी कई भेद किए हैं। शैली में भाषा और भाव का सामंजस्य इन तीनों शक्तियों के द्वारा होता है।

संक्षेप में शैली की यही विशेषताएं एवं स्वरूप हैं। अब हम शैली की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करते हुए शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

शैली की परिभाषा के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं। उन्होंने एक ही बात को कई प्रकार से कहा है और जब हम उनके मतों की परस्पर तुलना करते हैं तो यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है कि शैली अभि-व्यक्ति का एक प्रकार है। बाबू गुलाबरायजी का कथन है कि—"काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हों तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्यांकन में बहुत कुछ प्रभावित करते हैं।" इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि शैली के द्वारा हम उस कृति के स्वरूप का पता लगा सकते हैं। यदि हम एक चित्र के निर्माण में सुन्दर सुरुचि पूर्ण रंगों का आवश्यकतानुसार संतुलित उपयोग करते हैं तो वह चित्र अवश्य ही सुन्दर बनेगा। उस चित्र की सुन्दरता से यह भी सिद्ध होगा कि उस चित्र के बनाने वाले चित्रकार की भावनाएँ भी सुन्दर होंगी। इस प्रकार हम उस चित्र के द्वारा उस कलाकार के व्यक्तित्व का परिचय अनायास ही प्राप्त कर लेंगे। साथ ही यह भी सम्भव है कि हम उस चित्र द्वारा उक्त कलाकार के व्यक्तित्व के एक ही पक्ष का परिचय प्राप्त कर सकें। परन्तु यह

प्राकृतिक नियम है कि सच्चा कलाकार अपने और अपनी कृति के प्रति सदैव ईमानदार रहता है अतः उसकी कृति हमें धोका नहीं दे सकती। इसी प्रकार हम किसी भी साहित्यिक की शैली को—अभिव्यक्ति के प्रकार को—देखकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं।

एक प्रकार से बाबू गुलाबरायजी की बात का ही समर्थन करते हुए डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि "भाव, विचार और कल्पना तो हममें प्राकृतिक रूप से वर्तमान रहते हैं और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हम में रहती है। अब यदि शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके हम उसका उपयोग कर सके तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान भंडार की वृद्धि करके उसका कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।" अपनी इस प्रच्छन्न ईश्वर प्रदत्त शक्ति को संस्कृत एवं उन्नत करने की भावना एवं शक्ति प्रत्येक प्राणी में नहीं होती। यदि उसके भाव एवं चरित्र उन्नत होंगे तो वह अपनी इस शक्ति को भी उन्नत कर सकेगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में हमें शैलियों के विभिन्न रूप मिलते हैं—कोई सुन्दर एवं सशक्त और कोई दुर्बल एवं नीरस। कारण इनके लेखकों में उपर्युक्त शक्ति का कम या अधिक होना ही है। शैली को देखकर ही हम लेखक के व्यक्तित्व का परिचय पा लेते हैं कि उसका व्यक्तित्व शक्तिशाली एवं प्रतिभापूर्ण है अथवा नहीं। शक्ति की इसी प्रधानता को मानते हुए डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—"भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही शैली है।"

शैली की उपर्युक्त शक्ति एवं विशेषता को लक्ष्य कर एक बार लार्ड चेस्टरटन ने अपनी 'पुत्र के नाम पत्र' नामक पुस्तक में लिखा था—'शैली विचारों का परिधान है।' अर्थात हम अपने विचारों को शैली के माध्यम द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे हमारे विचार होंगे वैसी ही हमारी शैली होगी और जैसा हमारा व्यक्तित्व होगा वैसे ही हमारे विचार होंगे। जिस प्रकार हम किसी भी व्यक्ति की वेशभूषा से उसकी रुचि का पता लगा लेते हैं उसी प्रकार शैली द्वारा हम लेखक के विचारों की गम्भीरता आदि का पता पा जाते हैं। शांत एवं सात्विक विचारों वाले व्यक्ति की वेषभूषा अत्यन्त सादा और सरल होगी इसके विपरीत विलासी एवं रंगीले व्यक्ति की वेशभूषा में तड़क-भड़क होगी। उसी प्रकार एक शांत, सात्विक एवं गम्भीर विचारों वाले लेखक की शैली में संयम एवं गम्भीरता के दर्शन होंगे तथा विलासी एवं दिखावटी लेखक की शैली में बनावटीपन एवं अश्लीलता का प्रदर्शन मिलेगा। उसमें विचारों की

गम्भीरता के अभाव की पूर्ति शब्दाडम्बर द्वारा पूरी की जायगी।

शैली, विचार एवं व्यक्तित्व के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को सर्व प्रथम प्रकट करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान 'वफन' महोदय ने लिखा था कि—"Style is the men himself" अर्थात् शैली मनुष्य का स्वरूप है। हमारे साहित्य में शैली के लिए प्राचीन शब्द 'रीति' मिलता है। 'रीति' स्थानीय विशेषता की द्योतक मानी जाती थी। प्रदेश विशेष के लेखकों में एक विशेषता पाई जाती थी इसी कारण रीतियों का नाम उसी प्रदेश विशेष के नाम पर पड़े जैसे वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी आदि। इस प्रकार शैली और रीति एक ही प्रतीत होती हैं। अस्तु, किसी मनुष्य की शैली को देखकर ही हम उसके स्वरूप से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। कवि या लेखक की कृति उसके व्यक्तित्व का व्यक्तीकरण कर देती है। जिन विद्वानों ने कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हुए उनकी शैलियों से परिचय प्राप्त किया है वे बिना कवि का नाम जाने ही तुरंत पहचान लेते हैं कि अमुक पंक्ति कबीर की, अमुक सूर की, अमुक तुलसी की तथा अमुक बिहारी की है। कवियों की इसी व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर ही विद्वान किसी भी कवि की रचना में प्रक्षिप्त अंश ढूँढ़ निकालते हैं।

रामचरितमानस तथा पृथ्वीराज रासो के क्षेपक एवं प्रक्षिप्त अंशों का पता उन्हीं विद्वानों ने लगाया है जो तुलसी एवं चन्द बरदायी की शैलियों से परिचित हैं। अंधा मनुष्य आवाज सुनकर ही आवाज देने वाले को पहचान लेता है। इसका कारण यह है कि अन्धा पहले आवाज देने वाले की ध्वनि एवं वार्तालाप शैली का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है। विषय और शैली का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि विषय गम्भीर होगा तो शैली भी गम्भीर होगी। ठीक उसी प्रकार जो लेखक जैसी रुचि, जैसी प्रकृति और जैसे व्यक्तित्व वाला होगा, उसकी रचना शैली भी ठीक वैसी ही होगी। इसलिए 'वफन' महोदय का उपर्युक्त कथन अक्षरशः ठीक है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि एक से व्यक्तित्व एवं प्रतिभा वाले दो लेखकों की कृतियाँ हमारे सामने आ जाती हैं तो हमें असली लेखक को पहचानने में भ्रम भी होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी घटना घट चुकी हैं। बिहारी अपनी सरसता, वाग्वैदग्ध्य तथा भाषा सौष्ठव के लिए विख्यात हैं। रसिक उनके दोहों को तुरंत पहचान लेते हैं परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर दोहे को देखकर अनेक विद्वान बहुत समय तक भ्रम वश उसे बिहारी का ही दोहा मानते रहे। दोहा निम्न प्रकार है—

"अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार

आचार्य शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस भ्रम का उद्घाटन करते हुए बताया कि यह दोहा रसलीन नामक कवि का है। इस भ्रम का कारण यह था कि इस दोहे में वे सभी गुण वर्तमान हैं जो बिहारी के दोहों में पाये जाते हैं। सम्भव है कि बिहारी और रसलीन के व्यक्तित्व में कुछ आंशिक समानता रही हो।

शैली और व्यक्तित्व की घनिष्ठता को प्रमाणित करने के लिए हम तुलसी और सूर की रचनाओं तथा उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण कर यह सिद्ध करेंगे कि उन दोनों का व्यक्तित्व भिन्न था जो उनकी रचनाओं से लक्षित होता है। तुलसी एक अत्यन्त उच्चकोटि के भक्त थे। वे तत्कालीन शासन व्यवस्था, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे। उनमें एक सर्वदर्शी, अद्भुत प्रतिभावना संत के सभी गुण वर्तमान थे। इन्हीं गुणों के कारण ही उनका काव्य इतना व्यापक और प्रभावशाली बन सका। विभिन्न शैलियों के सफल अनुकरण में उनकी विद्वता, विशाल अध्ययन एवं अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। विनय पत्रिका के रूप में राम के प्रति उनके हृदय की अनन्य भक्ति प्रकट होती है। परिस्थितयों के प्रति असंतोष से उनकी लोक कल्याण की भावना उनके सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र बिखरी दिखाई देती है। उनका रामराज्य का आदर्श आज भी मान्य है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी का विशाल व्यक्तित्व उनके काव्य में साकार हो उठा है। उनमें मस्तिष्क एवं हृदय का अद्भुत समन्वय है। इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें बुद्धदेव के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना है।

सूर का व्यक्तित्व तुलसी से भिन्न था। (यहाँ हमारा उद्देश्य सूर और तुलसी की तुलना करना नहीं है केवल व्यक्तित्व की विशेषताएँ बतलाना मात्र है) सूर एक पूर्ण निस्पृह कृष्ण भक्त थे। अँधे होने के कारण संसार से उनका प्रत्यक्ष नाता टूट सा चुका था। बहिर्जगत से हीन होकर वह अंतर्जगत में लीन हो गए थे। उनकी सबसे बड़ी प्रतिभा उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं भक्ति थी। अध्ययन भी उनका सीमित ही था परन्तु अन्धे होने के कारण उनकी आंतरिक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म ग्राही बन गई थी। सूर के व्यक्तित्व की इन्हीं विशेषताओं का प्रमाण उनका साहित्य है। उनके साहित्य में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की प्रधानता है। लोक को उन्होंने एक ओर उठाकर रख दिया

है। एक प्रकार से लोक की ओर से आँखें ही बंद कर ली हैं। उनके काव्य में जहाँ कहीं भी काव्यगत चमत्कार मिलता है वह सुनी सुनाई बातों का अनुकरण मात्र है। शैली भी केवल पदों की एक सी है। परन्तु इन सभी के ऊपर उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं भक्ति उनके काव्य को अत्यन्त ऊँचा उठा देती है। यद्यपि उनके काव्य का कलापक्ष तुलसी के समान उच्च नहीं है परन्तु भावपक्ष में वे तुलसी से आगे है। कारण उनका एक मात्र उद्देश्य अपने आराध्य बाल कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना मात्र था। शान्त स्वभाव के सन्तोषी भक्त होने के कारण यह कार्य उन्होंने अत्यन्त तन्मयतापूर्वक किया। अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग उन्होंने उसी वर्णन में किया। इसी कारण तुलसी की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए भी आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक को मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा कि शृङ्गार और वात्सल्य के सूर सम्राट हैं। यह उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था जिसका प्रकाशन उन्होंने अपने काव्य में किया है। उनके हृदय की सम्पूर्ण दीनता- सरसता, कोमलता उनके काव्य में साकार हो उठी है।

आधुनिक गद्य लेखकों में सबसे गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावपूर्ण शैली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मानी जाती है। अपनी शैली के समान शुक्ल जी का व्यक्तित्व भी अत्यन्त गम्भीर एवं प्रभाव शाली था। उनकी शैली से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि "वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हां' कहना पड़ेगा या 'न', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। तन कर वे कहते हैं "मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" उक्त कथन से शुक्ल जी का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि वे इतने गम्भीर थे कि उनके मुख पर हंसी कभी-कभी ही दिखाई पड़ती थी। पढ़ाते समय उनकी कक्षा में पूर्ण शान्ति रहती थी। इसके विपरीत लाला भगवान दीन की कक्षा बड़ी सरस होती थी क्योंकि उनका व्यक्तित्व ही सरस था। शुक्ल जी ने अपने इसी गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही हिन्दी साहित्य में जिस किसी लेखक को चमकाना चाहा चमका दिया तथा जिसे गिराना चाहे उसे धूल में मिला दिया। उनके गिराये हुए रीतिकालीन कवि अभी तक नहीं उठ पाए और उनके उठाए हुए जायसी हिंदी कवियों की प्रथम पंक्ति में जा बैठे। इसका कारण शुक्ल जी की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व ही था।

आधुनिक कवियों ने प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी अपने विभिन्न व्यक्तित्व एवं शैलियों को लेकर आए। प्रसाद की मुखमुद्रा देखने से प्रतीत होता था मानो कोई वैदिक ऋषि अपनी प्रशान्त गम्भीर मुद्रा में बैठा हो। उनका प्रशस्त ललाट, उनकी प्रतिभा एवं भावपूर्ण गम्भीर नेत्र उनके हृदय की विशालता एवं उदारता के परिचायक थे। व्यक्तिगत व्यवहार में वे अत्यन्त नम्र, शालीन एवं गम्भीर थे। उनका यह अद्भुत व्यक्तित्व उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो रहा है। प्रसाद जी के समान ही उनका काव्य भी विशाल, गम्भीर एवं भाव पूर्ण है। उसे पढ़ कर यह विश्वास करने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका प्रणेता एक अद्भुत प्रतिभा एवं शक्ति वाला व्यक्ति होगा। उनमें प्रशान्त गम्भीरता है जिसकी थाह पाना प्रत्येक के लिए सुगम नहीं। फलस्वरूप उनका काव्य भी जनसाधारण का न बनकर बुद्धि जीवियों का काव्य बना। प्रसाद के व्यक्तित्व के विपरीत व्यक्तित्व हम पंत का पाते हैं। मध्यम कद, गौरवर्ण, विशाल भावपूर्ण भोली आँखें, कोमल कान्त कलेवर, नारीत्व के परिचायक घने, काले, लम्बे केश तथा कोमल एवं परिष्कृत वेशभूषा को देखकर ही कोई यह अनुमान लगा सकता है कि यह व्यक्ति संघर्ष के योग्य नहीं। इसमें इतनी शक्ति ही नहीं कि यह संसार की विभीषिका से टक्कर ले सके। फलस्वरूप पंत जी हिंदी साहित्य में कोमल कान्त पदावली के स्रष्टा के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके काव्य में सर्वत्र वही कोमलता, करुणा, बालकों की सी भोली जिज्ञासा मिलती है जो उनके व्यक्तित्व में है। कठोरता की परिचायक उनकी केवल 'परिवर्तन' नामक कविता मिलती है। बाकी का सभी साहित्य उनकी कोमलता से ओत प्रोत है। आगे चलकर वह अपनी इसी कोमलता के कारण ही प्रगतिवाद का पूर्ण अनुगमन न कर सके और पुनः अपने कल्पना लोक की रंगीनियों में लौट आए।

पंत के बिल्कुल विपरीत निराला हैं। लम्बा कद, पहलवानों का सा विशाल शरीर, लम्बे-लम्बे कठोरता के परिचायक बाल, विशाल चमकते हुए नेत्र, एक तहमद के ऊपर ढीला ढाला कुरता देखकर उनसे भय सा लगता है—परन्तु केवल प्रथम दर्शन में ही। उनकी वेशभूषा एवं शरीर को देख कर अनायास ही कोई कह उठेगा कि यह व्यक्ति अत्यन्त अक्खड़, प्रति-भावना तथा विद्रोही है। साहित्य के क्षेत्र में निराला का भाषा एवं छन्द सम्बन्धी विद्रोह संसार प्रसिद्ध है। उन्होंने न तो जीवन के क्षेत्र में झुकना सीखा है और न साहित्यिक क्षेत्र में! सशक्त व्यक्तित्व के समान ही उनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं गम्भीर है। उनकी भाषा में अधिकांशतः गाम्भीर्य एवं

सशक्तता ही मिलती है। महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व करुणा कलित है। उनके काव्य में भी यही करुणा व्याप्त है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के द्वारा हमने देखा कि शैली और व्यक्तित्व एक दूसरे के सापेक्ष है। उपर्युक्त सभी व्यक्तियों की रचनाओं को देखकर हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि यह अमुक की रचना है क्योंकि शैली सदैव व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती हैं।

३९—समाज और साहित्य

साहित्य समाज की चेतना में साँस लेता है। वह समाज का वह परिधान है जो जनता के जीवन के सुख-दुख,हर्ष-विषाद, आकर्षण विकर्षण के ताने बाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानवजाति की आत्मा का स्पंदन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है इसीसे उसमें जीवन देने की शक्ति आती है। वह मानव को लेकर ही जीवित है इसलिए वह पूर्णतः मानव केन्द्रित है। साहित्य उसी मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है। और मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह सृष्टा होता है वहीं वह उनसे स्वयं प्रभावित होता है। इसी प्रभाव का मुखर रूप साहित्य है। इसीसे विद्वानों ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है।

साहित्य का अर्थ है-जो हित सहित हो। भाषा द्वारा ही साहित्य हितकारी रूप में प्रकट होता है। भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मानव-समाज में सहकारिता का भाव उत्पन्न होता है। साहित्य मानव के सामाजिक सम्बन्धों को और भी दृढ़ बनाता है क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मानव जाति का हित सम्मिलित रहता है। साहित्य साहित्यकार के भावों को समाज में प्रसारित करता है जिससे उसमें सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है।

समाज की उन्नति तभी सम्भव है जब हमारा हृदय विकसित और बुद्धि परिष्कृत हो। इन दोनों कार्यों के लिए साहित्य सबसे प्रभावशाली साधन है। वह हमारी अनुभूतियों का परिष्कार करता है। साहित्य सेवन से हमारा मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। साहित्य का आनन्द लेने के लिए हमें सतोगुणात्मक वृत्तियों में रमने का अभ्यास हो जाता है। साहित्य सेवन से मनुष्य की भावनायें कोमल बनती हैं। उसके भीतर मनुष्यता का विकास होता है, शिष्टता और सभ्यता आती है जिससे दूसरों के साथ व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त होती है। इससे समाज में शान्ति की स्थापना होकर विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः सामाजिक जीवन में साहित्य का महत्व निर्विवाद है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन छः बताए हैं—

"काव्यं यशसेऽर्थकरे व्यवहार विदे शिवेतरक्षत ये ।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ।।"

अर्थात् काव्य का प्रयोजन है यश, धन, व्यवहार, कुशलता, अमङ्गल से रक्षा, आनन्द और कान्ता के समान मधुर उपदेश । ये छः प्रयोजन जीवन के भी सर्वमान्य प्रयोजन हैं । जीवन में हमें यश की आकांक्षा रहती है, धन भी सभी चाहते हैं । जीवन के सुचारु संचालन के लिए व्यवहार कुशलता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है । अमंगल से बिना रक्षा हुए जीवन अभिशाप बन जाता है । मधुर उपदेश के प्रभाव के उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण साहित्य उपस्थित किया जा सकता है । जब अनेक नीति शास्त्र उपदेश और ताड़ना द्वारा हमें समझाने में असमर्थ रहते है तब भी मधुरता और कोमलता से यही वाणी हमें वश में करके हमसे जो चाहती है वह करा लेती है । और उपरोक्त प्रयोजनों की आवश्यकता हमें तभी पड़ती हैं जब हम समाज के एक अभिन्न अङ्ग होते हैं । वनवासी-समाज से विच्छिन्न-व्यक्ति के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती । फिर हम समाज और साहित्य को पृथक करके कैसे देख सकते हैं !

आज तक विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का सबसे बड़ा उद्देश्य और प्रयत्न मानव जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने का रहा है । विज्ञान ने सदैव से यह प्रयत्न किया है कि वह मानव को यथाशक्ति श्रम के भार से मुक्त कर उसे शारीरिक और भौतिक सुविधा दे सके । राजनीति समाज को आर्थिक एकता के सूत्र में बद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है और दर्शन आध्यात्मिक सिद्धान्तों की खोज और प्रसार द्वारा मानव को एकता का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता आया है और कर रहा है । परन्तु उनका यह काम बिना कवि की सहायता से पूर्ण नहीं हो सकता । समाज के लिए भौतिक सुविधा भी उतनी ही आवश्यक है जितने कि आध्यात्मिक सिद्धान्त परन्तु वह इन सबसे ऊपर उस सत्य और सौन्दर्य को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना चाहता है जो उसे जीवन की प्रत्येक सम विषम परिस्थिति में अनुप्राणित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है । साहित्यकार जब इन भौतिक सुविधाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को कलात्मक ढङ्ग से उपस्थित करता है तभी हमारे मन में उनके प्रति अनुराग और पावन भावना उत्पन्न होती है । ऐसा होने पर ही हमारे मन में ओज, बाहुओं में बल, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनंद उल्लास प्रवाहित होता

है। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है और हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से हम एक दूसरे से मिले हुए हैं। इसलिए सामाजिक उन्नयन में साहित्य का भाग सर्वोपरि और सर्व प्रमुख है।

हमारे सामाजिक जीवन की परिपूर्णता के लिए शान्ति एवं सहयोग की आवश्यकता सर्वोपरि है। आप आँख दिखाकर किसी को वश में नहीं कर सकते। केवल मधुर और कोमल वाणी ही हृदय पर प्रभाव डालती है और उसके द्वारा आप दूसरों से जो चाहे करा सकते हैं। तुलसी इस बात को जानते थे—

"तुलसी मीठे बचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, परिहरु बचन कठोर॥

अतः साहित्य का कान्ता सम्मित मधुर उपदेश बड़ा प्रभावकारी होता है। केशव के एक छन्द ने बीरबल को प्रसन्न कर राजा इन्द्रजीतसिंह पर किया हुआ जुर्माना माफ करवा दिया था। पृथ्वीराज के साहित्यिक पत्र न महाराणा प्रताप को पुनः अकबर से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध कर दिया था। बिहारी के एक दोहे ने राजा मिर्जा जयशाह का जीवन बदल दिया था। यह तो हुआ हमारे सामाजिक जीवन के बाह्य पक्ष पर साहित्य का प्रभाव।

हमारे जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए साहित्य हमारे हृदय में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है। इस प्रकार साहित्य हमारे बाह्य एवं आन्तरिक जीवन को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। जीवन की पूर्णता के लिए एवं उसको सुन्दर, मधुर, सरस और व्यापक बनाने के लिए साहित्य अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त हमारी विकलता एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ता के अवसर पर साहित्य हमारी सहायता कर उस निराशा को दूर करता है। इस प्रकार साहित्य हमारा माता के समान पालन करता है। पिता के समान हमारी रक्षा और वृद्धि करता है, गुरु के समान शिक्षा देता है, सुहृद के समान मार्ग दिखाता है और प्रिया के समान मधुर स्नेह की साकार मूर्त्ति बन कर सामने आता है। ऐसे साहित्य से हमारे जीवन का अटूट सम्बन्ध है।

हमारे यहाँ साहित्य की तीन विशेषताएं मानी गईं हैं—

१—हित साधन करना—"हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्।"

२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना—"सहितं रसेन युक्तम् तस्य भावः साहित्यम्।"

३—मानव-मनोवृत्तियों को उन्नत करना—"अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।" इससे प्रकट होता है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानव-

मात्र का हित-साधन करना है। ऐसा करके वह सामाजिक उन्नति में सब से बड़ा सहयोग प्रदान करता है।

समाज और साहित्य का उपरोक्त सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण कर अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हुए यह सिद्ध किया है कि मानव-समाज किस पथ का अनुसरण करने से पूर्ण सन्तोष और सुख का उपभोग करता है। तुलसीदास ने भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर राम-राज्य और राम-परिवार को हिंदू समाज के सम्मुख आदर्श रूप में उपस्थित किया है। "कवि वास्तव में समाज की व्यवस्था, वातावरण धर्म, कर्म, रीति-नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोक व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और उनका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें कि वह जन्म लेता है। वह अपनी समस्याओं का सुलझाव और अपने आदर्शों की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। जिस सामाजिक वातावरण में उसका जन्म होता है, उसी में उसका शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास भी होता है।" इस प्रकार साहित्यकार जिस समाज का अङ्ग होता है उस समाज का ही चित्रण करता है। यह दूसरी बात है कि वह इस चित्रण में समाज के सुधार की भावना से प्रेरित होकर एक आदर्श की स्थापना करता है या उसका यथातथ्य चित्रण कर, केवल एक संकेत देकर, दूर हट जाता है, जिससे समाज उस चित्रण पर मनन करने के लिए विवश होता है। ऐसे साहित्यकार युग युग तक समादृत होते रहते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जो समाज का यथातथ्य चित्रण कर कोई सुझाव या आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ होते हैं। समाज ऐसे साहित्यकारों की ओर एक बार दृष्टिपात कर उन्हें सदैव के लिए भुला देता है।

साहित्य में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पोषक जीवन या समाज में उसका कोई स्थान नहीं मानते। उनका कहना है कि साहित्य हमारी कल्पना का खिलवाड़ है। साहित्य चाहे रोमान्टिक हो या यथार्थवादी, प्रगतिशील हो या काल्पनिक, वास्तविक हो, कल्पना का पुट सब में कुछ न कुछ अवश्य रहता है और यह कल्पना केवल शून्यता का आधार लेकर हवाई महलों का निर्माण नहीं कर सकती। कल्पना का आधार भी वास्तविक जगत और समाज ही होता है। कवि अपने युग, अपने समाज, अपनी परिस्थिति की उपेक्षा कर

महाशून्य में विचरण नहीं कर सकता। कोई भी साहित्यकार 'वास्तव' की उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की जो समस्यायें हैं उन्हीं के आधार पर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इसलिए साहित्य को समाज से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों होता है। उसकी पुकार समाज की पुकार होती है। उसकी बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्त्ति समाज की नेत्री बन जाती है, इस प्रकार वह अपने समाज का उन्नायक और विधायक होता है। हम उसके द्वारा समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायु मंडल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति औरों से बढ़ी चढ़ी रहती है।" इसलिए यदि साहित्यकार केवल कला का ही चित्रण करना चाहेगा तो वह अपने समाज से अछूता कैसे रह सकता है। प्रकट या अप्रकट रूप में उस पर सामयिक विचारधाराओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। प्रत्येक युग का साहित्य इसका प्रमाण है। हमारे पौराणिक साहित्य में ब्राह्मण धर्म की जय घोषणा की गई है। बौद्धयुग और वैष्णव युग के साहित्य द्वारा भी साहित्यिकों ने अपने-अपने सम्प्रदाय एवं महत्व का प्रचार किया है। इसलिए युग समस्या की उपेक्षा कर यदि कोई कलाकार कला की सृष्टि करना चाहेगा तो वह कला मिथ्या एवं कृत्रिम होगी। उसकी सामाजिक उपादेयता नगण्य होगी और ऐसा होने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

समाज साहित्य का प्रतिबिम्ब है। लेकिन कुछ साहित्य प्रेमी इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते। वे इस बात का विरोध करते हैं कि साहित्य में सौंदर्य और वह भी निष्क्रिय सौंदर्य के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चित्रण होना चाहिए क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य केवल हमारे मनोरंजन का साधन है, न कि हमें उसमें उपयोगिता ढूंढनी चाहिए। ऐसे साहित्य प्रेमी रसिकों की भर्त्सना करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने उचित ही कहा है कि—"यदि रसिकगण दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिये। तब कहना चाहिये कि साहित्य वह दर्पण है जिसमें समाज के

उन विशेष लोगों की ही शक्ल दिखाई देती है जो दुपल्ली टोपी लगाए, पान खाए, सुरमा लगाए इस दुनियाँ से दूर नायिका-भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य-रसिकों के हृदय इतने "सहृदय" हो गए हैं कि जिस बात से चालीस करोड़ जनता के हृदय को ठेस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगने वाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है। ये लोग कहें तो ठीक ही होगा कि लेखकों को जनता से दूर ही रहना चाहिए।"

इस प्रकार साहित्य और समाज निरन्तर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। इसीसे सामाजिक उन्नति की आधारशिला दृढ बनती है। संसार में अभी तक हुए सम्पूर्ण परिवर्तनों या विप्लवों के मूल में कोई न कोई विचारधारा कार्यरत रहती आई है। इस विचारधारा का चित्रण साहित्य द्वारा होता है। वही हमारे ज्ञान को विस्तृत कर हमें वर्तमान से असन्तुष्ट बनाता है। उसके द्वारा जब हम दूसरों से अपनी अवस्था की तुलना कर अपने को हीन पाते हैं तब हमारे हृदय में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति के मूल में वाल्टेयर और रूसो के क्रान्तिकारी विचार कार्य कर रहे थे। रूस की राज्यक्रांति भी रूसी लेखकों के उग्र विचारों का ही प्रतिफल थी। भारतीय स्वाधीनता के संग्राम में स्वतन्त्र देशों के स्वतन्त्र विचारधारा से प्रभावित साहित्य ने बहुत बड़ा भाग अदा किया था। यह तो हुआ साहित्य का सत्प्रभाव। इसके विपरीत कुछ साहित्यकार ऐसे भी होते हैं और हुए हैं जो दूसरी जाति को पराधीन बनाने के लिए उनकी सभ्यता और संस्कृति का बड़ा विकृत चित्रण करते हैं। आयरिश स्वाधीनता संग्राम के पीछे उसके प्रतिपक्षी इंगलैंड के कतिपय साहित्यकारों का यही प्रयत्न कार्य कर रहा था। उन लोगों ने आयरिश जाति में ऐसे साहित्य का वितरण किया जो उस जाति के जातीय साहित्य एवं संस्कृति के आदर्शों को ध्वंस कर उनकी दृष्टि में आयरलैण्ड के अतीत को निन्दनीय सिद्ध कर शासक जाति के प्रति मर्यादा' का भाव उनके मन में जाग्रत कर सकें। पार्नेल के राजनीतिक जीवन के अवसान के बाद आयरिश देशभक्तों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। तब साहित्य-साधना के मार्ग से आयरिश जाति में नूतन जीवन का उद्बोधन करने की चेष्टा होने लगी। नित्शे आदि जर्मन दार्शनिकों के विचार जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किए थे, सत

महासमरों के लिए उत्तरदायी है। वीर गाथा कालीन चारणों के उत्तेजना पूर्ण छंद अपने आश्रयदाताओं को उत्तेजित कर सदैव मार काट के लिए प्रेरित करते रहते थे।

इसके विपरीत संसार में सदैव से ऐसे साहित्य की ही रचना अधिक होती आई है जो मानवजीवन में सुख और शान्ति की भावना भरता आया है। कबीर और तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। 'मानस' ने कितने हताश एवं भीरु हृदयों को सान्त्वना देकर कर्मक्षेत्र में अवतरित होने के लिये सन्नद्ध किया है। समर्थ रामदास और महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्साह प्रदायिनी रचनाओं ने महाराष्ट्र के उत्थान में कितनी सहायता दी थी। प्रेमचन्द के साहित्य ने हमारी सामाजिक और राजनीतिक चेतना को कितना प्रभावित किया था। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों ने हमारे हृदय में हमारे गौरवमय अतीत की भावना भर कर हमें अपनी वर्तमान दीनावस्था की ओर देखने के लिए बाध्य किया था। हमारे ऐतिहासिक साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकारों ने हमारे हृदय में विदेशियों द्वारा आरोपित इस भाव को, कि हमारे पूर्वज जंगली थे, जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इसी प्रकार साहित्य समाज को युग-युगान्तरों से प्रभावित करता आया है।

साहित्य का प्रभाव इतना अक्षुण्ण होता है कि उसके प्रभाव के सम्मुख शस्त्रों का आतङ्क फीका पड़ जाता है। साहित्यिक विजय शाश्वत होती है और शस्त्रों की विजय क्षणिक। अँग्रेज तलवार द्वारा भारत को दासता की शृङ्खला में इतनी दृढ़ता पूर्वक नहीं बाँध सके जितना कि अपने साहित्य के प्रचार और हमारे साहित्य का ध्वंस करके सफल हो सके। आज उसी अँग्रेजी का प्रभाव है कि हमारे सौन्दर्य सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार आदि सब यूरोप से प्रभावित हो रहे हैं। यूनान ने अपनी कला द्वारा सम्पूर्ण यूरोपिय जीवन को प्राचीनकाल से लेकर आज तक प्रभावित कर रखा है। यह समाज पर साहित्य के प्रभाव का प्रतीक है।

साहित्य हमारे अमूर्त और अस्पष्ट भावों को मूर्त रूप देकर, उनका परिष्कार कर हमें ही प्रभावित करता है। हमारे अपने विचार ही साहित्य का आवरण डाल कर समाज का नेतृत्व करते हैं। साहित्य हमारे विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ करके उसे कार्यरत बनाता है। साथ ही साहित्य गुप्त रूप से हमारे सामाजिक संगठन और जातीय जीवन की वृद्धि में निरन्तर योग देता रहता है। हम अपने विचारों को अमूल्य समझते हैं। उन पर हमें गर्व होता है और साहित्यकार हमारे उन्हीं विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए हम

उन्हें अपना जातीय सम्मान और गौरव के संरक्षक मानकर उन्हें यथेष्ठ सम्मान प्रदान करते हैं। शेक्सपीयर और मिल्टन पर अँग्रेजों को गर्व है। कालिदास, सूर और तुलसी पर हमें गर्व है क्योंकि उनका साहित्य हमें एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र में बाँधता है। किसी अपनी सम्मिलित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक सगठन का प्राण है। जैसा हमारा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ बन जाती हैं और उन्हीं के अनुकूल हम कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य केवल हमारे समाज का दर्पण मात्र न रह कर उसका नियामक और उन्नायक भी होता है।

किसी भी जाति, सम्प्रदाय या धर्म की जो मान्यताएँ और विचार होते हैं उन्हीं के अनुसार उसके साहित्य का निर्माण होता है। मुसलमान मूर्ति पूजा के विरोधी हैं अतः उनके साहित्य में नाटकों का एकान्त अभाव है। इसी प्रकार मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' की तुलसी कल्पना भी नहीं कर सकते थे और न मिल्टन उनके 'मानस' की। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति की अपनी रहन-सहन, रीति-रिवाज और आचार विचार होते हैं। साहित्य में उन्हीं का चित्रण होता है। अन्य साहित्य किसी भी दूसरे साहित्य को प्रभावित अवश्य करते हैं और कर सकते हैं परन्तु आंशिक रूप में।

साहित्य और समाज में घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में थोड़ा सा अन्तर रहता ही है। जीवन की एक अजस्र धारा है। साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्रित होने लगती हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित, अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनाओं की शृङ्खला का समष्टि रूप है। यह सत्य है कि तत्कालीन समाज साहित्य को प्रभावित करता रहता है परन्तु साहित्यकार का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही न होकर अतीत और भविष्य से भी होता है। महान कलाकार तो देश और काल की सीमा से ऊपर उठकर सार्वभौम समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके लिए सामयिक जीवन का उतना ही महत्व है जितना वह उनके विराट सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्य में कुछ ऐसा विशिष्टतापूर्ण वर्णन होता है जो यथार्थ जीवन से मेल नहीं खा पाता। इसका कारण यह है कि साहित्य में मानव का जीवन ही नहीं जीवन की वे कामनाएँ जो अनन्त जीवन में भी पूर्ण नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। साहित्य जीवन की इन्हीं अपूर्णताओं को पूर्ण करता है। तभी वह जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा भी है।

४०—हिंदी पत्र-पत्रिकाएं

पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से आज हिंदी भाषा समृद्ध मानी जाती है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने अपने सवा सौ वर्ष के जीवन में काफी प्रगति की है। आज तो पत्रों की इतनी भरमार है कि प्रत्येक शहर में प्रति मास दो चार पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ होता है और दो चार किसी अभाव के कारण बन्द हो जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि पत्र-पत्रिकाएँ हमारे सामाजिक जीवन को कितना प्रभावित करती है। हम देश विदेश की प्रत्येक हलचल का नवीनतम लेखा जोखा उन्हीं के द्वारा प्राप्त करते हैं। छोटे छोटे नगरों में तो पत्रों की पहुंच केवल शिक्षित वर्ग तक ही रहती है। अन्य वर्ग वाले पत्र खरीदना पैसे का अपव्यय मानते हैं परन्तु कलकत्ता, बम्बई जैसे विशाल नगरों में निम्नतम कोटि के व्यक्ति भी, जो अटक अटक कर पढ़ पाते हैं, अखबार लिए हुए दिखाई देते हैं। यह हमारी सामाजिक चेतना का प्रतीक है। अतः जिस प्रकार हम अपने साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका ऐतिहासिक विकास देखते हैं उसी प्रकार पत्रों का ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी ज्ञान भी हमारे साहित्यिक ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायक हो सकता है क्योंकि पत्र-पत्रिकाएँ हमारे साहित्य का एक अत्यन्त उपयोगी एवं समृद्ध अङ्ग है।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करने का सर्व प्रथम श्रेय बाबू राधाकृष्णदास को है। उन्होंने हिंदी के 'सामायिक पत्रों का इतिहास' नामक पुस्तक लिखकर इस दिशा में सर्वप्रथम पग बढ़ाया था। इसके उपराँत बाबू बालमुकुन्द गुप्त के विभिन्न लेखों का संग्रहीत रूप 'गुप्त निबन्धावली' के द्वारा इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। उसमें गुप्ताजी द्वारा प्रस्तुत लगभग १५ उर्दू अखबारों एवं २५ हिन्दी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपरोक्त दोनों सूत्रों के आधार पर हिन्दी संसार राजा शिवप्रसाद द्वारा प्रकाशित 'बनारस अखबार' (सन् १८४५) को हिन्दी का सर्वप्रथम अखबार मानने लगा था। परंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'उदन्त मार्तण्ड' को हिन्दी का सर्वप्रथम अखबार मानते हैं जिसका प्रकाशन १० मई, १८२६ को श्री जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में हुआ था। 'उदन्त मार्तण्ड' हिन्दी का सर्व प्रथम समाचार पत्र था इसका प्रमाण उसकी प्रारम्भिक विज्ञप्ति है—"यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल

हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ फारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा की उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाठ ठाटा.........।"

इस पत्र में खड़ी बोली का उल्लेख 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से किया गया है। लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक चलकर यह पत्र धनाभाव, ग्राहकाभाव और सरकारी सहायता न मिलने के कारण बन्द हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था।

हिन्दी के इस प्रथम समाचार पत्र से पूर्व अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में कुछ पत्रों का निकलना प्रारम्भ हो चुका था। सन् १८१० में कलकत्ते से 'हिन्दुस्तानी' नामक एक लिथो-पत्र निकला। १८१६ में बँगला का प्रथम पत्र 'बंगाल गजेट' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् १८१८ में श्री रामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचार-दर्पण' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८२१ में गुजराती भाषा के 'मुम्बई समाचार' के दर्शन हुए। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के अनुसार सन् १८३३ में उर्दू का पहला अखबार दिल्ली से प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आजाद के पिता द्वारा निकाला गया जिसके नाम का पता नहीं चलता। परन्तु डाक्टर रामरतन भटनागर के अनुसार सन् १८२२ में 'जामउल अखबार' का प्रकाशन हो चुका था। सबसे प्रसिद्ध और पहले प्रकाशित उर्दू अखबारों में लाहौर के 'कोहेनूर' का विशेष महत्व है। इसका प्रकाशन १८५० में हुआ था। इस पत्र ने थोड़े ही दिनों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी। इससे भी पूर्व दिल्ली के 'उर्दू अखबार' ने जो १८३३ में प्रकाशित हुआ था विशेष प्रसिद्धि पाई थी। १८२७ में मराठी के प्रथम पत्र 'दिग्दर्शन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार हिंदी समाचार पत्रों का इतिहास भारत की अन्य भाषाओं के समाचार पत्रों के साथ ही प्रारम्भ होता है।

हिंदी पत्रों के विकास का अध्ययन करने के लिए उसके इतिहास को निम्नलिखित पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है—

१—पूर्व भारतेन्दुयुग—(सन् १८२६ से १८६७ तक)

२—भारतेन्दु युग—(सन् १८६७ से १८८५ तक)

३—उत्तर भारतेन्दु युग—(सन् १८८५ से १९०३)

४—द्विवेदी युग—(सन् १६०३ से १६२० तक)

५—वर्तमान युग—(सन् १६२० से आज तक)

१—पूर्व भारतेन्दु युग (सन् १८२६-१८६७)—हिंदी के सर्व प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके उपरान्त सन् १८२६ में कलकत्ते से 'बंगदूत' निकला। इसके सम्पादक नीलरतन हवलदार थे। यह साप्ताहिक था जिसका प्रकाशन प्रति रविवार को होता था। इसके उपरान्त दूसरा उल्लेख योग्य पत्र बनारस से राजा शिवप्रसाद की प्रेरणा से सन् १८४५ में 'बनारस अखबार' नामक निकला। यह रद्दी से कागज पर लीथो द्वारा छापा जाता था। एक महाराष्ट्रीय सज्जन गोविंद रघुनाथ अत्ते इसके सम्पादक थे। इसकी भाषा में हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी रहती थी। सन् १८४६ में मौलवी नासुरुद्दीन के सम्पादकत्व में 'मार्तण्ड' नामक एक पत्र हिन्दी, उर्दू, बँगला, फारसी और अंग्रेजी में एक साथ निकाला गया। इसके तीन वर्ष बाद १८४६ में 'मालवा अखबार' नामक एक साप्ताहिक पत्र हिंदी-उर्दू में एक साथ प्रकाशित हुआ।

"जिस प्रकार गद्य लिखने की नीव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य से दो एक साल ही पीछे पड़ी, वैसे ही समाचारपत्र की नींव भी दो चार साल बाद ही पड़ गई थी।" (बालमुकुन्द गुप्त) गुप्तजी ने उपरोक्त बात लाहौर के 'कोहेनूर' और बनारस के 'सुधाकर' नामक पत्र का एक साथ ही प्रकाशन देख कर कही थी। 'सुधाकर' का सम्पादन तारामोहन मित्र नामक एक बंगाली सज्जन ने किया था। 'सुधाकर' यद्यपि बहुत दिन नहीं चल सका फिर भी अपनी एक अमर यादगार छोड़ गया—वह हैं काशी के प्रसिद्ध जोतिर्विद् महा-महोपाध्याय स्वर्गीय पंडित सुधाकर द्विवेदी। कहा जाता है कि जिस दिन सुधाकर द्विवेदी का जन्म हुआ था उसी दिन डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नम्बर लाकर जिस समय दिया था उसी समय घर के भीतर से सुधाकर जी के चाचा को भतीजा होने का शुभ समाचार सुनाया गया था। इसलिए उन्होंने पत्र के नाम पर भतीजे का नाम सुधाकर रखा था।

सुधाकर का प्रकाशन 'बनारस अखबार' की भाषा-नीति के विरोध में किया गया था। इसी वर्ष कलकत्ता से जुगल किशोर शुक्ल के सम्पादन में 'साम्यदण्ड मार्तण्ड', सन् १८५२ में सदासुखलाल के सम्पादन में 'बुद्धिप्रकाश' और सन् १८५३ में ग्वालियर से लक्ष्मण प्रसाद के सम्पादन में 'ग्वालियर गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके उपरांत १८५४ में कलकत्ते से हिंदी का सर्व प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन श्यामसुन्दर सेन के सम्पादन में

हुआ। १८५४ से १८६० तक हिंदी में किसी भी पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ नहीं किया गया। १८६१ में पुनः हिंदी के ६ समाचार पत्र निकले। इसी वर्ष आगरा से राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजा-हितैषी' निकाला। 'सुधाकर' और प्रजाहितैषी की भाषा विषयक नीति 'बनारस अखबार' की विरोधी थी। उस समय के अधिकाँश पत्र आगरा से प्रकाशित होते क्योंकि आगरा उन दिनों (और आज भी) शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। सन् १८६५ में गुलाबशंकर के सम्पादन में 'तत्व बोधिनी' का प्रकाशन हुआ।

साधारणतया उस युग में उर्दू पत्रों की भरमार थी। उर्दू पत्रों में कहीं कहीं हिंदी का भी कुछ अंश छाप दिया जाता था। सरकार की हिंदी-विरोधी नीति के कारण हिंदी पत्रों की बिक्री बहुत कम हो पाती थी। दूसरी बात यह थी कि उस समय तक हिंदी पत्रकार भाषा-शैली के सम्बंध में किसी निश्चित दिशा का अनुसरण नहीं कर सके थे। इनके पत्रों की भाषा अस्थिर और प्रकाशन अव्यवस्थित रहता था। समाचार भी ठीक ढङ्ग और नियमित रूप से नहीं छापे जाते थे। इसी कारण उस समय उर्दू पत्र जनता में अधिक लोकप्रिय थे। इसलिए इस युग को हम हिंदी पत्रों का प्रयोग काल कह सकते हैं। भारतेन्दु से पूर्व हिंदी पत्रों का जन्म हो चुका था पर वातावरण और सहायकों के अभाव के कारण वे पनप न सके।

२—भारतेन्दु युग—(सन् १८६७—१८८५)—इस युग में अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् १८६७ में भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसे हम हिन्दी का सबसे प्रथम महत्व-पूर्ण पत्र कह सकते हैं। इस पत्रिका से कुछ दिन पूर्व ही 'वृत्तांतविलास' (१८६७) और 'ज्ञानदीपक' (१८४६) का प्रकाशन चल रहा था परन्तु भाषा, कला और पत्रिकारिता की दृष्टि से इनका कोई विशेष मूल्य नहीं था। पहले पहल 'कविवचन-सुधा' में केवल कवियों की रचनाएँ ही प्रकाशित होती थीं, समाचार नहीं छापे जाते थे। परन्तु जब आगे चल कर इसका रूप साप्ताहिक हो गया तो इसमें विभिन्न निबन्धों और समाचारों को भी स्थान मिलने लगा। इसके अनुकरण पर 'हिन्दू-बान्धव' और 'ज्ञान प्रदायिनी' आदि प्रकाशित हुए परंतु असफल रहे। सन् १८७३ में 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' का प्रकाशन हुआ। 'कविवचन सुधा' से लेकर 'हरिचन्द्र मैगजीन' तक भारतेन्दु भाषा-शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग खोजते रहे। परन्तु आठ संख्याओं के बाद यह भी बन्द होगई। सन् १८७३ में ही भारतेन्दु ने 'बाल बोधिनी' निकाली। यह केवल सरकारी सहायता से ही कुछ दिन चल सकी फिर बन्द कर देनी पड़ी। सन् १·७४

में 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' एवं 'बालबोधिनी' का प्रकाशन कराया गया। इन पत्रों में सरकार के विरुद्ध सैकड़ों लेख, कविता एवं टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। 'कविवचन सुधा' के पंच पर रुष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा-विभाग के लिए खरीदने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारतेन्दु की इस निर्भीकता ने उस काल के अनेक पत्रों को प्रोत्साहित किया था।

सन् १८७४ में लाला श्री निवासदास ने दिल्ली से 'सदादर्श' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८७६ में 'काशी पत्रिका' निकली। सन् १८७७ का साल हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसी वर्ष बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप,' लाहौर से 'मित्र विलास' एवं पं० रुद्रदत्त शर्मा के सम्पादन में 'भारत मित्र' का प्रकाशन हुआ। 'हिन्दी प्रदीप' का नामकरण भारतेन्दु ने किया था। यह लगभग ३३ वर्ष तक चलता रहा। १८७८ में दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'उचित वक्ता' एवं सदानन्द मिश्र ने कलकत्ते से 'सार सुधानिधि' नामक पत्र निकाले। १८७९ में उदयपुर राज्य के संरक्षण में 'सज्जन कीर्त्ति सुधाकर', १८८० में खड्ग विलास प्रेस से रामदीन सिंह के सम्पादन में 'क्षत्रिय पत्रिका', १८८१ में प्रेमघन की आनन्द कादम्बिनी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। पुस्तकों की आलोचना सर्व प्रथम 'आनन्द कादम्बिनी' में ही निकली थी। १८८२ में अम्बिकादत्त व्यास की 'वैष्णव पत्रिका' के दर्शन हुए। १८८३ में प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' निकाला जो परिष्कृत भाषा एवं हास्य-व्यंग के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया। १८८५ में द्वितीय दैनिक पत्र 'हिंदुस्तान' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष कानपुर से 'भारतोदय' का भी जन्म हुआ। इस काल में असंख्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन एवं धुरंधर विद्वानों के सहयोग से इस कला की खूब उन्नति हुई फिर भी उसमें परिपक्वता आने में अभी देर थी।

३—उत्तर-भारतेन्दु-काल—(१८८५-१९०३)—१८८५ में शिवदत्त की 'काव्यामृत वर्षिणी,' कानपुर के भारतोदय (दैनिक), १८८९ में अजमेर के 'राजस्थान समाचार के दर्शन हुए। राजस्थान समाचार स्वामी दयानंद के सिद्धांतों का प्रचारक पत्र था। १८९० में बूंदी से रामप्रताप शर्मा के सम्पादन में 'सर्व हित' निकाला। यह पत्र भाषा, साहित्य, धर्म एवं समाज विषयक सुन्दर सामग्री से परिपूर्ण रहता था। इसी वर्ष बाबू कृष्णचन्द्र बैनर्जी ने 'हिंदी बंगवासी' (साप्ताहिक) निकाला जिसकी भाषा शैली बंगला से प्रभावित थी। कुछ समय तक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी इसका सम्पादन किया था। १८९२ में मिर्जापुर से प्रेमघन जी का 'नागरी नीरद', १८९६ में बम्बई से

'वेंकटेश्वर समाचार' एवं आगरे से ठाकुर हनुमन्तसिंह के 'राजपूत' का उदय हुआ। इनमें से 'राजपूत' बहुत दिनों तक चलता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्त्री समस्या और शिक्षा पर भी कुछ सुन्दर पत्र निकले जिनमें 'सुगृहिणी' एवं 'भारत भगिनी' क्रमशः १८८८ और १८८६ में प्रकाशित हुए। ये दोनों ही पत्रिकाएँ प्रयाग से निकली थीं।

भारतेन्दु युग और उत्तर भारतेन्दु युग में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग ३००,- ३५० के है। इनमें अधिकाँश मासिक और साप्ताहिक हैं। मासिक पत्रों में निबंध, उपन्यास, वार्ता आदि के रूप में सुन्दर साहित्यिक सामग्री का प्रकाशन हुआ। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। उस समय दैनिक पत्रों की अधिक माँग नहीं थी। इन सम्पूर्ण पत्रों ने उस काल में जनता में जागृति फैलाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। इस सम्पूर्ण काल का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। सब उनसे प्रभावित थे। इस काल में १८६५ में काशी से प्रकाशित होने वाली 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का साहित्यिक क्षेत्र में विशेष स्थान है। इसमें गम्भीर साहित्य-समीक्षा का प्रारम्भ हुआ। इसीलिये डा० रामरतन भटनागर इसे एक 'निश्चित प्रकाश-स्तम्भ' मानते हैं। इस काल में हमारी पत्रकार कला का अनेक दिशाओं में विकास हुआ। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा प्रचार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारधाराओं का विकास किया। धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज और सनातन धर्म के प्रचारक विशेष प्रयत्नशील थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत का प्रचार करने वाले भी कुछ पत्र इस काल में निकले। मिर्जापुर से ईसाई पादरियों ने ईसाई मत का प्रचार करने वाले कुछ पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन सभी पत्रों का, आज के युग में, जबकि हमारी पत्रकार कला उन्नति के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न कर रही है, विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता। परन्तु इन्हीं पत्रों ने हिंदी की गद्य शैली को पुष्ट करने एवं जनता में जीवन को नवीन ज्योति भरने का सराहनीय कार्य किया था। इस दृष्टि से इनका महत्व अक्षुण्ण रहेगा।

इनमें से आज वही पत्र हमारे साहित्यिक इतिहास के क्रमिक विकास में विशेष महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। साहित्यिक दृष्टि से इस काल के पत्रों में हिंदी प्रदीप, ब्राह्मण, क्षत्रिय पत्रिका, आनन्द-कादम्बिनी, भारतेन्दु, देवनागरी प्रचारक, नागरी नीरद, साहित्य-सुधानिधि आदि का विशेष महत्व है। राजनीतिक दृष्टि

से भारत मित्र, सार-सुधानिधि, हिंदुस्तान, भारत जीवन, भारतोदय और हिंदी बंगवासी उल्लेखनीय हैं। "इन पत्रों में हमारे १९ वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है।""बालकृष्णभट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानंद मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी नहीं दिखाई देते। आज भी हमारे पत्रकार इनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।"

(डा० रामरतन भटनागर)

४—द्विवेदी युग—(१९०३-१९२०)—सन् १९०३ में 'सरस्वती' मासिक का प्रकाशन रत्नाकर जी तथा श्यामसुन्दरदास के सम्पादन में प्रारम्भ हुआ। प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद इसका सम्पादन-भार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सुदृढ़ हाथों में आ गया जिसने हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में युगाँतर उपस्थित किया। इस समय तक हिंदी लेखकों और पाठकों दोनों का ही एक प्रकार से अभाव सा था। फल स्वरूप 'सरस्वती' में लगभग एक वर्ष तक द्विवेदी जी को ही सम्पूर्ण लेख लिखने पड़े। हिंदी की इस निर्धनता की ओर उन्होंने हिंदी-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया और नवीन लेखकों को उत्साहित एवं प्रेरित कर अनेक आलोचक, नाटककार, कवि, उपन्यास लेखक, कहानीकार एवं निबन्धलेखक उत्पन्न किए। मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, निराला, प्रसाद रायकृष्णदास, गणेशशङ्कर विद्यार्थी आदि साहित्यिक एवं पत्रकार द्विवेदी जी की प्रेरणा से उत्साहित होकर आगे आये। इस काल में आकर हिंदी-पत्रकारिता के स्वरूप एवं स्तर में बहुत परिवर्तन हो गया। उन्नीसवीं सदी की पत्रकारिता की विविधता और बहुरूपता का इसमें विकास हुआ। उन्नीसवीं सदी के पत्रकारों को एक अव्यवस्थित भाषा-शैली का सहारा लेकर ही आगे बढ़ना पड़ा था। जनता में उस समय हिंदी के प्रति अभिरुचि न्यून थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और बीसवीं सदी तक आते आते हिंदी पत्र साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व करने लगे। इस सदी में धार्मिक और सामाजिक-सुधार के आन्दोलन पीछे पड़ गए। राजनीतिक और साहित्यिक चेतना ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। भारतीय जीवन में उस समय तक राष्ट्रीय चेतना भली प्रकार विकसित हो चुकी थी। अतः हिन्दी पत्र उस चेतना के अग्रदूत बन कर आगे बढ़े।

सन् १६०७ में 'अभ्युदय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो पहले अर्द्ध-साप्ताहिक और फिर प्रथम महायुद्ध के दौरान में दैनिक रूप में प्रकाशित होने लगा। १६०८ में प्रयाग के राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले कर्मयोगी, एवं प्रसादजी के प्रयत्न से पंडित रूपनारायण पांडेय के सम्पादन में 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १६१३ में कानपुर से अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' निकाला। इसी के आदर्श से प्रेरित होकर 'कर्मवीर', 'स्वराज्य', 'सैनिक संदेश' और 'नवशक्ति' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १६१४ में कलकत्ते के कुछ मारवाड़ी सज्जनों के प्रयत्न से 'कलकत्ता समाचार' निकला। १६१७ में मूलचंद अग्रवाल ने दैनिक 'विश्वमित्र' को जन्म दिया। इसके पूर्व १६१५ में प्रयाग की विज्ञान परिषद ने 'विज्ञान' एवं साहित्य सम्मेलन ने १६११ में 'सम्मेलन पत्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था।

इसी काल में शृङ्खलित उपन्यास-कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे—'उपन्यास' (१६०१), हिन्दी नाविल (१६०१), उपन्यास लहरी (१६०२), उपन्यास सागर (१६०३), उपन्यास बहार (१६०७) एवं उपन्यास प्रचार (१६१२)। समालोचना क्षेत्र में 'समालोचक' (१६०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१६०५) प्रकाशित हुए। इन पत्रों का दृष्टिकोण एकांगी था। 'सरस्वती' विविध विषयों एवं स्तम्भों के साथ आगे बढ़ी थी इस कारण उसे सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इससे उत्साहित होकर 'सरस्वती' को आदर्श मानकर कुछ और मासिक पत्र निकले जिनमें 'भारतेन्दु' (१६०५), 'नागरी हितैषिणी पत्रिका' (१६०५), नागरी प्रचारक' (१६०६) और 'इन्दु' (१६०६) प्रमुख हैं। साहित्यिक चेतना की दृष्टि से इस युग का नेतृत्व 'सरस्वती' और 'इन्दु' के हाथों में था। "एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं।" इन दोनों ने हिंदी पत्रकारिता को एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया।

इस काल में हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ साहित्यिक क्षेत्र में तो नेतृत्व ग्रहण किए रहीं परंतु राजनीतिक क्षेत्र का नेतृत्व हिन्दी की पत्रिकाओं के हाथों में न रहकर बंगला और मराठी पत्रों के हाथ में था क्योंकि ये दोनों प्रांत ही उस समय राजनीतिक चेतना के केन्द्र थे। उन्नीसवीं सदी में कलकत्ता के भारतमित्र, बंगवासी आदि ही हमारी राजनीतिक चेतना के उचित वक्ता थे। इनमें 'भारतमित्र' का स्थान सर्वोपरि है। जैसे चुभते हुए राजनीतिक व्यंग इस पत्र में निकले वैसे व्यंगों के दर्शन आज भी नहीं होते। ये सम्पूर्ण पत्र कलकत्ते से

निकले थे। परंतु हिंदी क्षेत्र में भी अभ्युदय, प्रताप, कर्मयोगी, हिंदी केसरी आदि पत्रों ने राजनीतिक क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाया था। प्रथम महायुद्ध के दौरान में कई दैनिक हिंदी पत्रों का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। जैसे—कलकत्ता समाचार, स्वतन्त्र, विश्वमित्र, वेंकटेश्वर समाचार, विजय आदि।

५—वर्तमान युग—(सन् १९२० से आज तक)—१९२० के लगभग महात्मा गांधी द्वारा राजनीतिक नेतृत्व ग्रहण करते ही भारत में नव-जीवन की लहर दौड़ गई। फलस्वरूप १९२१ से हिंदी पत्रकारिता ने भी करवट दली। राष्ट्रीय चेतना और साहित्यिक नवीन चेतना का प्रकाशन इनका प्रधान उद्देश बना। इस काल में राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन को लाने में हमारे पत्रकारों ने भी अपना महत्त्व-पूर्ण भाग अदा किया। इसी समय विश्वविद्यालयों में हिंदी को सम्मान पूर्ण स्थान मिला। काँग्रेस ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में हिंदी को भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया। इस भावना से प्रेरित होकर इस युग में कुछ ऐसे कृती सम्पादक सामने आए जिन्हें अँग्रेजी, बँगला, मराठी आदि की पत्रकारिता का अच्छा ज्ञान था। फलस्वरूप हिंदी पत्रकारिता का स्तर उन्नत होने लगा। राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति के साथ-साथ हिंदी पत्रों के सम्मान एवं महत्व में भी वृद्धि होने लगी। राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीणों एवं श्रमिकों तक पहुँचाने में इन्होंने बहुत बड़ी सहायता पहुंचाई। इससे रुष्ट होकर अँग्रेजी सरकार ने नए-नए कानून बनाकर हिंदी पत्रों की स्वतन्त्रता पर समय-असमय भयंकर आघात किए परंतु हमारे इस युग के अधिकांश पत्रकार कर्मठ राष्ट्रसेवी एवं निर्भीक व्यक्ति थे। उन्होंने सरकारी अत्याचारों का दृढ़ता पूर्वक सामना किया और इसके लिए ये लोग किसी भी प्रकार का त्याग करने में किसी से भी पीछे नहीं रहे।

सन् १९२१ में नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से माधुरी का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसका सम्पादन भार समय-समय पर पं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्रेमचन्द, मातादीन शुक्ल जैसे प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों ने उठाया। कुछ समय तक माधुरी का स्थान हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में अत्यन्त सम्मानपूर्ण और प्रमुख रहा। माधुरी की लोकप्रियता से प्रभावित होकर 'महारथी', 'श्री शारदा', 'मनोरमा' आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ परंतु ये कुछ दिन चलकर ही बन्द हो गईं। १९२३ में 'चाँद' निकला। इस पत्र ने अपने राष्ट्रीय विचारों के कारण अत्यन्त प्रसिद्धि पाई और साथ ही भयंकर अत्याचार भी सहे। इसके 'मारवाड़ी अङ्क' ने मारवाड़ी समाज की कुरीतियों का नग्न प्रदर्शन किया और 'फाँसी अङ्क' ने सरकार को रुष्ट कर दिया। ये दोनों अङ्क तुरंत जब्त कर लिए

गए। बाद में महादेवी वर्मा के सम्पादन में यह भारतीय महिलाओं का एक-मात्र मुखपत्र बन गया। इसके बाद समालोचक (१९२४), चित्रपट (१९२५) का उदय हुआ। १९२६ में 'कल्याण' को जन्म दिया गया जो आज तक हिंदी का सर्वप्रमुख एवं एकमात्र धार्मिक पत्र रहा है। १९२७ में लखनऊ से दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' निकाली। इसके बाद क्रमशः विशाल-भारत (१९२८), त्यागभूमि (१९२८), हंस (१९३०), विश्वमित्र (१९३३), रूपाभ (१९३८), साहित्य संदेश (१९३८), कमला (१९३९) जीवन साहित्य (१९४०), विश्वभारती (१९४२), संगम (१९४२), नया साहित्य (१९४५), पारिजात (१९४५), हिमालय (१९४६), साधना (१९४८), आलोचना (१९५१) आदि मासिक (आलोचना-त्रैमासिक) पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। ये सभी पत्रिकाएं प्रमुख रूप से साहित्यिक साधना को ही अपना लक्ष्य बना कर चली थीं। साथ ही इनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विभिन्न समसामयिक समस्याओं पर भी लेखादि प्रकाशित होते रहते थे। हिंदी के अनेक उच्चकोटि के उपन्यास, कहानियाँ, कविताएं आदि पहले-पहल इन्हीं पत्रों में प्रकाशित होकर फिर पुस्तक के रूप में जनता के सामने आईं।

हिंदी साहित्य के इतिहास का लिखना तो उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं के सहयोग के अभाव में नितान्त असम्भव है। सामयिक साहित्यिक गति-विधियों एवं विचारधाराओं का जैसा सुसंगत एवं क्रमिक विकास इनके द्वारा मिलता है वैसा पुस्तकों द्वारा असम्भव है। आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास सरस्वती इन्दु, माधुरी, त्यागभूमि, विशाल भारत, सुधा, हंस और रूपाभ आदि पत्रिकाओं के अभाव में लिखना असम्भव ही है। इसलिए साहित्यिक निर्माण में इनका महत्त्व सर्वाधिक है। इनमें हमें साहित्य का 'सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप' प्राप्त होता है।

इस युग की राजनीतिक पत्र-पत्रिकाओं में कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), स्वदेश (१९२१), हिन्दू पंच (१९२६), जागरण (१९२९), हिन्दी मिलाप (१९२९), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२), विश्ववन्धु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४) हिन्दू (१९३६), देशदूत (१९३८) राष्ट्रीयता (१९३८), लोकवाणी (१९४२), हुँकार (१९४२), संसार (१९४३), सन्मार्ग (१९४३) और विप्लव आदि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें से अधिकाँश साप्ताहिक

और शेष मासिक हैं। इनमें उच्चकोटि की सम्पादन कला के दर्शन होते हैं।

दैनिक पत्रों में 'आज' ने हिंदी दैनिकों का उसी प्रकार पथ प्रदर्शन किया है जिस प्रकार 'सरस्वती' ने मासिक पत्रों का किया था। 'आज' और उसके सम्पादक बाबूराव विष्णुराव पड़ारकर का पत्राकारिता के क्षेत्र में वही महत्व है जो साहित्यिक क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी और सरस्वती का है। 'आज' ने हिन्दी को अनेक नए प्रतिभाशाली पत्रकार दिए है। 'आज' से प्रेरित होकर निकलने वाले हिन्दी दैनिकों में सैनिक (१६२८), शक्ति (१६३०), प्रताप (१६३१), नवयुग (१६३२), नवराष्ट्र (१६३३), भारत (१६३३), लोकमान्य (१६३०), विश्वमित्र (कलकत्ता १६१७, बम्बई १६४१ एवं दिल्ली १६४१), नवभारत (१६३४), राष्ट्रवाणी (१६४२), संसार (१६४३), नया हिंदुस्तान (१६४४), जयहिन्द (१६४६) और सन्मार्ग (१६४६) महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पत्र और भी महत्वपूर्ण है जो किसी से प्रभावित न होकर स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। इनमें हिन्दुस्तान, अमृतपत्रिका, नवभारत टाइम्स, जनसत्ता विशेष प्रसिद्ध है। इनमें से जनसत्ता कुछ ही दिनों चलकर बन्द हो गया। दैनिक पत्रकार-कला का विकास द्वितीय महायुद्ध के दौरान में विशेष रूप से हुआ था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक नगर में दो चार स्थानीय दैनिक पत्र भी निकल रहे हैं जो स्थानीय जनता की मानसिक भूख को शान्त करने का आंशिक प्रयत्न करते रहते हैं।

साप्ताहिक पत्रों में आजकल धर्मयुग, हिन्दुस्तान एवं अनेक दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करण विशेष महत्वपूर्ण हैं। नवीन मासिक पत्रिकाओं में अवन्तिका, आजकल, अजन्ता, कल्पना, नयापथ, नया समाज, सरिता, रानी, पाटल, प्रतीक, ज्ञानोदय, प्रभाकर, नयी धारा आदि हैं। ये पत्रिकाएं अभी निकल रहीं हैं।

इस युग की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को हम निम्नलिखित विषयों के अन्तर्गत बाँट सकते हैं—

१—धार्मिक एवं दार्शनिक—दयानन्द सन्देश, वैदिक धर्म (सतारा), आर्य-जगत, आर्यावर्त, प्रेम सन्देश, सन्मार्ग, सिद्धान्त (काशी), जिनवाणी, जैन जगत, जैनमित्र, धर्मदूत (सारनाथ), भानूदय (मिशन प्रेस, जबलपुर), अदिति (पांडेचेरी), कल्पवृक्ष (उज्जैन), गीता धर्म (बनारस), कल्याण, भारतीय संस्कृति, कबीर सन्देश (बाराबंकी), दादू सेवक (जयपुर)।

२—ऐतिहासिक एवं शोधपत्र—इतिहास (दिल्ली), नागरी प्रचारिणी

पत्रिका (काशी), शोध पत्रिका (उदयपुर), हिन्दुस्तानी (प्रयाग), भारतीय विद्या (बम्बई) ।

३—साहित्यिक एवं शैक्षणिक—जनवाणी (काशी), नया समाज (कलकत्ता), विश्ववाणी (प्रयाग), हंस (काशी), आलोचना (दिल्ली), साहित्य सन्देश (आगरा), आँधी (काशी), कल्पना (मेरठ), माया (प्रयाग), रानी (कलकत्ता), सरिता (नई दिल्ली), सुकवि (कानपुर), दृष्टिकोण (पटना) ।

४—राजनीतिक—अमरज्योति (कानपुर), जीवन-साहित्य (नईदिल्ली) युगधारा (काशी), मजदूर आवाज (दिल्ली), निर्भीक (कोटा), संघर्ष (लखनऊ), विप्लव (लखनऊ), अरुणोदय (इटावा) पाँचजन्य (लखनऊ), चेतना (काशी), किसान (कानपुर) ।

५—हास्यरस प्रधान—चाबुक (कलकत्ता), नोकझोंक (आगरा) तरंग (काशी) ।

६-शिक्षा—शिक्षा (लखनऊ), नई तालीम (वर्धा), शिक्षक बन्धु (अलीगढ) ।

७—स्वास्थ्य—आरोग्य (गोरखपुर), स्वास्थ्य सुधा (नई दिल्ली), जीवन सखा (प्रयाग) ।

८—वैज्ञानिक—विज्ञान (प्रयाग) ।

९ अर्थशास्त्र—अर्थ सन्देश (वर्धा), उद्यम (नागपुर), व्यापार (कलकत्ता) ।

१०-बालकोपयोगी—खिलौना (प्रयाग), चमचम (प्रयाग), शिशु (प्रयाग), बालभारती (दिल्ली) ।

११-स्त्रीयोपयोगी—कन्या (बनारस), जननी (प्रयाग), जाग्रत महिला (उदयपुर), दीदी (प्रयाग) ।

१२ कला, सङ्गीत व सिनेमा—कलानिधि (काशी), नृत्यशाला (हाथरस), लेखक (प्रयाग), सङ्गीत (हाथरस), सारंग (नई दिल्ली), अभिनय (कलकत्ता), कौमुदी (दिल्ली), रजतपट (बम्बई), सिनेमा (कानपुर), चित्रपट (दिल्ली), रंगभूमि (दिल्ली), हिंदी स्क्रीन (बम्बई) ।

१३-कानून—न्याय बोध (नागपुर) ।

उपर्युक्त विवेचन एवं विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पत्रकार कला साहित्य के अन्य अङ्गों के समान ही बहुमुखी और समृद्ध है। उसमें मुख्यतः हमारे मध्यवर्गीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक चेतना का क्रमिक इतिहास है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है। कई प्रान्तों में वही एकमात्र राज्य-भाषा है। इससे हिंदी पत्रकारिता को विशेष प्रोत्साहन मिला है जो उसे निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है।

४१—राधा का विकास

भारतीय साहित्य विशेषकर हिंदी, बंगाली, गुजराती एवं मैथिली में राधा का क्रमशः विकसित रूप मिलता है। उसका धार्मिक अथवा सम्प्रदाय विशेष के सिद्धान्तों में स्थान गोस्वामी विट्ठलनाथ से पहले कहीं भी नहीं मिलता। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों महाभारत, विष्णुपुराण और हरिवंश पुराण तथा और किसी भी प्राचीन ग्रंथ में राधा का उल्लेख नहीं है। भागवत में राधा का नाम भी नहीं मिलता। विद्वानों ने इस देवी का पता लगाने के लिए तरह-तरह के अनुमान किए हैं। एक आलोचक का मत है कि राधा मध्य एशिया से चल कर आए हुए घुमक्कड़ आभीरों की प्रेम देवी हैं, दूसरे कहते हैं कि वे आभीर नामक एक द्रविड़ जाति की उपास्य देवी हैं, जिसका अस्तित्व वेदों से भी पुराना है और कुछ कहते हैं कि वे किसी अज्ञात भाग्यशाली कवि की मधुर कल्पना है, जो कवि को लोप कर स्वयं अमर हो गई हैं। परन्तु राधा का जो मधुर स्वरूप आज हमारे सामने है उसकी सर्व प्रथम झलक जयदेव की 'कोमल कान्त पदावली' में मिलती है।

धार्मिक दृष्टि से कृष्ण और राधा एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अतित्व नहीं। महाभारत कृष्ण के क्रिया कलापों का संग्रह सा है। उसमें कृष्ण के साथ राधा का कहीं भी उल्लेख नहीं। भागवत के दशम् स्कन्ध के तीसवें अध्याय में एक ऐसी गोपी की चर्चा अवश्य मिलती है जो कृष्ण को सब से अधिक प्रिय है। किंतु 'राधा' नाम का उल्लेख वहाँ भी नहीं मिलता। सम्भव है राधा शब्द की व्युत्पत्ति आराधितः शब्द से हुई हो। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भास का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। परन्तु उसके नाटकों में राधा का कहीं नाम भी नहीं आया। इस प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में दसवीं सदी तक राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

जयदेव से पूर्व प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में से 'गाथासप्तशती' में जो ईसा की पहली सदी की रचना है, राधा का साँकेतिक उल्लेख मिलता है—

"मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं वलवीणं अराणाणं वि गोरअं हरसि॥"

अर्थात् हे कृष्ण तुम राधा के नेत्रों की धूलि को अपने मुँह की वायु से दूर कर (अर्थात् राधा का चुम्बन कर) दूसरी स्त्रियों का अभिमान दूर करते हो या उनकी गोराई को दूर करते हो अर्थात् वे दुख से काली पड़ जातीं हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राधा की स्थापना एक धार्मिक नारी के रूप में नहीं हो पाई थी बरन् वह एक सुन्दर परकीया नायिका मात्र थी। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय राधा लोक कथाओं की एक प्रसिद्ध नायिका थी। लोक कथाओं की नायिका होने के कारण ही उसे संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों में कोई स्थान नहीं मिला था।

गाथा सप्तशती के उपरांत पंचतंत्र में राधा का नाम आया है जिसका स्वरूप वही लोक कथाओं वाला ही है। संस्कृत के ग्रंथों में से राधा का वर्णन सर्वप्रथम ब्रह्म वैवर्त पुराण में आया है। परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह पुराण जयदेव का पूर्ववर्ती है या परवर्ती। विद्वानों का अनुमान है कि यह जयदेव के बाद लिखा गया था। इसका लेखक कोई बङ्गाली था क्योंकि इसमें बंगला के अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसमें सर्व प्रथम राधा का चरित्र भक्ति का आधार बनाया गया है। उसे कृष्ण के साथ प्रतिष्ठित कर उसे अलौकिक रूप दिया गया है। महाप्रभु चैतन्य ने इसी-पुराण के आधार पर भक्ति के माधुर्य-भाव को अपना कर रागानुगा भक्ति की स्थापना की थी। परन्तु राधा का यह विकास क्यों और कैसे हुआ यह प्रश्न फिर भी विचारणीय रह जाता है।

विद्वानों का अनुमान है कि यह शाक्त मत का प्रभाव था। तंत्रवाद के विकसित रूप वाममार्ग की शक्ति उपासना ने तत्कालीन अनेक सम्प्रदायों को प्रभावित किया था। वाममार्ग में नारी को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। नारी के बिना वाममार्गियों की साधना पूर्ण नहीं हो सकती। शाक्त साम्प्रदाय वाममार्ग की ही उत्पत्ति है। शाक्तमत में आगे चल कर स्त्री को शक्ति और पुरुष को शिव का रूप देकर उस पर धार्मिकता का रङ्ग चढ़ा दिया गया। इससे पूर्व यह सम्प्रदाय कामुकता और विलासिता का ही प्रचारक था। शाक्तों के शिव और शक्ति ने ही आगे चलकर कृष्ण और राधा का रूप धारण कर लिया।

मुंशीराम शर्मा (सूर-सौरभ के लेखक) का अनुमान है कि शिव और पार्वती के अनुकरण पर विष्णु और लक्ष्मी की स्थापना की गई। इसी लक्ष्मी को आगे चलकर निम्बार्क स्वामी ने वृषभानुजा राधा कहकर, जो एक सहस्र सखियों के साथ विहार करती हैं, कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित

किया। आप लिखते हैं कि—"तन्त्रवाद में स्त्री पूजा इसी शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। शाक्तमत का यह प्रभाव पूर्व तथा समस्त उत्तराखण्ड में फैल चुका था। सम्भवत इसी शक्ति के अनुकरण पर राधा का निर्माण हुआ हो।" अस्तु, जो कुछ भी हो परन्तु राधा के जिस स्वरूप के दर्शन आठ सौ वर्ष के वैष्णव-साहित्य में होते है उसकी झलक पुराणों की राधा में कहीं भी नहीं मिलती। 'ध्वन्यालोक' का केवल एक श्लोक, जयदेव का पूर्ववर्ती अवश्य मिलता है, जिसमें राधा के सुमधुर रूप के दर्शन होते हैं। जयदेव से पूर्व राधा के प्रेममय रूप का सर्व प्रथम दर्शन यहीं होता है। राधा के इसी प्रेममय रूप को चौदहवीं शताब्दी में निम्बार्क और विष्णु स्वामी ने कृष्ण की उपासना के साथ जोड़ दिया। निम्बार्क ने राधा को कृष्ण की मूल प्रकृति कहा है।

ग्यारहवीं शती में जयदेव ने प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' की रचना कर राधा कृष्ण की केलि क्रीड़ाओं का मधुर एवं सरस वर्णन किया। किंतु उन पर दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव नहीं था। उन्होंने, सम्भवतः लोक परम्परा के राधा कृष्ण की कथा को ही अपने काव्य का आधार बनाया था। यदि जयदेव किसी सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर राधा कृष्ण का वर्णन करते तो केवल यौवन की क्रीड़ाओं तक ही सीमित न रह कर शैशव को भी अपनाते। परन्तु जयदेव की राधा एक कामकला प्रवीणा विलासिनी नायिका मात्र है।

जयदेव के पश्चात् बंगाली कवि चण्डीदास की राधा के दर्शन होते हैं। क्षण भर में गल जाने वाली, बात बात में शंकित, नख से शिख तक प्रेम की मूर्त्ति यह राधा अपनी कोटि की प्रथम और अन्तिम सृष्टि है। चण्डीदास की राधा परकीया है। इसके उपरान्त 'विलास कलावती किशोरी' राधा के दर्शन विद्यापति में होते हैं। विद्यापति ने अपनी राधा का निर्माण जयदेव के अनुकरण पर ही किया है। यह राधा भी परकीया है। और इन सब के अन्त में सूर की राधा के दर्शन होते हैं। सूर के पश्चात् तो थोड़े से हेर फेर के साथ राधा का सूर द्वारा स्थापित रूप ही सर्व मान्य रहा है। सूर तक हमें राधा के धार्मिक स्वरूप के सिद्धांत रूप में कहीं भी दर्शन नहीं होते। सर्वत्र उसका रूप काव्यमय ही रहा है।

वल्लभ-सम्प्रदाय एक धार्मिक सम्प्रदाय है जिसकी स्थापना स्वामी वल्लभाचार्य ने अपने कुछ विशिष्ट धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर की थी। इस सम्प्रदाय की स्थापना के समय कृष्ण के साथ राधा के उस स्वरूप की स्थापना नहीं की गई थी जो हमें आज मिलती है। इसके लिए हमें पहले पुष्टिमार्ग को समझना पड़ेगा। पुष्टिमार्ग भगवान कृष्ण को पूर्णावतार मानता है। उसकी

अनुसार राधा माया है और गोप गोपियाँ आदि भक्त आत्माएँ हैं। यह संसार ब्रह्म ने अपनी लीला के लिए बनाया है। वह ब्रह्म संसार की चर और अचर वस्तुओं से क्रीड़ा कर रहा है। ब्रह्म के पूर्णावतार कृष्ण की लीला चिर वस्तु है। ब्रज में आज भी कृष्ण हैं, आज भी माखन चोरी हो रही है और आज भी रास लीला हो रही है। हम माया में पड़े जीवों को वह दिखाई नहीं पड़ती। पुष्टिमार्गीय भक्तों को वह आज भी दिखाई पड़ रही है। जिस मार्ग में साधक सारे विषयों का त्याग कर दे और सर्वभाव से अपना समर्पण आराध्य को कर दे वह पुष्टिमार्ग कहलाता है। इसमें दो बातें आवश्यक है। १—सारे विषयों का त्याग और २—सर्वभाव से आराध्य को आत्म समर्पण। इसी दृष्टिकोण से पुष्टि मार्गीय भक्त भगवान के अनुग्रह की काँक्षा करते हुए उनकी आराधना करते हैं।

हम ऊपर बता आए हैं कि पुष्टिमार्गीय भक्तों के दृष्टिकोण से कृष्ण आज भी है और उनकी लीलाएँ आज भी हो रहीं है। ब्रज के मन्दिरों में आज भी कृष्ण लीला होती है। प्रातः कृष्ण जगते हैं, फिर माखन खाते हैं, उसके बाद गाय चराने जाते हैं, वहाँ रास करते हैं, संध्या को लौटते हैं और फिर भोजन करके सोते हैं। इस प्रकार प्रातःकाल सोकर उठने से रात्रि में शयन तक की दिन चर्या में आठ दर्शन होते हैं १—मङ्गलाचरण, २—शृङ्गार, ३—ग्वाल, ४-राज भोग, ५—उत्थापन, ६—भोग, ७—संध्या आरती, ८—शयन। यह आठों दर्शन बाल कृष्ण के हैं। इसका कारण यह है कि वल्लभाचार्य, पुष्टिमार्ग के संस्थापक, बालकृष्ण के ही उपासक थे। दक्षिण से आए हुए वैष्णव आन्दोलन में उस समय तक राधा कोई स्थान प्राप्त न कर सकी थी। इसी कारण इस सारी दिन चर्या में राधा के कहीं दर्शन नहीं होते। परन्तु पुष्टि मार्ग ने अपने वार्षिक कृत्यों में उसे स्थान दिया है। वार्षिक कृत्यों में भगवान कृष्ण के जीवन की प्रमुख लीलाओं को स्थान मिला है। इनमें भगवान का जन्म, गोव॰ र्धन धारण करना, रासलीला आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार हमने देखा कि वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना में बालकृष्ण का ही रूप प्रमुख था और इस रूप के साथ राधा का सम्बन्ध नहीं मिलता।

प्रसिद्ध आलोचक डाक्टर श्री कृष्णलाल का अनुमान है कि महाप्रभु वल्लाभाचार्य के देहावसन के उपरान्त उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोसाईं बिठ्ठलनाथ जी ने कदाचित् जयदेव और विद्यापति के प्रभाव में आकर राधा को अपने साधनामार्ग में स्थान दिया था। अष्टछाप की रचना में रागानुगा भक्ति का जो स्वरूप हमें मिलता है उसमें भक्ति के सभी व्यापक-दास्य, वात्सल्य

सख्य, कान्ता तथा नारद-सूत्र में बताई हुई ग्यारह आसक्तियों—के रूप मिलते हैं। इस रागानुगा भक्ति में कान्ता भाव की स्थापना का कारण गोसाईं विट्ठलनाथ जी को बताया जा चुका है। श्री वल्लभाचार्यजी ने भगवान के स्थूल स्वरूप श्री नाथ जी की जिस मनजा, तनुजा तथा वित्तजा सेवा की व्यवस्था की थी वह बाल भाव की ही थी। सूरदास तथा परमानन्ददास की वार्ताओं से भी यही प्रमाणित होता है कि आचार्य जी ने उनके शरणागति के समय उन्हें पहले बालभाव की भक्ति का ही उपदेश दिया था और उनसे उसी प्रकार के पद गाने के लिए भी कहा था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य जी ने पहले माहात्म्य ज्ञानपूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तर जीवन काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने किशोर कृष्ण और राधा की युगल लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया था।

उस समय ब्रज में कृष्ण भक्ति के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे जिनमें मधुर भाव की उपासना का प्राधान्य था। उन सम्प्रदायों में माध्व सम्प्रदाय, हितहरिवंशजी का सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय आदि में इस मधुर भाव का प्राबल्य था। इस मधुर भावना के साथ ही कृष्ण के अकेले स्वरूप के स्थान पर युगल स्वरूप की स्थापना कीगई। उपर्युक्त सम्प्रदायों में कृष्ण के साथ राधा की भक्ति की भी बड़ी मान्यता थी। इस प्रकार हमने देखा कि वल्लभ सम्प्रदाय में राधा की उपासना का समावेश श्री गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने किया। इन्होंने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनी स्तोत्र' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। श्री वल्लभाचार्य जी के किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार राधा का वर्णन नहीं मिलता। हरिदास जी के गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा परकीया मानी गई है परन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय में स्वकीया।

यहाँ तक हमने देखा कि वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा की उपासना कब और क्यों आई। अब हमें यह देखना है कि यह उपासना किन रूपों में हुई। राधा कृष्ण के इस युगल रूप की स्थापना सर्वप्रथम सूरदास ने की। उन्होंने राधा-को लक्ष्मी का रूप स्वीकार किया है। वैष्णव भावना के अनुकूल उन्होंने कृष्ण को साक्षात् ब्रह्म और राधा को ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति के रूप में माना है। राधा के इस ह्लादिनी शक्ति के रूप को आचार्य वल्लभस्वामी ने नहीं स्वीकार किया परंतु विट्ठलनाथ जी ने स्वीकार किया है। परमपुरुष श्री कृष्ण मधुररस के सर्वश्रेष्ठ धाम वृन्दावन में अपनी ह्लादिनी शक्ति राधा तथा सन्धिनी और

संवित्त शक्ति रूपी गोपियों और गोपों के साथ नित्य विहार किया करते हैं। सूर की राधा और तुलसी की सीता दोनों एक हैं। सूर ने राधा को निम्न-लिखित रूप में अनुभव किया है—

"नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनी, जनु घन में दमकति है दामिनी।
शेष महेश लोकेश शुकादिक नारदादि मुनि की है स्वामिनी॥"

तथा—"अगतिन की गति, भक्तन की पति श्री राधा पद मङ्गल दानी।
अशरन-शरनी, भव-भय-हरनी, वेद पुराण बखानी॥"

सूरदास इसी सर्व शक्ति-शालिनी जगजननी से कृष्णभक्ति की याचना करते है—"कृष्णभक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी।"

जैसे गुण गुणी से प्रथक नहीं होता, शक्ति अपने आश्रय से अलग नहीं होती उसी प्रकार राधा कृष्ण से भिन्न नहीं है। दोनों शाश्वत रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध है—

"तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द भई।
जन्म-जन्म युग यह लीला प्यारी जानि लई॥"

राधा और कृष्ण अति मानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। वे जीवन के सामान्य धरातल पर बालोचित् क्रीड़ा, यौवन सुलभ हास-परिहास, एक के सुख में सुख और दुख में दुख का अनुभव करने वाले, परिस्थिति के अनुकूल क्रिया उद्योग-शील एवं प्रवृत्ति परायण हैं। सूर ने उस परम पुरुष और परम प्रकृति को कृष्ण और राधा के रूप में बदल कर, ऊपर से नीचे लाकर, हम सब के पास बैठा दिया है। बाल्यकाल से उनकी युगल जोड़ी बालक्रीड़ा करती है। पुनः वयस्क होकर प्रथम तो रसकेलि-विलासवती स्वकीया पत्नी के रूप में और पश्चात् विरहाश्रुओं के चुपचाप घूँट पीती हुई विरहिणी आर्य ललना के संयत रूप में प्रकट हुई हैं। अन्त में सूर ने राधा कृष्ण का मिलन भी करा दिया है। अन्त में जाकर राधा माधव भेंट होती है—

राधा माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति होइ जु गई॥
माधव राधा के रंग राचे राधा माधव रंग गई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई॥

राधा माधव में और माधव राधा में मिलकर एक हो गए। भक्त ने प्रभु

को अपने धरातल पर खींच लिया। हृदय की रागानुगा वृत्ति को पूर्ण आश्रय मिल गया। यहाँ प्रेम भी है और पूजा भी।

राधा के अन्य संप्रदायों एवं कवियों द्वारा अपनाए गए रूप में तथा वल्लभ-सम्प्रदाय में सूर द्वारा अपनाए गए रूप में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उनकी राधा परकीया है और सूर की राधा स्वकीया है। महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण में कृष्ण की स्त्रियों के नाम दिए है जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि नाम आते हैं, परंतु राधा का नाम कहीं भी नहीं आता तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि राधा क्या परकीया है? सूर ने ही सर्व प्रथम सूरसागर में राधा और कृष्ण का विवाह धूमधाम के साथ कराया है। सूरदास, पुष्टि मार्ग के जहाज कहे जाते हैं। इसका अर्थ है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा का स्वकीया रूप ही स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत चैतन्य सम्प्रदाय में राधा को परकीया माना गया है। बंगीय वैष्णव शाखा में परकीया प्रेम को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इसे प्रेम की चरम सीमा माना है। कुछ विद्वानों ने इस परकीया प्रेम का मूल ऋग्वेद तक में ढूँढ निकाला है। कुछ विद्वानों का मत है कि तंत्र मत आदर्श भ्रष्ट बौद्ध संघों से उत्पन्न हुआ। बौद्ध धर्म की पतितावस्था ने लोक में अबाध व्यभिचार फैला रखा था। आचार्यों ने इस दोष को धार्मिकता के बन्धनों में लपेटना चाहा और परिणामतः स्वकीया प्रेम की उत्पत्ति हुई।

बंगीय विद्वानों का यह तत्व उत्तर भारत में कभी ग्राह्य नहीं हुआ। कदाचित इसीलिए वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा को परकीया नहीं समझा गया। समाज में जिन बातों से विक्षोभ उत्पन्न होता है, उन बातों को कोई आचार्य दार्शनिक रूप देकर भले ही टालना चाहे, परंतु समाज उसे स्वीकार नहीं करता। इसी कारण इस सामाजिक विरोध का शमन करने के लिए वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने राधा को स्वकीया बनाकर वैष्णव भक्ति को लोक सम्मत रूप दिया। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्त्व दिया, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में वे बंगीय वैष्णव शाखा से भी प्रभावित जान पड़ते हैं। रास के पहले गोपियों तथा राधा का परकीया रूप सूर में भी मिलता है। रासलीला के प्रारम्भिक दृश्य का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—

"जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके, आरज पथ तजत न संक करी॥

\+ \+ \+

कुल मरजाद, वेद की आज्ञा नेकहु नाहिं डरी।
सुत, पतिनेह, भवन-जन-शंका, लज्जा नाहिं करी ॥"

इन गीतों में सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन-जन-शंका आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभिव्यजित कर रहा है। सूरसागर के रासलीला अध्याय में यहाँ परकीया भाव ही प्रकट हुआ है। पर कृष्ण द्वारा की हुई परकीया भाव रूपी गर्त्सना को गोपियों ने आँख मीच कर स्वीकार कर लिया। आगे चलकर इसी रास के बीच में सूर ने राधा कृष्ण का विवाह कराया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिए राधा व्रत रखती है। यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनती है। कुंज मंडप का कार्य करते हैं। मुरली निमंत्रण देकर गोपिकाओं को बुला लाती है। गोपियाँ वर-बधू का ग्रन्थि बन्धन करती हैं। भाँवरें पड़ती हैं और बड़े धूम-धाम के साथ विवाह की विधि सम्पन्न होती है। इस प्रकार विवाह के इस प्रसंग का समावेश कर सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट रूप से निराकरण किया है।